Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समकालीन भारतीय दर्शन

के. सच्चिदानन्द मूर्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समकालीन भारतीय दर्शन

सम्पादक :

डा० के. सच्चिदानन्द मूर्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समकालीन भारतीय दर्शन

सम्पादक :
के. सच्चिदानन्द मूर्ति
प्रोफेसर धर्म तथा दर्शन; अध्यक्ष दर्शन विभाग;
आन्ध्र विश्वविद्यालय, वाल्तेर

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रकाशकः
यश देव शल्य
मंत्री, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्,
फरीदकोट, पंजाब

प्रथम संस्करण १९६२
मूल्य १२ रुपये

मुद्रकः
गुर अमृत प्रिंटिंग प्रैस, फरीदकोट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्राक्कथन

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के अनुरोध से—विशेषतः उसके उत्साही कार्यदर्शी श्री यश देव शल्य के बहुत बार कहने से—मैंने इस किताब का सम्पादन करना स्वीकार किया। समकालीन भारतीय दर्शन पर अंग्रेज़ी में भी अच्छी पुस्तक नहीं है, हिन्दी जैसी प्रान्तीय भाषाओं की बात तो क्या कहना। बहुत वर्ष पीछे डाक्टर राधाकृष्णन् तथा डाक्टर म्यूरहेड्, इन दोनों ने मिलकर इसी शीर्षक की एक पुस्तक का सम्पादन किया था। अलग अलग दार्शनिकों के निबन्ध उसमें संगृहीत किये गये थे। बाद में डाक्टर डि. एम. दत्त ने समकालीन विश्वदर्शन पर लिखी अपनी एक पुस्तक में कुछ भारतीय चिन्तकों की समालोचना की थी। अरविन्द, टैगोर, गांधी और राधाकृष्णन, इन चारों विश्वविख्यात चिन्तकों के ऊपर तो बहुत किताबें निकलीं, पर एक ऐसी किताब की आवश्यकता है जिसमें विश्वविद्यालयों से अनुबन्धित दार्शनिकों के और भारतीय जीवन पर अपना प्रभाव डालने वाले मनीषियों के दर्शनों के विचार एकत्र उपस्थित हों। इस किताब में नौ सज्जनों के सहकार से विभिन्न समकालीन भारतीय चिन्तकों का व्याख्यान, तथा, जहाँ तक हो सके, उनका विमर्शन भी प्रस्तुत किया गया है। यह काम न निर्विशेष रूप से ही हुआ है न पूर्ण गवेषणा के रूप से। समकालीन भारतीय चिन्तकों पर और भी बहुत अनुसंधान की ज़रूरत है, और उनके ऊपर व्याख्यानात्मक निबन्ध और प्रकरण ग्रन्थों की आवश्यकता है। यह पुस्तक तो हिन्दी में प्रथम प्रयासमात्र है।

इस किताब की प्रणाली, अध्यायों के शीर्षक और जिन जिन व्यक्तियों के विचार इसमें उपस्थित करना था उनके नाम आदि का भी मैंने ही स्थूलरूपेण निर्णय किया था। पर इन अध्यायों के लेखक सूचित नामों और प्रस्थानों का अङ्गीकार करने या छोड़ने में, अन्य दार्शनिकों की चर्चा करने में और अध्यायों की रूपरेखा बदलने में स्वतन्त्र थे। इसलिए इस किताब में संकलित व्याख्यान, विचार, मूल्यांकन और विमर्शों का उत्तरदायित्व उस उस अध्याय के लेखक का ही है।

इस किताब के सम्पादन में मैंने दर्शन को भारतीय परम्परा के द्वारा स्वीकृत अर्थ में ही ग्रहण किया है। तर्क और व्यवहार के अतिरिक्त, वेद, आप्तवचन और रहस्य-वादियों की अन्तर्दृष्टियां आदि आधारों पर जो मीमांसा तथा सिद्धान्त स्थापित हुए हैं उनको भारत चिरकाल से दर्शन मानता है। धर्म, दर्शन और अन्तर्दृष्टि पर संस्थापित सिद्धान्त, इन में विस्पष्ट विभेद देखना, भारत की परम्परा नहीं है। धर्म से अनुप्राणित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन और दर्शन से सम्बोधित धर्म, इसी के अन्वेषण में भारत के पारम्परिक (classical) चिन्तकों ने अपने समय और शक्ति का विनियोग किया था। इसलिए यदि इस पुस्तक में धार्मिक, रहस्यवादी और अध्यात्मवादी चिन्तकों के प्रस्ताव प्रचुर मात्रा में मिलें तो आश्चर्य की बात नहीं होगी। इसी तरह समाज और राष्ट्र विषयक चिन्तन प्लेटो के काल से दर्शन का ही भाग माना जाता है; इसलिए इन विषयों की चर्चा के लिए एक अध्याय का विनियोग हुआ है। सिर्फ सत्तामीमांसा को, या ब्रह्मवाद को, या भाषाविश्लेषण को ही दर्शन मानना संकुचित दृष्टि का द्योतक है; इस पुस्तक की योजना दर्शन के व्यापक भाव पर आश्रित है।

मेरी प्रार्थना स्वीकार करके डाक्टर सम्पूर्णानन्द, डाक्टर व्रजगोपाल तिवारी, श्री नारायण शास्त्री द्राविड़, श्री सङ्गमलाल पाण्डेय, डा० राजेन्द्र प्रसाद, डाक्टर रमाकान्त त्रिपाठी, डाक्टर सुरेन्द्र बार्लिङ्गे, श्री जे. एस. आर. एल. नारायण मूर्ति और डाक्टर आर. वि. आर. चन्द्रशेखर राव ने इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों की रचना की। इन सब महानुभावों का मैं चिर ऋणी हूँ।

बहुकार्यमग्न होने से तथा पुस्तक के अध्याय बहुत देरी से सम्प्राप्त होने के कारण मैं सम्पादन कार्य सुसम्पन्न नहीं कर सका। दार्शनिक परिभाषा के इस्तेमाल करने में प्रमाणीकरण और एकरसता सिद्ध करने का और प्रूफ संशोधन का भार श्री यशदेव शल्य ने अपने ऊपर लिया। इसके लिये मैं उनका एहसानमंद हूँ।

सम्भव है कि यदि कोई अन्य दार्शनिक समकालीन दर्शन पर एक किताब का सम्पादन करता तो उसने शायद दूसरी तरह की प्रणाली के अनुसार यह काम किया होता और फलतः अध्यायों का विभाग तथा शीर्षिकायें इस किताब में मिलने वालों से भिन्न होते और रचयिता भी भिन्न होते। यहाँ यह याद रखने की जरूरत है कि इन विषयों में न सर्वसम्मति साध्य है, न निरूपणयोग्य वस्तुतन्त्रता।

"आधुनिक भारतीय दर्शनः अन्वीक्षण" मैंने स्वयं हिन्दी में लिखा है, किन्तु हिन्दी मेरी मातृ–भाषा नहीं है और उसमें लिखने की आदत नहीं है; इसलिये शैली और वाक्य-रचना के विन्यास में संस्कृत, अंग्रेज़ी या तेलुगू का प्रभाव दिखाई पड़े तो अचरज नहीं है। हिन्दी को जब राष्ट्र भाषा बनना है तब दक्षिण भारतीयों की हिन्दी को औत्तरायों की भाषा से भिन्न होने की स्वतंत्रता होनी ही चाहिये, जैसाकि इंगलैण्ड की, अमेरिका की और भारत की अंग्रेज़ी रचनाओं में भिन्नता है। हमारे विभाग में अध्यापक श्री कृष्ण मूर्ति एम. ए., शास्त्री, विशारद, ने व्याकरण की गलतियों को दूर करने में मुझे मदद दी; तथा मुसलमानों और ईसाईयों पर लिखे गये अध्यायों का उन्होंने अनुवाद किया, इसका मैं कृतज्ञ हूँ। इन दोनों अध्यायों को मेरे दो दोस्तों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्राक्कथन

ने, जामा-ऐ-उस्मानिया से हाल ही में अवकाशप्राप्त उस्ताद-ऐ-आज़म फिलसफीया डा० मीर वलीउद्दीन ने, और अन्नामलै विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर, डा० एस. पी. आदिनारायण (जो ईसाई हैं) ने पांडुलिपि में पढ़ा और उपयोगी सलाह दी। यद्यपि इनमें व्यक्त किये गये भावों की ज़िम्मेदारी मेरी ही है किन्तु उन्होंने अपनी सम्मति भी दी, इसका भी मैं कृतज्ञ हूँ।

के. सच्चिदानन्द मूर्ति

आन्ध्र विश्वविद्यालय,
वाल्तेर, मार्च १९६२.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समर्पणम्

श्री सर्वेपल्लि राधाकृष्णाय

माननीय श्रीमन् भारत राष्ट्रपते,

धर्मानुरक्तौ तदाचरणे आकिञ्चन्ये च कुचेलवंशोपमेऽन्ववाये लब्धजन्मापि तत्रभवान् स्वप्रतिभया स्वीयेनैव सहजेन समुद्यमेन चानितरसाधारणं वैदुषीविभवं समुपार्ज्य ब्रह्मविद्यायां राजनीतौच निष्णातस्सन्, सम्प्रति कन्याकुमार्या आरभ्य आहिमाद्रेः आच कामरूपात् सौराष्ट्रपर्यन्तं व्याप्तां सुविपुलामस्मदीयामिमां भारतभूमिमधिष्ठाय राज्यचक्रं प्रवर्तयते।

प्राचीं प्रतीचीं च संस्कृतिं स्वयं समवगाह्य तद्धर्मान् तदीयदर्शनानि च समालोड्य तानि तानि तत्तद्देशीयान् विनिमयेन बोधयन्, समन्वयरूपां विश्वसंस्कृतिं स्वस्मिन्नन्तर्भाव्य, "वसुधैककुटुम्वी सोऽयमु" इति सर्वैस्सम्भाव्यमानः स्वोपज्ञमपूर्वमध्यात्मदर्शनं प्रचारयति भवान्।

प्रस्थानत्रयस्यापि विलक्षणां विपुलां च व्याख्यां विरच्य भवान् नूतनसम्प्रदायप्रवर्तकः अभवत्; तथा च नानादेशस्थविश्वविद्यालयेषूपन्यस्य पंडितानाश्चर्यानन्दनिमग्नानकरोत्, तैश्च पूजितो विजयते।

"प्राणिनामार्तिनाश"-मेवादर्शं परिकल्प्य, भवान् तदनुगुणां वृत्तिमनुसरन् बोधिसत्वः जीवन्मुक्तश्च विराजते। विदेहराजं जनकं केकयाधिपमश्वपतिंच स्मारयति भवतो जीवितम्। आत्मरतिरात्मक्रीडः क्रियावाँश्च भवान् ब्रह्मविदां वरिष्ठः। तस्मै ते "समकालीन भारतीय दर्शन"—मिमां संकलनामुपाहरन्तो वयं परमं प्रमोदमधिगच्छामः।

एवं भवदीयाः
सम्पादकप्रकाशकाः॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषय सूची

पृ. सं.

प्राक्कथन V–VII

आधुनिक भारतीय दर्शन: अन्वीक्षण XI–XXIX
के. सच्चिदानन्द मूर्ति (अनु. कृष्ण मूर्ति)

१. बीसवीं शती की भारतीय विचारधारा की भूमिका १
सम्पूर्णानन्द

२. भारतीय दर्शन की समसामयिक परंपरावादी प्रवृत्तियां १३
नारायण शास्त्री द्राविड़

३. नवीन हिन्दू आध्यात्मिक एवं धार्मिक दर्शन १७
ब्रज गोपाल तिवारी

४. समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद ४३
संगम लाल पाण्डेय

५. समकालीन भारतीय दर्शन में अनुभववादी प्रवृत्तियां ६५
राजेन्द्र प्रसाद

६. श्री अरविन्द दर्शन ८१
र. क. त्रिपाठी

७. गान्धी दर्शन १०१
सुरेन्द्र बार्लिंगे

८. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् का दर्शन ११५
ज. र. ल. स. नारायण मूर्ति (अनु. राम मूर्ति)

९. समकालीन भारतीय राजनैतिक दर्शन १३७
चन्द्र शेखर राव (अनु. अजित सिन्हा)

१०. भारतीय मुस्लिम तथा ईसाई दार्शनिक विचार १५९
के सच्चिदानन्द मूर्ति

पुस्तक के लेखकों; अनुवादकों तथा संपादक का परिचय १८१

नामानुक्रमणिका १८३

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आधुनिक भारतीय दर्शन: अन्वीक्षा

के. सच्चिदानन्द मूर्ति

मध्यकाल में भारतीय दर्शन का अपचय और पतन

गुप्त साम्राज्य के अवसान काल के पहले से ही भारतीय चिन्तन और संस्कृति में शिथिलता व क्षय के चिह्न प्रकट हुए। सहस्रों वर्षों की कर्मण्यता और सृजन के बाद भारतीय संस्कृति की प्राणशक्ति मन्द हो गयी, उसकी थकान दूर करके व कायाकल्प कर पुनरुज्जीवित करने के लिये नूतन शक्तियों और चैतन्य की आवश्यकता थी। लेकिन यह असम्भव हो गयी, क्योंकि ईस्वी शती के पहले हज़ार वर्षों के अन्त होने के समय तक एक व्यावर्तक व प्रतिबन्धक मनोवृत्ति (exclusive spirit) हिन्दुओं में फैल गयी, जिसके कारण वे सब विदेशियों को विद्वेष करने लगे और उन सब को म्लेच्छ और पशु समान समझने लगे। (उदा० सूत्र भाष्य में रामानुज म्लेच्छों को पशु कहते हैं।) अपनी संस्कृति के अतिरेकाभिमान, अपनी संस्कृति और ज्ञान का अन्यों में संक्रमण करने की विमुखता तथा परसंस्कृतियों के बारे में तिरस्कारभाव–ये तब हिन्दु आलोचना की रीतियां हो गयीं। ये लोग विचारों के प्रति असहिष्णु हो गये। इसलिए हिन्दु तेज व मन को जगा कर उत्साहित करने के लिए बाहर से कुछ भी लेने की बात नहीं उठ सकी। हिन्दु समाज में जो अन्तरंग पीड़न व कर्षण (Stresses & Strains) प्रकट हुए उन्होंने इस क्षय या ह्रास को उत्कट कर दिया। वर्णप्रथा की कठोरता के कारण निम्न वर्गों में अभिवृद्धि का अवकाश नहीं था, जिससे समाज सेवा और शक्ति के नूतन शक्य प्रभावों से वंचित रह गया। हिन्दु समाज उस समय ऐसी दशा में था कि अगर उसमें एक परिवर्तन का प्रवेश न होता तो वह अपनी ही प्रगति का बाधक हो जाता, और यही हुआ भी। विदेशी आक्रमणकारियों से लड़ना सिर्फ सिपाहियों और क्षत्रियों का कर्तव्य समझा जाता था, वाणिज्य और व्यापार निम्न कार्य समझे जाते थे। यह अन्तर्गत संकट, श्रद्धा-नाश और निस्पृहता, आक्रमणकारियों से पराजय और स्वातंत्र्य विनाश के रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में अभिव्यक्त हुये। बार–बार आने वाले विदेशी आक्रमण कार्पण्य, आत्मविश्वास के लोप, अधिकतर सामाजिक कठोरता और परकीयों के प्रति विकृत विद्वेष (Xenophobia) में पर्यवसित हुये। यह भी था कि आगन्तुक विदेशियों के साथ जो संस्कृतियां तथा धर्म आये वे प्रयोग विज्ञान (Technology),उपाय कौशल (Technique) तथा सामाजिक व राजनैतिक विधानों में प्रगति के लिये उपयोगी नूतन तत्वों को या आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न मार्मिक प्रज्ञायुत दृष्टियों को (जो भारत में मिलने वाले इन सब तत्वों से उत्कृष्ट हों) नहीं ले आये। इसीलिए ग्यारहवीं सदी से भारत पर जो विदेशी प्रभाव (impact) पड़ा उसके फलस्वरूप दर्शन में, साहित्य में और विज्ञान में कुछ अपूर्व मौलिक या मुख्य उद्गम (emergence) नहीं हुआ। सिर्फ कलाशिल्प और कारीगरी में तथा जीवन-शैली में परिवर्तन आये। एक तरफ अन्य धर्मावलम्बियों का विपर्यय (Conversion) करने वाला युयुत्सु धर्म, जो एकेश्वरवाद और मानव समता की शिक्षा देता था, और दूसरी तरफ देशी धर्म, जो बहुदेवतावादी, क्रतुकर्मपरक और वर्ण–व्यवस्थायुक्त था—इन दोनों का समन्वय या संगति कैसे हो, यह कुछ मेधावियों के लिए प्रधान समस्या हो गयी। मुसलमानों की ओर से अकबर और उसके साथियों तथा दारा शिकोह और इने गिने सूफी लोगों ने इसका परिष्कार करने का प्रयत्न किया; हिन्दुओं की ओर से रामानन्द से शुरू करके अनेक भक्तों ने भी यही प्रयत्न किया। सारांश यह है कि, हिन्दु मन और जीवन का जो क्षय व ह्रास उत्तर में दसवीं सदी से प्रकट हुए वे धीरे धीरे दक्षिण में भी व्याप्त हुए और पंद्रहवीं और सोलहवीं सदियों तक वे सारे भारत में जम गये। आक्रमणों के साथ जो वैदेशिक संस्कृति और धर्म आए वे भारतीय चिन्तन और जीवन की किसी प्रकार की पुनर्नवीकरण शक्ति देने वाली स्फूर्ति को, या सुधार कर सकने वाली प्रज्ञादृष्टि को, या प्राणशक्ति को दृढ़ करने वाले आवेग को न दे सकें। हिन्दु-मुसलमान संस्कृतियों के परस्पर साम्मुख्य से जो आपत्ति उठी वह निवारित नहीं हुई। हिन्दु (विशेष कर उत्तर में) दलित हो कर मुसलमानों को उनके धर्म प्रेरित अत्याचार के कारण असभ्य, क्रूर, म्लेच्छ मानने लगे और मुसलमान हिन्दुओं को काफिर और बुतपरस्त मानकर घृणा करने लगे। कोई भी मुसलमान या हिन्दु राजवंश समस्त प्रजा को सम्मत न होने से अपने को अखंड रख सकने वाली स्थायी भारतीय शक्ति न बन सका और इसीलिए यह अस्तव्यस्तता और गड़बड़ी दूर न हुई। इसलिए इसमें अचरज नहीं है कि तेरहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी तक भारत में किसी दार्शनिक व्यवस्था या सम्प्रदाय को प्रारम्भ करने के लिए महान मौलिक प्रयत्न नहीं किये गये,यद्यपि पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी तक कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिक व्यापार जारी रहा, उसके बाद तो सब प्रकार के बौद्धिक व्यापार अवसन्न हो गये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन सदियों में अतीत और परम्परा अन्धविश्वास व पूजा का विषय होकर भार-मात्र हो गये; उनसे सुसम्पन्न जीवन के लिये, पुरुषार्थ साधक उद्यम के लिये, या सृजनात्मक चिन्तन के लिए किसी प्रकार की प्रेरक स्फूर्ति नहीं ली गयी। शक्ति का उत्पादन करने के लिए किसी न किसी चीज़ को जलाना और विनियोग करना होगा, वृद्धि और जीवन के लिए विसर्जन की भी आवश्यकता है। ऐसा न करने से परम्परा ओज और उत्साह को विनष्ट करने वाली, क्लेशकारक और भारमात्र होती है, जिससे जीवन व्यामोहयुक्त जड़ता में अन्त होता है और चिन्तन हमेशा प्रगतिशून्य पश्चाद्दृष्टि वाला हो जाता है।

आधुनिक मनस्तत्व की जागृति:

उन्नीसवीं सदी में दर्शन का पुनरुज्जीवन

जब यूरोप ने भारत पर अपना प्रभाव दिखाना आरंभ किया तब वह जाग्रत, क्रिया-शील और सृजनात्मक था, तथा महान् भौतिक भावों से आप्लुत था। भारत में ग्यारहवीं सदी में जो संस्कृति आई उससे यह बहुत भिन्न थी। विज्ञान का भाव व दृष्टिकोण, कहीं अधिक समर्थ उत्पत्ति-साधन, स्वातंत्र्य, समता और प्रजातंत्र पर आश्रित नवीन प्रकार के राजतंत्र—ये सब प्रगति के तत्व भारत को इतः पूर्व इतनी पूर्णता व स्पष्टता से ज्ञात नह थे। यही नहीं, ब्रिटिश लोग सारे भारत में एक स्थायी राज्य स्थापित करने में सफल हुये और यह राज्य इस देश को एकविध कानून और (१८३५ से) शिक्षा भी दे सका। इन कारणों से उन्नीसवीं सदी में भारत में एक पुनरुज्जीवन व पुनर्जागरण(Renaissance) संघटित हुआ जो पंद्रहवीं और सोलहवीं सदियों के यूरोपीय पुनर्जागरण की तरह ही महत्व-पूर्ण, सार्थक और सफल था। हिन्दू समाज काल-दोष ग्रस्त था इस लिये सुधार और पुनर्व्यवस्थीकरण की जरूरत थी; इस चेतना से प्रेरित होकर उद्बुद्ध हिन्दुमन अपनी परम्परा को, उसका अध्ययन करने के लिये, मूल्यांकन करने के लिये, शक्तियों के चिन्तना-रहित विश्वासों और स्वार्थ-आचारों के पीछे छिपे हुए महान विचारों को अव्यक्ततता से पुनर्लाभ करने के लिये, समीक्षण करने लगा। भारतीय चिन्तन और व्यवहार को पुनर्जागरण के नूतन रूप देने के लिये जो आध्यात्मिक दृष्टि चाहिये थी वह इन विचारों से मिल गयी। फलतः हिन्दू धर्म की सारभूत जो मूल कल्पनायें हैं उनका पुनरधिगम, पुनः परीक्षा और पुनर्विवरण हुआ। इससे भी महान निर्वाहन यह हुआ कि हिन्दू परम्परा में जो नहीं मिलता और न उससे निकाला जा सकता है, ऐसी चीज़ को यूरोप से लेना कितना महत्वपूर्ण है, यह भी मालूम हुआ, और यह चीज थी विज्ञान।

इस पुनर्जागरण उद्यम का सब से महान व्यक्ति था राम मोहन राय १७७२-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

१८३३) जो आधुनिक भारतीय चिन्तन का प्रारम्भक था। उसने जो काम किया और जो चिर-स्थायी फल उससे निकले, इनकी दृष्टि से भारत पर उसने वैसा ही प्रभाव डाला जैसाकि पेट्रार्क, इरासमुज, बेकन, लेसिंग आदियों ने यूरोप पर विभिन्न कालों में डाला। वह कांट, हेगल जैसा विशिष्ट अर्थ में दार्शनिक तो नहीं था, तो भी उसकी रचनाओं का उतना ही दार्शनिक मूल्य है जितना बेकन की, लेसिंग की और रवीन्द्र नाथ टैगोर की। राय के चिन्तन की वृद्धि में बेकन की कृतियां, ईसाई नीति—बोध, हेतुवाद, देववाद (Deism), पुनर्जागरण—आन्दोलन (The Enlightenment), और उपयोगितावाद (Utilitarianism) कारण तो थे, लेकिन वह वेदान्त में सुप्रतिष्ठित था। उपनिषदों पर निर्मित वेदान्त उसका धर्म था तो जीवन-समस्याओं के प्रति उसका अभ्युपगम मार्ग सहेतुक और वैज्ञानिक था। शंकर के बाद किसी आचार्य ने उपनिषदों की अद्वितीय प्रामाण्यता के ऊपर जोर नहीं दिया। बाद के लोगों ने उन को स्मृति (सूत्र, गीता आदि), पुराण और आगम समान ही प्रामाण्यता दी। यथार्थ हिन्दू धर्म वही है जो उपनिषदों पर आश्रति है, ऐसा धर्म ही आधुनिक संसार से और विज्ञान से सुसंगत व समन्वित हो सकता है, इसे राय ने दिखाना चाहा। उसकी और विवेकानन्द की वजह से वेदान्त आधुनिक भारत का मुख्य दर्शन हुआ। बाद में केशव चन्द्र सेन (१८२४-१८८४) ने भारत और पश्चिम के संयोग की बात चलाई और भारतीय आध्यात्मिकता और पाश्चात्य विज्ञान, वेदान्त और पाश्चात्य सांकेतिक शिक्षा इनके संयोजन व समन्वय द्वारा एक नूतन संस्कृति के प्रादुर्भाव की सम्भवता का निरीक्षण किया। तब से इस शती के बहुतेरे प्रमुख भारतीयों की रचनाओं में और भाषाओं में यह भाव प्रकट होता आ रहा है।

दयानन्द (१८२४-१८८३) का प्रामुख्य इसमें है कि उन्होंने हिन्दू सभ्यता का जो आदिम स्रोत ग्रंथ है उसमें हिन्दु धर्म का पुनरुद्धार करने की क्षमता रखने वाले महान और जीवित सत्यों को प्राप्त करने का यत्न किया। वैदिक संहितायें सुसंगत रूप से एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन करती हैं, वैदिक धर्म वर्ण-प्रथा तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों को आश्रय नहीं देता है, वेद हमें एक ऐसा जीवन सूत्र व नियम देता है जो सहेतुक और नीतिबद्ध है। जिन ऋचाओं को सायन ने प्रायः नानादेवतापरक व्याख्यान किया, याज्ञिक मीमांसकों ने केवल क्रतुकर्मपरक समझा और जिन को पाश्चात्य विद्वानों ने प्रकृति-शक्ति पूजापरक व्याख्यान किया, उन्हीं में आध्यामिक और नैतिक सत्यों को पहिचानना प्रतिभावान का ही कार्य है। बीसवीं सदी के बहुत विद्वान, उदाहरणतः अरविन्द, आनन्द कुमार स्वामी, सम्पूर्णानन्द, कुह्नन राजा आदि, समझते हैं कि ऋचायें मंत्राओं और प्रतीकों द्वारा प्रगाढ़ दार्शनिक सत्यों का व्यंजन करती हैं, जिनका अवगाहन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी ठीक तरह नहीं हुआ है।

ब्राह्म और आर्य समाजों द्वारा जो एकेश्वरवाद और हेतुवाद प्रचारित होते थे वे कुछ हद तक थियोसोफिक आन्दोलन (जो १८८२ में भारत आया) से रोके गये, क्योंकि इस आन्दोलन ने जनसामान्य में व्याप्त लोकप्रिय हिन्दु धर्म के बहुतेरे अंशों की विचक्षणारहित प्रशंसा की और रहस्यवादी विश्वासों को, गुप्त क्रियाओं को और प्रेतवाद को प्रोत्साहित किया। लेकिन इसने हिन्दुओं को आत्माभिमान और आत्मविश्वास देकर जातीय भाव को दृढ़ किया, प्राच्य सम्बन्धी अध्ययनों को और विवध धर्मों के तुलनात्मक अध्ययनों को बढ़ाया, तथा शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की। सर्व-धर्म-समता भाव को भारत में प्रचार करने वाला आन्दोलन भी शायद यही था। विभिन्न प्रकार से यह भाव गीता, महिम्न स्तोत्र आदि ग्रंथों में और जयंत, अभिनव गुप्त, मधुसूदन सरस्वती आदि चिन्तकों की कृतियों में पाया जाता है। किन्तु आधुनिक युग के पहले साधारण हिन्दु प्रजा ने इसे अंगीकार नहीं किया। ऐसा दीखता है कि आजकल अधिकांश शिक्षित हिन्दु यह विश्वास करते है कि सब मजहब एक ही गंतव्य को पहुँचने के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग हैं इसलिए सब अच्छे हैं, किन्तु हिन्दु पथ ही उन सबमें ऋजु और राजपथ है। विभिन्न धार्मिक विश्वासों और आचारों का ज्ञान और तर्क तो इस विचार को नहीं सिद्ध करते।

जो शक्ति और तृप्ति देता है, जो पुण्यशीलता व भक्ति की वृद्धि करके मानवों को अपने सहजीवियों से प्रेम करने और उनकी सेवा करने को प्रेरित करता है, वही धर्म है— इस व्यावहारिक सत्य (**Pragmatic truth**) को रामकृष्ण परमहंस (१८३६-१८८६) से ग्रहण करके, विवेकानन्द (१८६३-१९०२) ने उन सब धर्मों का मूल्य और प्रामाण्य अंगीकार किया जो मानवों को सर्व मानवों के प्रति प्रेम-नीति और कर्तव्यपरायणता से भरा हुआ जीवन व्यतीत करने को प्रेरित करते हैं। तो भी उसने अद्वैत वेदान्त को विश्वजनीन वैज्ञानिक धर्म माना, जिसमें अन्य धर्मों के आंशिक सत्य समाविष्ट हैं। मानव के धार्मिक अन्वेषण का पर्यवसान और पूर्णता वही है। जीवन में अद्वैत के परमसत्य को आचरण में लाना ही यथार्थ में धार्मिक होना है। विवेकानन्द इसी का अर्थ इस तरह मानते हैं कि जीवन को हरेक क्षेत्र में समता और समचित्तता की साधना करनी चाहिए। अद्वैती के लिए किसी प्रकार का विशेषाधिकार, असमता, पुरोहित वर्ग, दमन या स्वार्थ नहीं रह सकते। विवेकानन्द ने समझा कि अद्वैत वेदान्त साधन किसी प्रकार की असमता से रहित, वर्णभेद रहित स्वतन्त्र समाज में पर्यवसन्न होगा, जिसमें सब व्यक्ति अपनी अपनी निगूढ़ शक्तियों की अपने इच्छानुसार वृद्धि करेंगे, अपने में दिव्य तत्व को अनुभव करेंगे, और धर्म, दया तथा सेवा का अभ्यास करेंगे। विवेकानन्द प्रथम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कोटि का दार्शनिक था, शंकर के बाद अद्वैत वेदान्त का प्रधान व्यवस्थापक (Systematiser) था; केवल रामतीर्थ की तुलना उससे की जा सकती है। एक साहसिक और मौलिक ढंग से विवेकानन्द ने अद्वैत वेदान्त को उपवृंहण किया,तथा उस को तर्क, अनुभव, विज्ञान और आधुनिक संसार से सुसंगत करने का यत्न किया। अपनी तत्वमीमांसा (Metaphysics) के अनुकूल नैतिक व सामाजिक सिद्धान्त का भी उसने विस्तार किया, उसने भारत के भविष्य के बारे में कल्पनाएं कीं और भारत के धार्मिक व सांस्कृतिक इतिहास का पुनर्व्याख्यान किया। इस तरह उसने एक नवीन हिन्दू विश्वदृष्टि का निर्माण किया। आधुनिक भारतीय दर्शन के इतिहास में विवेकानन्द का महत्तर स्थान है। भारत के किसी भी प्राचीन व अर्वाचीन दार्शनिक से जो मननोपयोगी सामग्री मिल सकती है विवेकानन्द से उससे कम नहीं मिलेगी। तत्व–मीमांसात्मक दृष्टि से शंकर के बहुत ऊपर होने पर भी, इसकी दार्शनिक व्यवस्था ज्यादा और व्यापक है, क्योंकि यह अपने सब ओर जो वैज्ञानिक, सामाजिक और राजनैतिक संसार है उसको जानता है और उससे विमख नहीं है। इस कारण से अपनी तत्व–मीमांसा से सुसंगत नीतिदर्शन और समाजदर्शन को भी वह तैयार कर सका। विवेकानन्द की कृतियां कियर्केगर्ट, नीत्शे, बटलर, जास्पर्स, एमर्सन, रायसे, हाकिंग आदि की रचनाओं से कम मूल्यवान नहीं हैं। विवेकानन्द के बारे में जो विचार व्यक्त किये गये हैं वे कुछ हद तक रामतीर्थ के बारे में भी लागू हैं, लेकिन रामतीर्थ में अधिकतर तत्व–मीमांसात्मक गहराइयां हैं।

विवेकानन्द के कारण अब अपेक्षाकृत अधिक संख्या में भारतीय व वैदेशिक दार्शनिक और शिक्षित लोग अद्वैतवेदान्त को भारतीय दर्शनों में परमोत्कृष्ट मानते हैं।

बंकिम चन्द्र चटर्जी (१८३८-१८६४) ने भारत पर व्यक्तित्वारोपण करके उसकी दिव्य माता के रूप में भावना की और उसका हिन्दू उपासना के विषयभूत शक्ति से एकीकरण किया। जब देशभक्ति और भगवद्भक्ति एक हुए तब देश के स्वातंत्र्य व अभ्युदय के लिये आत्मार्पण करना एक प्रकार से हिन्दूधर्म हो गया। अपने देशवासियों से, विशेष कर दरिद्रों व दलितों से, ऐक्य भावना का अनुभव करना धर्म है, इस कारण से उनके दुख व दारिद्रय में भाग लेना और उनके प्रगति और क्षेम के लिये काम करना कर्त्तव्य बनता है, यह विवेकानन्द की शिक्षा थी। इस प्रकार देश–भक्ति और धर्म, नीति और राज्य तंत्र, सम्मिलित होकर एक विचित्र विचार-प्रणाली (ideology) बन गई। बाद में अरविन्द ने यह सिद्धान्त बनाया कि देश भक्ति ईश्वरीय धर्म है, और सनातन धर्म और देशभक्ति व सेवा एक ही हैं। इसके बाद गान्धी ने दलितों के दारिद्रय और दुःख में भाग लेने की भावना को लेकर उनके समान रहना और उनके लिये काम करना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रारंभ किया, नीति और राजतंत्र में अभिन्नता स्थापित की, और यह माना कि देश-सेवा ही मोक्ष दे सकती है। उत्कट देश-भक्ति का सनातन धर्म से एकीकरण करना और हिन्दूधर्म-पुनरुत्थान को देश के स्वातन्त्र्य और अभ्युदय से अभिन्न मानना, यह सब तार्किक क्रमसे उस विचार-प्रणाली में पर्यवसित हुआ जिस पर हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और जनसंघ निर्भर हैं। इसी तरह गांधी की रामराज्य की भावना, हिन्दू धार्मिक मनोवृत्तियां, मध्य कालीनता (लंगोटी, चरखा आदि) और उपवास, सत्याग्रह आदि उपायों का राजतंत्र में प्रवेश करना, इन सबकी प्रेरणा उन्नीसवीं सदी में निकले हुए विचार-प्रवाहों में पायी जाती है।

इस प्रकार उन्नीसवीं सदी में भारत ने पश्चिम के सम्मुखागमन से एक नये सन्निवेश में अपने को पाकर, पश्चिम से आने वाले शक्तिशाली भावों से अवगत होना शुरु किया; इतना ही नहीं, उनमें से कुछ को अपने को सुसम्पन्न करने के लिये ग्रहण किया, और कुछ भावों को परिवर्तन करके आत्मसात् किया, जिससे वे उसके आत्मा के अभिव्यंजक और उसकी प्रगति के साधक हुए। पाश्चात्य साहित्य, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन से भारतीय मेधावियों को नूतन सफल दृष्टिकोण मिले, जिनसे एक नूतन विश्वदृष्टि का निर्माण करने की क्षमता उनमें आ गई। कुछ पुराने किन्तु नित्य सत्यों का पुनर्व्याख्यात्मक प्रतिपादन, उनमें छिपे हुए उपलक्षणों (implications) का निगमन, इनका पश्चिम से आये हुए अंगीकार योग्य भावों से मिलन – इस प्रक्रिया से यह विश्वदृष्टि बनी। भारतीय क्षय, ह्रास, अवनति और सम्पर्कराहित्य (isolation) इस प्रकार अन्त हुए तथा पाश्चात्य सम्पर्क भारतीय स्वीपचय की सामग्री बन गये। राम मोहन राय, दयानन्द और विवेकानन्द ने उन्नीसवीं शती में भारतीय दर्शन में एक महत्वपूर्ण युग का आरंभ किया। यूरोपीय दर्शन में कूसा के निकोलस से शुरू होकर देकार्त के पूर्व जो युग प्रारम्भ हुआ, उससे इसकी तुलना की जा सकती है। सब विषयों में इन दोनों में समानता तो नहीं है, लेकिन दोनों कालों में नूतन भाव व शक्तियां काम कर रहे थे, और एक नये सबल समारम्भ का, एक नयी विश्वदृष्टि का उद्भव हुआ। ये भारतीय धार्मिक सुधारक थे और अच्छे दार्शनिक भी थे, जिस प्रकार बुद्ध व शंकर थे। राय में ज्यादा अतिभौतिकवाद नहीं है, केवल सहेतुक ईश्वरवाद और सरल-ऋजु सामाजिक दर्शन है। वाल्तेयर, दीदिरो, कंदोरसेत, बेन्थाम, देववादी-इन सब में भी अतिभौतिकवाद नहीं है। दयानन्द के वेद भाष्य और सत्यार्थप्रकाश हर तरह से सायन, शबर आदि के भाष्यों से कम मूल्यवान नहीं हैं। सत्यार्थप्रकाश में वे भाग, जहां पर मत खंडन किया गया है, शंकर के सूत्र-भाष्य के तर्कवाद, सेंट थोमस के सुम्माकाँत्रा जंतिलेस और घजाली के तहाफुत अलफलासिफा, इनके स्तर को पहुंचते हैं। फिर विवेकानन्द और राम तीर्थ में तो प्रत्ययवाद (idealism) एक उन्नत शृंग का स्पर्शन करता है। इन व्यक्तियों द्वारा संघटित दर्शन–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुनरुज्जीवन, बीसवीं सदी में भारतीय दार्शनिक इतिहास में आने वाले स्वर्ण युग का, जिसका टैगोर, गांधी, अरविन्द, एम. एन. राय ने निर्माण किया, आधार बन गया।

II

बीसवीं सदी–पूर्वार्ध: असंसदीय चिन्तक

उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में पैदा होकर जिन्होंने अपना काम बीसवीं सदी में पूरा किया और जो लगभग इस सदी के मध्य भाग में मर गए ऐसे चार चिंतकों के बारे में अब कुछ कहना चाहता हूँ। इन चारों में कोई भी भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षित नहीं हुआ था। इनमें एक ही एक यूरोपीय विश्वविद्यालय में शिक्षित हुआ, बाकी तीनों ने किसी कालेज में नहीं पढ़ा। इनमें किसी एक ने भी आजीविकार्थ दर्शन का अध्ययन नहीं किया, दो ने तो कांट व शंकरादि के मूल दर्शन को भी कभी नहीं पढ़ा। ये हैं रवीन्द्रनाथ टैगोर (१८६१–१९४१) मोहन दास कर्म चन्द गांधी (१८६९-१९४८), अरविन्द (घोष) (१८७२–१९५०) और मानवेंद्र नाथ राय (१८८७–१९५४)। ये चारों व्यक्ति दार्शनिक दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण हैं।

टैगोर एक महाकवि था, लेकिन वह लियोनार्डो विंची की तरह एक "विश्व–जनीन मानव" भी था। दार्शनिक चिन्तक को भी मिलाकर वह अनेक अन्य व्यापारों में इतना कुशल था कि बहुतों में वह अति निपुण था,और कुछ में तो बहुतों से अतिशय था। उसके दर्शन पर लिखने वाले बहुतेरे उसकी "साधना" और "मानवधर्म" तक ही अपने को सीमित करते हैं, किन्तु उसकी गद्य-पद्य रचनाओं में प्रचुर सामग्री मिलेगी जिसको एक व्यवस्थित धार्मिक–रहस्यवादी, सामाजिक और शिक्षा दर्शन के रूप में सम्बद्ध कर सकते हैं। उसकी कृतियां अपने से एक व्यापक जीवन दर्शन के उद्गम की प्रतीक्षा कर रही हैं। वह उपनिषद् और वैष्णव धारा से प्रभावित था और उसपर अपने पूर्वजों का भी प्रभाव था। जीवन और प्रकृति में आनन्द पाने वाले उसके आध्यात्मिक दर्शन जैसा सुन्दर दर्शन, वेद की ऋचाओं, उपनिषद् और गीता के बाद कभी प्रतिपादित नहीं हुआ। उसके पूर्वरूपों (Prototypes) की भांति यह भी तार्किक, निश्चित और सुसम्बद्ध चिन्तन नहीं है, कविता की तरह यह ध्वन्यात्मक है; जो अवाच्य है उसे सूचित करता है, और जहां वार्ता-निवेदन नहीं बन पड़ता वहां प्रकाश डालता है। शायद यदि टैगोर भी स्कूल या कालेज गया होता, और वहां शिक्षित होकर कांट, हेगैल और वेदान्त भाष्य पढ़ा होता तो, उसने भी उन्हीं की पुनरावृत्ति की होती, जैसे बहुतेरे भारतीयों ने की है। लेकिन सौभाग्य है कि उसका दार्शनिक चिन्तन सृजनात्मक, गहन और कवितामय होकर और सांकेतिक परिभाषा से रहित होकर एक स्वरमाला (Symphony) के सौंदर्य और सम्वाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को प्राप्त हुआ।

गांधी के जीवन व चिंतन के बारे में थोड़े में कुछ भी कहना मुश्किल है। १९४८ तक तीस साल के ऊपर भारत का इतिहास और गांधी का जीवन सम्मिलित थे। उसके पहले दक्षिण अफ्रीका में अपने बीस साल के निवास में उसने जिन प्रत्ययों और उपायों का विकास किया उन्होंने दो भूखंडों पर अपना प्रभाव दिखाकर संसार को गहराई से प्रभावित किया है। उसके भाषण, रचनायें और पुस्तकें नवीन और विस्फोटक भावों को व्यक्त करते हैं। जितने पक्षपात रहित विमर्शनात्मक ढंग से उसने सुसंगत विचारों व उपलक्षणों का निर्गमन और मूल्यांकन किया है उतना किसी भी दार्शनिक ने पूर्णरूप से नहीं किया। उस पर लिखी गयी बहुतेरी पुस्तकें या तो अपेक्षित अवगाहन से शून्य हैं, या सिर्फ भक्तों के लिखे गये प्रशंसापूर्ण उद्‌गार हैं। इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि जैसाकि एक समकालीन महान व्यक्ति और चिंतक अल्बर्ट स्ख्वाइट्ज़र ने कहा है—"गांधी का दर्शन अपने आप में एक विश्व है"; और एक विश्व को ठीक तरह विस्पष्ट समझना तो मुश्किल है। स्ख्वाइट्ज़र के अनुसार, अहिंसा भाव को प्रवृत्ति भाव से संश्लिष्ट करना भारत के ही नहीं अपितु मानव के चिंतन में एक प्रधान घटना है। जैन धर्म, टाल्स्टाय, रस्किन, ईसाई धर्म, वेदान्त (विशेषकर गीता और ईशोपनिषद्) और कुछ भक्त लोग, इन सब से प्रभावित होने पर भी गांधी का दर्शन अपूर्व मौलिक और विप्लवात्मक था।

अरविन्द ने जातीयवाद और राजतंत्रात्मक कार्य के लिए दार्शनिक आधार देने का प्रयत्न किया था, इस बात का उल्लेख हुआ है। राजकीय व्यवहार और चिन्तन पर इसका आघात उत्कट होने पर भी, अरविन्द का व्यक्तित्व इससे अधिक महत्व रखता है। यूरोप के प्राचीन वाङ्मय में उसने जो शिक्षा कैंब्रिज में पायी उसने उसके लिये ग्रीक संस्कृति में निक्षिप्त निधियों का द्वार खोल दिया। वह एलोसीनियन तथा डयोनिसियाक रहस्यवादी सम्प्रदायों से, सोक्रेटीस के पूर्व के दर्शन से, विशेषकर हेराक्लीटस से, बहुत प्रभावित था। उसने पाश्चात्य दर्शन में विपुल वैदुष्य अर्जन करके, नीत्शे, बेर्गसोन, जेम्स, इनका विशेषाध्ययन किया, और वह विज्ञान की प्रगति से तथा इसके भावों और पद्धत्तियों से परिचित था। भारतीय चिन्तन के मूलस्रोत से उसने अपनी पिपासा शांत की थी। भाष्यकारों द्वारा संक्रामित भावों का दास न होकर उसने वैदिक ऋचाओं का और उपनिषदों का अध्ययन किया और उनमें अपने पूर्वजों द्वारा उपलब्ध सत्य देखा। तंत्र और वैष्णव मत उसको भाते थे। इन सब के अतिरिक्त उसने आत्मा को योग द्वारा जानने का, अनुभव करने का और व्यक्त करने का प्रयत्न किया। अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का सैद्धान्तिक व्यवस्थीकरण और आर्ष अन्तर्दृष्टियों का कल्पनाकरण, यही उसका दर्शन है। परन्तु अपने सिद्धान्तीकरण में, अपने प्रत्ययों को क्रमबद्ध करने में, उसने भारतीय व पाश्चात्य दर्शन में अपने प्रगाढ़ ज्ञान का उपयोग किया। इसलिये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उसके दर्शन में पूर्व दर्शनों में उपलब्ध होने वाले भाव मिलते हैं। लेकिन ये जैसे-तैसे संगृहीत न होकर सृजनात्मक रीति से परिवर्तित और प्रतिफलित हुए हैं, ताकि वे उसके साक्षात्कार व अनुभव के व्यंजक हों। उसका दर्शन गंभीर और व्यापक है, और वह हर प्रकार से अद्वैत वेदान्त या विशिष्टाद्वैत वेदान्त, प्लोटैनस या आगस्टिन के दर्शन, हेगेल, व्हायिटहेड या बेर्गसोन के दर्शन इत्यादियों के समकक्ष में अपना स्थान ले सकता है।

भारतीय विश्वविद्यालयों के दार्शनिकों ने एम. एन. राय के प्रति रुचि अब तक नहीं दिखायी। इसका कारण शायद यह है कि उनमें से अधिकांश प्रत्ययवादी हैं और राय का भौतिकवाद उनको नहीं भाता। यह भी हो सकता है कि राय का दर्शन, जो सामाजिक व राजनैतिक समस्याओं का ही विचार विशेषरूप से करता है और इतिहास व विज्ञान के आधार पर सिद्धान्त बनाता है, भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले दर्शन के दृष्टिकोण, गन्तव्य और पद्धति से बहुत भिन्न है, क्योंकि इन संस्थाओं में तत्व-मीमांसा, ज्ञानमीमांसा (Epistemology) या भाषा विश्लेषण ही दर्शन माना जाता है। राय कम्यूनिस्ट था और उनमें इतना प्रमुख था कि वह "कम्यूनिस्ट इंटरनैशनल" की कार्यकारिणी समिति का सदस्य था, और मैक्सिको, ताश्कन्द और चीन इन भूभागों में विप्लवों की योजना बनाने की और विप्लवकरों को शिक्षण देने की जिम्मेदारी उसकी थी। बाद में उसने "कोमिन्टर्न" से अपना सम्बंध विच्छेद किया और भारत के स्वातंत्र्य के लिये लड़ा और इस कारण कारागारवास आदि मुसीबतों का भी अनुभव किया। दूसरे विश्व युद्ध के बाद उसने मार्क्सवाद को छोड़ दिया और एक मानवतावादी (humanistic) दर्शन का विस्तार किया, जो हेतुवाद, मार्मिक व मूलस्पर्शी (radical) नैतिकवाद और भौतिकवाद इन पर निर्भर है। राय ने कभी विद्यालयों में शिक्षा नहीं प्राप्त की किन्तु यूरोपीय दर्शन, विज्ञान, विश्व का इतिहास, और कई यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान उसे था जो आश्चर्यजनक है। राय का मत है कि व्यक्तिवाद (Individualism) का सूत्र मानव व प्रकृति (nature) के विज्ञान द्वारा सुसम्पन्न होना चाहिये। सामाजिक सम्बन्धों की सहेतुक व्यवस्था हो सकती है, "सुसंगत, सामरस्यपूर्ण और परस्पर लाभकारी सामाजिक सम्बन्धों के लिये जो इच्छा है" उसका व्यक्तीकरण ही नैतिकता है। मानव की बुद्धि "विश्व के सामरस्य (harmony) की प्रतिध्वनि है", वह "परिवेश का स्वाभाविक सम्वेदन (instinctive awareness) और उसके प्रति प्रतिक्रिया (reaction) है।" केवल इसी को नैतिकता की मापक और निर्णायक होना चाहिये। राय के दर्शन का विषय व लक्ष्य मानव-व्यक्ति है, जाति या वर्ग नहीं है। यह दर्शन व्यक्ति स्वातंत्र्य को ही सबसे अधिक मूल्य देता है। राय का आदर्श है "एक आध्यात्मिक समुदाय (Community)" या "स्वतंत्र मानवों का सार्वभौमिक प्रजातंत्रात्मक साधारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राज्य (Cosmopolitan Commonwealth)", जिसमें मानव किसी राष्ट्र व वर्ग के न होंगे, क्योंकि "सार्वभौमिक मानवतावाद के आघात" से राष्ट्र, वर्ग आदि "अदृश्य" होंगे। हेतुवाद और विज्ञान के आधार पर एक गतिशील (dynamic) नैतिकता का दर्शन निर्माण करने के लिये राय ने साहसी प्रयत्न किया है। उसका विश्वास था कि यदि मानव अपनी मानवशीलता या बुद्धिमत्ता का अवबोध करेगा तो वह ऐसे समाज के निर्माण में प्रोत्साहित किया जा सकता है जहां स्वातंत्र्य और सामरस्य पनपें। यदि राय के दर्शन को दार्शनिक गुण, तर्क, व्यापकता और सुसंगति की दृष्टि से देखें तो यह एक महान निर्वहण है, जिसकी तुलना लुक्रेशियस, एपिक्यूरस, दीदिरो आदि फ्रांसीसी मानवतावादी—भौतिकवादी चिन्तकों, और बर्ट्रांड रसेल (यहां उसके गणित व तर्क के अन्वेषणों पर दृष्टि नहीं है) इत्यादियों के दर्शन से की जा सकती है। लोकायत के बारे में बहुत कुछ हमें मालूम नहीं होने के कारण, राय के दर्शन को हम विज्ञान पर निर्भर प्रथम मानवतावादी तथा भौतिकवादी भारतीय दर्शन कह सकते हैं। यह शोचनीय है कि भारतीय विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों ने अभी तक इस दर्शन के प्रति कोई रुचि नहीं दिखायी, यद्यपि भारत में इसका प्रचार है और कुछ मेधावियों को इसने प्रभावित किया है। अमेरिका में यह बीसवीं शती की एक प्रधान भारतीय देन माना जाता है।

इन चारों व्यक्तियों ने भारतीय दर्शन के इतिहास में एक विशिष्ट कालखंड का सृजन किया है, संसार के दर्शन के इतिहास में इससे बढ़कर सफलता व उत्पादकता दिखाने वाला दूसरा कालखंड नहीं है। किन्तु इनके कई अनुयायी यह दावा करते हैं कि इनके दर्शनों से बढ़कर व्यापक, सम्पूर्ण और चरम दर्शन नहीं हो सकते। कई प्राचीन दर्शनों के बारे में और कई अर्वाचीन दर्शनों के बारे में भी इस तरह के बहुत से दावे हैं। दर्शन इन दावों की परवाह न करके नूतन दृष्टियों के, और भी व्यापक व महान सत्यों के, तथा और भी सुदृढ़ एकतानी भावों के अन्वेषण में पुरोगमन करता है। इसके विपरीत कई लोगों की धारणा है कि क्योंकि ये चारों दर्शन ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी समस्याओं को हल करने का प्रयत्न नहीं करते हैं इसलिये ये असल में दर्शन ही नहीं हैं। किन्तु वास्तव में किसी प्रकार की सत्ताविषयक चर्चा (Ontology) या ज्ञानमीमांसा मात्र ही दर्शन नहीं हो सकता और न किसी प्रत्यक्ष सत्तावादी (Positivist) या विश्लेषक (analyist) को शंकर व स्पिनोजा, रामानुज व हेगेल आदियों के दर्शनों को अर्थहीन प्रलाप (Nonsense) कहने का अधिकार है। अगर दर्शन का किसी एक भाव, व्यवस्था, पद्धति, दृष्टिकोण या उपाय से ही एकीकरण समीचीन हो तो, संसार के दर्शनों में से बहुत कुछ रद्दी पेटी में चला जायगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

III

बीसवीं सदी, पूर्वार्ध—संसदीय (Acadamic) दार्शनिक–

१८५४ से भारत में नवीन प्रकार की शिक्षा–पद्धति अमल में आयी, और १८५७ में कई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इनसे अनुबद्ध शिक्षा संस्थाओं में तर्क और दर्शन आरम्भ काल से पढ़ाये जाते थे। भारत में सबसे पहले जो शिक्षा संस्थायें स्थापित हुईं उनमें प्रधान वे थीं जो प्रोटेस्टेंट ईसाई धर्म प्रचारकों की थीं। कैथोलिक ईसाई भारत में अपनी शिक्षण संस्थाओं में दर्शन नहीं पढ़ाते थे। प्रोटेस्टेंट शिक्षा संस्थाओं के अध्यापक ब्रिटेन से आते थे और उनमें से अधिकांश स्वयं धर्म प्रचारक थे। उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं सदी के आरम्भ में पैदा हुए भारतीयों का दार्शनिक शिक्षण इन्हीं लोगों ने किया। इनमें से अधिक संख्यक स्काटलैंड के विश्वविद्यालयों से आये हुये थे। कलकत्ते के स्काटिश चर्च कालेज और मद्रास के क्रिश्चियन कालेजों में विख्यात अध्यापक थे जो अपने छात्रों को प्रभावित करने की शक्ति रखते थे। अरकाट, हेन्री स्टीफेन, हेष्टी आदि ने कलकत्ते में बहुत भारतीय दार्शनिकों को पढ़ाया। इसी तरह मद्रास में राधाकृष्णन आदि क्रिश्चियन कालेज के विद्यार्थी थे।

भारतीय दार्शनिकों पर ब्रिटेन ने जो प्रभाव डाला अब उसका कुछ जिक्र करेंगे। राममोहन राय के पैदा होने के चार वर्ष बाद, १७७३ में डेविड ह्यूम मर चुका था। थामस रीड (१७१०–९६) ने ह्यूम के दर्शन का प्रतिकरण करके लोकबुद्धि व व्यवहार-दृष्टि (Common sense) पर आश्रित एक स्काटिश दार्शनिक प्रस्थान का निर्माण किया, जिसे अंगीकार करने वाले उन्नीसवीं सदी में भी थे (उदा० विलियम हामिल्टन १७८८–१८५६)। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में एक "जागरण आंदोलन" उठा जिसके लक्षण थे अत्यन्त आवेश और अस्पष्ट भावों का द्वेष; आचरणात्मक वृत्ति और बौद्धिक विमर्श उसकी पद्धति हैं, और जो भी तर्क और व्यक्ति स्वातंत्र्य के विरुद्ध हैं, उसका वह परित्याग करता है। एक तरफ से ह्यूम और दूसरी तरफ से बट्लर के द्वारा खंडन होने तक देववाद भी इंग्लैंड में प्रचार में था। ईसाई धर्म में 'अहेतुक" जो कुछ है उसको निर्मूल करना चाहिये—इस उद्देश्य से प्रारम्भ होकर यह वाद, जो कुछ भी तर्क से समन्वित नहीं होता है उसका परित्याग करते हुये इस निर्णय पर पहुँचा कि बुद्धि ईश्वर को जान सकती है, जिस कारण से प्रकृति के अध्ययन पर आश्रित सहेतुक ईश्वरवाद ही सही और पर्याप्त है, दैवी प्रकाशन से अभिव्यक्त धर्म (revealed religion) अनपेक्षित है। उसने धर्म की संहृति करके नैतिकता से एकीकरण किया और नैतिकता को मानव के स्वाभाविक, सामाजिक व हितकारक वेदनाओं (feelings) पर और उनकी सामरस्यपूर्ण परस्पर प्रक्रिया पर आश्रित किया। उदा. कुबरलांड (१६७२),

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शाफ टेस्बरी (१६७१–१७१३), जेरेमी बेंथाम (१७४८–१८३२) जेम्ज़ मिल (१७७३–१८३६) और जान स्टूवर्ट मिल (१८०६–१८७३) इन्होंने उपयोगितावाद का उद्भव किया, जिसके लक्षण थे अनुभववाद और ऐसी भावना कि केवल सुख ही स्वतःसिद्ध श्रेय (good) है, और नैतिकता का लक्ष्य है अधिक संख्यक जनों का यथासाध्य अधिक सुख। हरबर्ट स्पेंसर (१८२०-१९०३) ने समकालीन विज्ञान के आधार पर एक "समन्वयात्मक दर्शन" का निर्माण करने के लिये एक व्यापक भाव व्यवस्थ का प्रपंचन किया। ये सब उन्नीसवीं सदी में और बीसवीं सदी में ब्रिटेन में प्रचुर प्रचार प्राप्त भावनाओं में कुछ थीं। इनमें से केवल जागरण आंदोलन, देववाद और उपयोगितावादों के दृष्टिकोण ने राममोहन राय को, और जागरण आन्दोलन और फ्रांसीसी विज्ञान सर्वेस्त्रियों (Encyclopædists) के व्यक्तिवाद और हेतुवाद ने एम. एन.–राय को प्रभावित किया था।

किन्तु इन में से किसी भी दर्शन ने बीसवीं सदी के भारतीय विश्व–विद्यालयों में शिक्षित दार्शनिकों को प्रभावित नहीं किया, और इसका भी सबूत नहीं मिलता कि उपरि-निर्दिष्ट विचारों का पिछली पीढ़ी के भारतीय दार्शनिकों ने अध्ययन किया हो। केवल तिलक का "गीता रहस्य" उपयोगितावाद तथा कांट के प्रत्यक्ष–सत्तावाद आदि नैतिक सिद्धान्तों की चर्चा करता है। इसका कारण यह है कि लाक का अनुभववाद, ह्यूम का संशयवाद (Scepticism) और देववाद ये सब या तो दैवी प्रकाशन से अभिव्यक्त धर्म को प्राभुख्य नहीं देते हैं या उसका निराकरण करते हैं। बेंथाम का मत ईश्वर की विधियों को नैतिकता का आधार नहीं मानता (यह स्वयं निरीश्वरवादी था) और स्पेंसर का दर्शन अज्ञेयतावाद का समर्थन करके निश्चित ईश्वर ज्ञान की असम्भवता दिखाता है। परम सत्य को ईश्वर ने प्रकाशित किया है और वह बाइबिल में ईसाई धर्म में निहित है। नैतिकता ईश्वर की विधियों का स्वीकार,या अन्तःकरण प्रवृत्ति(Conscience)द्वारा विदित ईश्वर–चोदना का पालन है। इन विश्वासों से इन वादों का समन्वय नहीं हो सकता, इसलिये ईसाई धर्म प्रचारकों की भारतीय शिक्षा संस्थाओं में इन की अवज्ञा थी और इन का पठन पाठन नहीं था। इसलिये पिछली पीढ़ी के भारतीय दार्शनिक इनसे प्रभावित नहीं हुये, बाद में तो ये वाद प्रचलित नहीं रह सके। लेकिन राजनैतिक उदारता वाद (Liberalism) द्वारा मानवतावाद और उपयोगितावादों का प्रचार गोखले, सप्रू, श्री निवास शास्त्री इत्यादी राजनीतिज्ञों पर और लंडन के इंडिया आफीस और आई.सी.एस के प्रमुख मेधावियों पर बहुत था, इसी कारण ब्रिटिश राज भारत में कभी निरंकुश तानाशाही (dictatorship) नहीं हुआ, और उसने स्वातंत्र्योद्यम को निर्दयता के साथ कुचल नहीं दिया, जैसाकि सर्वाधिकारी शासक (totalitarian rulers) करते हैं। इन वादों का प्रभाव दार्शनिकों पर तो नहीं था और न उन राजनीतिज्ञों पर जो हिन्दू

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुनरुद्धार, या सत्याग्रह या फासिज़्म या कम्यूज़िम से प्रभावित थे, किन्तु बाकी भारतीय राजनीतिज्ञ लाक, बर्क, मिल तथा वाशिंगटन, जेफरसन इन लोगों के ही ऋणी हैं।

उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन में एक और दार्शनिक आन्दोलन का प्रवेश हुआ था। कोलरिंज (जो १८३४ में मरा) और कारलाइल (जो १८८१ में मरा), इन्होंने जर्मन प्रत्ययवाद को ब्रिटेन में लाने का प्रयत्न किया। स्टरलिंग की हेगल पर लिखी गई लोक-प्रिय किताब (१८६५) से शुरु करके, जान केयर्ड और एडवार्ड केयर्ड इन दोनों के प्रभाव से स्काटलैंड में और टी.एच. ग्रीन के प्रयास से आक्सफोर्ड में जर्मन प्रत्ययवाद दृढ़ हुआ। केयर्डों ने प्रत्ययवादी सिद्धान्त को धर्म से संयुक्त करने की चेष्टा की, हेगेल का अनुसरण करके कई ब्रिटिश चिन्तकों ने माना कि धर्म केवल(the absolute) की आत्म-बोध की उन्नत भूमियों में एक है, क्योंकि उस में दैवी-मानव (God man) और शुद्ध आध्यात्मिक नैतिकता की भावनायें हैं। यह भी याद रखना चाहिये कि इन के मत में आत्मा सम्पूर्ण स्वसम्वेदन (Self consciousness) जिस दशा में करता है वह दर्शन है, और तब वह सब विरोधों से और व्याघातों से अतीत होता है। कांट का अनुसरण करके कुछ अन्य ब्रिटिश चिन्तकों ने माना कि ईश्वर-भाव नैतिक सम्वेदन और श्रद्धा पर अवलम्बित है, और इस दिशा में निरूपण योग्य (demonstrable) ज्ञान नहीं हो सकता, यद्यपि विज्ञान इस विषय पर कुछ नहीं कह सकता। भारत में शिक्षण देने को आये हुए ईसाई धर्म प्रचारक किसी न किसी प्रकार के कांटवाद या हेगेलवाद, और अक्सर इन दोनों के एक प्रकार के सम्मिश्रण से, प्रभावित थे, जैसा कि केयर्डों में पाया जाता है। इन प्रचारक-शिक्षकों से प्रभावित होकर इस सदी की पहली पीढ़ी के भारतीय चिन्तकों ने प्रत्ययवाद को दर्शन का चरम विश्राम स्थान माना। उसी समय जो विश्वदृष्टि भारत में उद्भव हुई वह अद्वैत वेदान्त को सब से उत्तम दर्शन मानती थी। इस के कारण थे विवेकानन्द के प्रवचन और पश्चिम में उसको मिला हुआ सम्मान (स्वयं विवेकानन्द ऐसे शिक्षणालय में शिक्षित था)। इसलिये यह सहज ही था कि इस सदी के पहली पीढ़ी के भारतीय दार्शनिक अद्वैत वेदान्त से और कांट या हेगेल के दृष्टिकोणों पर आश्रित यूरोपीय प्रत्ययवाद से प्रभावित हुये। भारत अस्वतंत्र, दुर्बल था और रहन-सहन में उस के मान(Standard)पश्चिम के थे, और उस समय आंग्लो-अमेरिकन देशों में प्रत्ययवाद की विभिन्न रीतियां लोक-प्रिय थीं, जिन सब में "केवल" की, या अनुभवातीतवाद (Transcendentalism) की कुछ न कुछ छाया पड़ती थी और न्यायाश्रित सहेतुक ईश्वर मीमांसा का, सहेतुक नीति शास्त्र का कुछ हद तक लोप था। श्रद्धा, आध्यात्मिक अनुभव, एक प्रकार का रहस्यवाद, "केवल" को स्पष्टरूप से पुरुषोत्तम न मानना, न्याय व तर्क को सत्तामीमांसा में विशेष स्थान न देना—ये सब प्रवृत्तियां कांट और श्लायरमाकर, इन दोनों के प्रभाव से प्रोटेस्टेंट ईश्वर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मीमांसा में स्थान पाकर ईसाइयों की भारतीय शिक्षण संस्थाओं में प्रचलित थीं। ये प्रवृत्तियां वहां राधाकृष्णन आदि इस सदी के पहली पीढ़ी के दार्शनिकों में संक्रमित हुईं। अद्वैत वेदान्त में इन प्रवृत्तियों का कुछ हद तक सामंजस्य था और वह विवेकानन्द द्वारा पश्चिम में लब्ध-प्रतिष्ठ दर्शन हुआ। इसके अतिरिक्त नैतिकता और क्रिया इन पर गौरव रखना और इनको प्रमुख स्थान देना भी पश्चिम ने ही सिखाया, क्यों-कि ये भारतीय अवनति काल में लुप्त हुये थे। यह था इस सदी के पहले दशकों में इस देश का वातावरण, जिस से हम तब से शुरू हुई दार्शनिक स्थिति को समझ सकते हैं।

ब्राडले के अपीयरेंस एंड रियालिटी (१८९३) ने और बोसांके के वस्तुतन्त्रात्मक (Objective) प्रत्ययवाद ने भी भारतीय दार्शनिकों पर बहुत प्रभाव दिखाया। ब्राडले की "केवल" भावना और उसकी द्वंद्व तर्क (dialectic) पद्धति, जो हेगेल से प्रभावित होने पर भी स्वतंत्र थी, अद्वैत इवपथ के लिये और नागार्जुन, गौडपाद, श्रीहर्ष आदियों द्वारा आकर्षित दार्शनिकों के लिये अनुकूल थी। बेर्गसोन अपनी अन्तर्जातीय प्रसिद्धि की वजह से (उसे नोवेल सम्मान मिला था) और, अन्तर्दृष्टि व प्रज्ञा बुद्धि से उत्कृष्ट हैं, इस अपने सिद्धान्त से, जो रहस्यवादी चिन्तन के अनुकूल है, भारतीय दार्शनिकों के मनोनुकूल एक और चिन्तक हो गया। उपनिषद् और शंकरादियों के साक्षात्कार व अनुभवादि सिद्धान्तों तथा तर्काप्रतिष्ठित और बुद्धि-अतीत परम आदि भावों में रुचि रखने वालों को ब्राडले और बेर्गसोन अनुसरणीय चिन्तक दीख पड़े तो अचरज नहीं है। और भी एक बात है: वेदान्त, कांट और हेगेल से प्रभावितों का यह मत हो गया कि ठीक तरह का दर्शन सारे विश्व (यानी मानव, प्रकृति, और ईश्वर) को अपना विषय बनाने वाला सुव्यवस्थित दर्शन संस्थान नहीं हो सकता है। उस कारण जिन चिन्तकों ने व्यवस्थित दर्शनों का प्रतिपादन किया वे ही गण्य और अध्ययनीय चिन्तक हैं, ऐसी धारणा से प्रेरित हो भारतीय दार्शनिकों ने उस तरह के चिन्तकों का ही विशेषरूप से अध्ययन किया और उनसे प्रभावित हुये। इंगलैंड में इस सदी में व्यवस्थीकृत दर्शनों के निर्माण के प्रयत्न लायड मोर्गन, अलेग्जांडर और व्हायटहेड ही ने किये थे, और इनमें आखिरी दोनों (तत्रापि व्हायट हेड) बहुत सफल हुये। इसलिये इन तीन ने भी पिछली पीढ़ी के भारतीयों पर कुछ न कुछ छाप डाली। इस, और पिछले पैराग्राफों में उल्लिखित, सभी दार्शनिक अपने विचारों में "केवल" या ईश्वर को या अतिलौकिक दिव्यानुभूति को स्थान देते हैं, और ये सब भी धर्म के अनुकूल हैं।

इन विषयों का सोदाहरण निरूपण करने के लिये यहां कुछ कहूँगा। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के प्रमुख दार्शनिकों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिये सब से सुगम मार्ग है राधाकृष्णन-म्यांहेंड सम्पादित कांटेम्पोरेरी फिलासफी, जो पहले १९३६ में प्रकाशित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हुआ और जिसका परिवर्धित संस्करण १९५२ में निकला। इसमें १५ दार्शनिकों के निबन्ध हैं। उनमें एक पाकिस्तानी हो गया है, जिसका ज़िक्र नहीं करेंगे; बाकी चौबीस लोगों में तीन को छोड़ कर सब उन्नीसवीं सदी के अन्त में पैदा हुए थे, जिनमें सबसे कम उम्र के हैं रासबिहारी दास (ज. १८९७) और धीरेन्द्र मोहन दत्त (ज. १८९८)। इस शती में जो पैदा हुये हैं वे हैं: टी. आर. वी. मूर्ति (ज. १९०२), पी. टी. राजू (ज. १९०३) और हुमायूं कबीर (ज. १९०६)। इन चौबीस में से चौदह मर गये हैं (जहां तक मेरी जानकारी है)

ऊपर के चौबीस दार्शनिकों में उन्नीस किसी न किसी प्रकार के प्रत्ययवादी हैं। इनमें एक भी धर्म-विद्वेषी या भौतिकवादी नहीं है। इनमें केवल सात हिन्दू ऐसे हैं जिन्होंने अपने ऊपर अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त कुछ और दर्शनों के प्रभाव को भी माना है। इनमें दो—टैगोर और गांधी—की बात पहले कही गयी। अवशिष्टों में, आनन्द कुमारस्वामी यूरोपीय रहस्यवाद, वैदिक ऋचाओं, यूरोपीय मध्यकालीन दर्शन और तुलनात्मक दर्शन के विपुल अध्ययनों से प्रभावित था। दास गुप्ता पर जैन धर्म, सापेक्षतावाद (Relativity theory), मेक्टागार्ट और वार्ड का, एस. के. मैत्र पर अरविन्द और निकोलै हार्ट्मन का, टी. आर. वी. मूर्ति पर अद्वैत वेदान्त के साथ-साथ माध्यमिक बौद्ध दर्शन का,तथा पी. टी. राजू पर सांख्य, आगम और कठोपनिषद् (और शायद प्लोटैनस) का प्रभाव है। उस ग्रंथ में प्रस्तुत अहिंदू दार्शनिकों में से ए. आर. वाडिया अपने जरथुष्ट्र धर्म और यूरोपीय दर्शन के साथ साथ अद्वैत वेदान्त से भी बहुत प्रभावित था। जी. सी. चटर्जी, जो ईसाई है, और हुमायूं कबीर, जो मुसलमान है, इन दोनों पर किसी विशुद्ध भारतीय प्रभाव या अपने अपने धर्म का प्रभाव भी नहीं दीख पड़ता। पर कबीर की अन्य रचनाएं और भाषण टैगोर का प्रभाव दिखाते हैं।

इन पिछली पीढ़ी के भारतीय दार्शनिकों में एक ऐसा आदमी था जिसने दर्शन पर बहुत तो न लिखा किन्तु अनेकों पर अपनी छाप डाली और बहुतों को उससे सूचित भावों के या योजनाओं के आधार पर प्रेरणा मिली थी। यह व्यक्ति इस विषय में भी अनोखा है कि आरम्भ में हेगेल का अनुयायी होते हुए भी बाद में इस परिणाम पर पहुँचा कि वैष्णव मत का चतुर्व्यूहवाद, चतुष्क तर्क (Tetradic logic) और उसपर निर्भर दर्शन, हेगेल के त्रितय तर्क (Triadic logic) और तत्सम्बन्धी दर्शन से अधिक समीचीन है। यह व्यक्ति था बृजेन्द्र नाथ सील, जो इतना महाविद्वान था कि वह एक विश्वकोश (Encyclopeadia) समझा जाता था, और इतना मौलिक भावों का भंडार था कि उससे सम्भाषण ही गवेषणा करने वालों को उच्च शिक्षण था, और जिस का प्रभाव, परोपकार बुद्धि और युवा पंडितों को प्रोत्साहन देने की अभिलाषा अनुपम थे। उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय में आचार्य और मैसूर विश्वविद्यालय में उपकुलपति पदों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को अलंकृत किया था। दुःख की बात है कि उसने प्राचीन हिन्दुओं के व्यावहारिक व आनुभविक विज्ञानों पर लिखी गयी अपनी एक किताब के सिवाय और कोई ग्रंथ लिखा हो, सुनने में नहीं आया।

राधाकृष्णन्-म्यूरहेड की किताब से, भारत में संसदीय दर्शन किन प्रान्तों में और कहां तक प्रचारित हुआ, यह जाना जा सकता है। उसमें समाविष्ट दार्शनिकों में बारह बंगाली हैं, दो तामिल, दो आन्ध्र, दो गुजराती (शायद इनमें एक सिंधी है ?) दो महाराष्ट्री, एक उत्तर प्रदेश का, एक कर्नाटकी, एक इंडो-आंग्लेम और एक पारसी (जो बम्बई का है पर मैसूर में निवास करता था और फिर अब बम्बई में है) है। बंगाल से इतने दार्शनिक निकलने का कारण है कि पाश्चात्य प्रभाव का आघात पहले पहल बंगाल ने ही अनुभव किया, उसका उपयोग किया, और इसीलिये उन्नीसवीं सदी का पुनरुज्जीवन पहले वहीं आरम्भ होकर पुष्ट भी हुआ। कलकत्ते की ईसाई शिक्षण संस्थाओं में और विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभाग में(जब से यह स्थापित हुआ) देश के सब से अच्छे दार्शनिक थे। विश्वविद्यालय में सबसे प्रमुख थे सील और हीरालाल हाल्दार; कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य तथा राधाकृष्णन् भी उसी में थे। इन में भट्टाचार्य को तो कुछ लोग भारत के आधुनिक दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और इसके बारे में इस पुस्तक में आने वाले दो अध्यायों में बहुत कुछ लिखा गया है। राधाकृष्णन् तो सारी दुनियां में भारतीय संस्कृति व दर्शन के व्याख्याता के रूप में और एक प्रकार के आध्यात्मिक प्रत्ययवादी दर्शनकार के रूप में मशहूर है। उस ने दर्शन, धर्म और राजनीति का समन्वय अपने व्यक्तित्व और जीवन में सम्प्राप्त किया। साथ ही साथ वह वेदान्ती है और आधुनिक संसार में संलग्न होकर भी,उसको अवगाहन करके भी, उस को परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हुए भी, उस से अबद्ध है। वह जनक और मारकुस-अरीलियस इन दोनों को याद दिलाता है। इस तरह के आदमी कलकत्ता विश्वविद्यालय में शिक्षण देते थे तो उस का श्रेय आशुतोष मुकर्जी को है। इन लोगों के प्रभाव से और उन की दी हुई प्रेरणा (Momentum) से बंगाल अब तक भी संख्या और गुण की दृष्टि से भी अच्छे दार्शनिकों को उत्पन्न करता रहा है। अब तो मैत्र, चटर्जी, दास आदि बाद की पीढ़ी में आये हुए दार्शनिकों के भी अवकाश (Retirement) प्राप्त करने से कलकत्ता विश्वविद्यालय ज़रा सूना सा दिखाई देता है।

शिक्षण केन्द्रों की बात चली है इसलिये औरों के बारे में भी कुछ कहना उचित है। मद्रास के क्रिश्चियन और पचैयप्पा शिक्षण संस्थायें भी दर्शन अध्यापन के लिये प्रसिद्ध थीं। पी. एन. श्रीनिवासाचारी, डी. एस. शर्मा आदि ने, और कई ईसाई धर्म-प्रचारक अध्यापकों ने वहां कई छात्रों में ठीक तरह का दर्शन-प्रेम जगाया था। किन्तु वहां महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री (प्रेसिडेन्सी कालेज) और एस. एस. सूर्यनारायण शास्त्री

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(विश्वविद्यालय) के रहते हुए भी मद्रास कलकत्ते के समान दर्शनाध्ययन और गवेषण का केन्द्र नहीं हुआ। इस की वजह थी कि मद्रास में आशुतोष जैसा उपकुलपति नहीं था और दर्शन विभाग में एक दो आदमी ही होते थे। सूर्यनारायण शास्त्री ने वेदान्त-परिभाषा, मानमेयोदय, भामती, शिवार्कमणि दीपिका, सिद्धान्तलेश संग्रह इत्यादि ग्रन्थों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। इन में कुछ उस ने कुन्हन राजा से मिलकर किया था। संस्कृत आचार्य होते हुए भी राजा ने दर्शन में बहुत कुछ कार्य किया और कर रहा है। वह एक महान विद्वान और एक मौलिक चिन्तक भी है। टी. एम. पी. महादेवन् अभी कुछ वर्षों से मद्रास विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग को अच्छा गवेषणा केन्द्र बनाने में सफलता प्राप्त कर रहा है। इसके अतिरिक्त दक्षिण में आरम्भ से ही आन्ध्र विश्व-विद्यालय दर्शन का प्रधान केन्द्र रहा है, क्योंकि इसका दर्शन विभाग राधाकृष्णन् ने अपने उप कुलपति के काल में खोला था और स्वयं हर सप्ताह छात्रों की दो श्रेणियों को पढ़ाता था। शैलेश्वर सेन, हुमायून् कबीर, पी. टी. राजू, टी. ए. पुरुषोत्तम, अनेक वर्ष (कबीर इसका अपवाद है) इस विभाग में काम करते रहे। (इन में पहले के बारे में बाद में प्रस्ताव करूंगा, और आखिर का व्यक्ति आंध्र से मैसूर जा कर बहुत वर्ष वहां आचार्य रहा और अब तिरुपति विश्वविद्यालय की शिक्षण संस्थाओं का प्रिंसीपल है)। इसी तरह वाराणसी में मालवीय, भगवान दास और राधाकृष्णन् के सान्निध्य ने और एस. के. मैत्र, बी. एल. आत्रेय, टी. आर. वि. मूर्ति आदि विद्वानों के परिश्रम ने वहां के विश्वविद्यालय को दर्शन का प्रमुख केन्द्र बनाया। गोपी नाथ कविराज आदि संस्कृत कालेज के और सरस्वती भवन के पंडितों की, और प्राचीन परिपाटी के अनेक विद्वानों की उपस्थिति भी वाराणसी की दार्शनिक ख्याति को बढ़ाने में निमित्त थी। इलाहाबाद में गंगानाथ झा, रानडे और ए. सी. मुखर्जी, इन्होंने दर्शन के विकास के लिये बहुत काम किया। आमलनेर का इंडियन इंस्टीट्यूट आफ फिलासफी, जी. आर.-मालकानी के संचालन में आरम्भ से ही पश्चिमी भारत में अद्वैत वेदान्त का आश्रय रहा है। पिछले जमाने के बहुत अच्छे दार्शनिकों में से अनेकों ने इस इस्टीट्यूट में ही अपना विकास किया। अभी कुछ वर्षों से एन. वि. बनर्जी के कारण दिल्ली और काली दास भट्टाचार्य की वजह से विश्व भारती विश्वविद्यालय नाम पा रहे हैं।

राधाकृष्णन्-म्यूरहेड की किताब में समाविष्ट ऐसे तीन दार्शनिकों के बारे में, जिन की इस पुस्तक में चर्चा नहीं की गयी है, कुछ कहना चाहता हूँ। इनमें आनन्द कुमार-स्वामी अंग्रेज स्त्री और हिन्दू पिता की संतान था, सिंहल में पैदा हुआ था, लंडन में वृक्ष और भूगर्भ शास्त्रों में डी. एससी. लिया था, लौट कर सिंहल के खनिज विज्ञानीय निरीक्षण शाखा (Mineralogical survey) का संचालक और बाद में बोष्टन के ललित कला संग्रहालय का निर्देशक रहा था। उसने संस्कृत और कुछ यूरोपीय भाषाओं में बहुत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विद्वत्ता का अर्जन करके, दर्शन और धर्म पर अमूल्य किताबों की रचना की। उसके अनुसार दर्शन (फिलासफी) ज्ञान का प्रेम है और ज्ञान–प्रेमियों का सिद्धान्त है; वह ज्ञान (Knowledge) के बारे में विवेक (Wisdom) है। प्रायोगिक प्रदत्तों (Experimental data) से हेतुविचार (Reasoning) और तर्क (Dialectic) द्वारा विज्ञात और विज्ञेय वस्तुओं के बारे में जो ज्ञान है वही सब से अच्छा चिन्तन है, विज्ञान (Science) है। और एक दूसरे प्रकार का दर्शन है जो उन तत्वों की चर्चा करता है जो देश काल में स्थित हो कर भी उनसे अतीत है और पूर्णरूपेण निरूपण-योग्य नहीं है। "जैसा ऊपर वैसा ही नीचे भी" इस सूत्र के अनुसार उसकी प्रक्रिया "अतीतक" (The transcendental) से सर्वसामान्य का और विशेष का निगमन (induction) है। वह कहता है कि धर्म और अतिभौतिकवाद में तादात्म्य है। अतिभौतिकवाद मानता है कि हर आदमी अपने को सम्पूर्ण निश्शेष-निरास (Denial) करे, और (अवाङ्मानस) ईश्वर (God-head) में मर कर वहीं दफन करे। वह कहता है कि दर्शन तुलनात्मक धर्म से संलग्न होना चाहिये, क्योंकि तुलनात्मक धर्म सिद्ध करता है कि सब संस्कृतियां एक साधारण आध्यात्मिक व बौद्धिक भाषा की उपभाषाएं (Dialectics) हैं। कुमारस्वामी वेद, उपनिषद्, गीता, बौद्ध धर्म, सेंट थोमस, एरिजेना, आगष्टीन, सूफीमत इत्यादियों से प्रभावित था।

हरि दास भट्टाचार्य बहुमुखी और बहुग्रंथकर्ता था। उसके विचार में एक सार्वभौम निर्गुण आध्यात्मिक तत्व है जो नियमानुसार विश्व में कार्य करता है। आदमी प्रकृति में हस्तक्षेप नहीं कर सकता और व्यक्ति निर्दिष्ट प्रकार (Type) से भिन्न नहीं हो सकता। एक ऐसा अविनाशी आणविक व्यष्टि (Unit) नहीं है जिसको हम बौद्धिक आत्मा कह सकते हैं। मन संघटन का और चयनात्मक क्रिया (Selective action) का सूत्र है, और यह जीव की शारीरिक रचना से अत्यंत सम्बद्ध है। भौतिक पदार्थ (Matter) भाव मात्र नहीं है, वह आध्यात्मिक भी नहीं है, भौतिक संसार पदार्थ है। व्यक्ति की सम्पूर्णता और व्यक्ति की अमरता के आदर्शों की साधना, भट्टाचार्य के अनुसार, स्वार्थयुक्त है। इस से देखा जा सकता है कि इसका दर्शन अद्वैत वेदान्त के अति–भौतिकवाद और नीतिवाद से और प्रसिद्ध पाश्चात्य प्रत्ययवादी दर्शनों से भिन्न है।

रास विहारी दास एक मशहूर भारतीय दार्शनिक है जो प्रत्ययवादी नहीं है, तो भी कुछ अंशों में वैसा होना चाहता है। हेतुवादी और यथार्थतावादी या वस्तुवादी (Realist) हो कर भी वह संशयवादी है और चरम मूल्यों में विश्वास करता है। विज्ञान और जीवन (जिस में सब अनुभव समाविष्ट है) पर विमर्शात्मक मनन उसके लिये दर्शन है। उसका दर्शन बौद्धिक ज्ञान है जो विज्ञान की तरह सिखाने–सीखने के योग्य है, अन्त-र्दृष्टि या प्रज्ञा से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। दास का मनन समाज या व्यावहारिक दृष्टि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से बाधित नहीं है। उसके मत में प्रत्यक्ष ज्ञान का एक सरल, प्रधान मार्ग है। ज्ञान का विषय ज्ञान-क्रिया से स्वतंत्र है। इस प्रकार दास वस्तुवादी है। आदमी और उसके देह में तादात्म्य है, शरीर के मरण से वैयक्तिक चैतन्य अन्त होता है। विमर्शात्मक मनन संशय से आरम्भ होकर उसी पर निर्भर है, इसलिये दर्शन उसके मन में हमेशा कुछ हद तक संशयवादी होता है। वह मानता है कि मानव संशयवादी होते हुए भी सत्य, स्वातंत्र्य और प्रेम में विश्वास कर सकता है। ये मूल्य पदार्थ नहीं हैं, ये चरम साध्य हैं, किसी अर्थ में ये अत्यन्त यथार्थ हैं और बुद्धि से आकलनीय हैं। दास अपने को व्यावहारिक (Practical) प्रत्ययवादी कहने के लोभ को दूर नहीं कर सका। यह दिखाता है कि कल तक आधुनिक भारत में प्रत्ययवाद की प्रतिष्ठा कितनी थी और कैसे हर तरह का दार्शनिक अपने को प्रत्ययवादी घोषित करने को उद्यत था।

अब मैं ऐसे कुछ दार्शनिकों के बारे में कहना चाहता हूँ जो लगभग इस सदी के आरंभ में पैदा हुए थे, और जो उपर्युक्त या इस किताब के आने वाले अध्यायों में समाविष्ट नहीं हुए। शैलेश्वर सेन कलकत्ते में स्काटिश चर्च कालेज में अरकार्ट आदि का छात्र था। आम्स्टर्डम में फाड़ेगान के पास गवेषणा करके उसने डाक्टर की उपाधि ली। लौट आकर वह कुछ काल अन्नमलै विश्वविद्यालय में काम करके आँध्र विश्व—विद्यालय में आया और लगभग तीस वर्ष वहीं काम किया। व्हाइटहेड तथा रस्सेल के संज्ञा तर्क का मूल्य ग्रहण करने वाले भारतीयों में सेन पहला था। सेन ने उस का अध्ययन करके नव्यन्याय के लक्षणों के विवरण और विस्तार के लिये उसका इस्तेमाल किया। नव्यन्याय को पाश्चात्य संज्ञा-तर्क के आलोक में अध्ययन करने के इस मार्ग-दर्शक प्रयत्न का इन बीते हुए दस सालों में हार्वर्ड के डी. एच. इंगल्स ने और मिन्नेसोटा के कार्ल पाटर ने सफल अनुसरण किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रधानाचार्य पदवी से अवकाश प्राप्त एस. के. मैत्र अव्वल दर्जे का विद्वान है। उसने हिन्दुओं के नीतिवाद, माध्व तर्क और गीता पर पुस्तकें और बहुत निबन्ध लिखे। वह वेदान्ती और प्रत्ययवादी है। एस. सी. चटर्जी ने (उसने भी कलकत्ता विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त किया) न्यायप्रमाणमीमांसा पर एक प्रधान पुस्तक पहले-पहल लिखी, बाद में डी. एम. दत्ता से मिलकर भारतीय दर्शन पर एक लोकप्रिय पाठ्य पुस्तक लिखी। हिन्दू धर्म पर भी उसकी किताब है, और उसके वैदुष्यपूर्ण निबन्ध भी अनेक हैं। वह विश्वास करता है कि एक समन्वयात्मक व्यापक विश्वदर्शन साध्य है।

वसन्त कुमार मल्लिक ने अपने चार ग्रंथों में भावनाओं की एक प्रणाली आविष्कृत की है; दि रीयल अंड दि नेगेटिव, रिलेटिड मलटिप्लिसिटि, दि टावरिंग वेव, और नान-एब्सोल्यूट्स। "केवल" का पूरी तरह परित्याग करके मल्लिक ने "विच्छिन्न तत्व"(Dis-continuous reality) और अविच्छिन्न तत्व (Continuous reality) ऐसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दो भावनाओं का ग्रहण किया। इनमें पहला, सत् और असत् (जब वे अपनी सम्बद्ध अवस्था में हैं) से बनता है तो दूसरा उन्हीं से, जब वे असम्बद्ध और अलग-अलग हैं, से बनता है। अविच्छिन्न आनुभविक संसार है; सत् और असत् दोनों समान तथ्य और मूल्य वाले हैं; ये दोनों परस्पर पूरक और निष्फलकारक (Frustrating) हैं, और इस द्वंद्व का सम्बन्ध ही विश्व है। मल्लिक समझता है कि उसने इन दोनों "अ-केवलों" (Non-absolutes) के इतिहास का विवरण किया है जिसमें उसने यह दिखाया है कि ये दोनों कैसे सम्बद्ध होने पर भी विलक्षण या पृथक्-पृथक हैं, और कैसे परस्पर संप्रयोजन और सहकार करते हुए भी एक दूसरे को निष्फल करते हैं। इसका पर्यवसान है यह विश्व जिसमें संघर्ष, भ्रम (illusion) और निष्फलता है। मल्लिक के मत में, हमारा कर्तव्य सब मूल्यों का निषेध व प्रत्याख्यान है, किन्तु उनकी अनुभव-प्राप्ति नहीं है। इसका अर्थ यह है कि संन्यास व तप (Austerity) ही अवलंबनीय है, और भ्रम का निवारण होना चाहिये। सुख या संतोष के लिये प्रयत्न करना निरुपयोगी है, क्योंकि उसका फल भ्रम ही होगा। चिन्तन भ्रम का निर्मूलन करता है और आशा को पूरा करता है। संसार से निवृत्ति,सन्यास, नैतिकतावाद, मूल्यों की प्राप्ति के प्रयत्न से विरमण, यह मल्लिक का उपदेश है। मल्लिक का दर्शन एक व्यवस्थीकृत दर्शन-निर्माण करने के लिये किया हुआ प्रशंसनीय, मौलिक, दृढ़, आधुनिक भारतीय प्रयत्न है। उसकी व्यवस्था में ईश्वर को या "केवल" को स्थान नहीं है, उसका दर्शन "सम्बद्ध द्वैतवाद" (Related dualism) है। किसी भारतीय या यूरोपीय दर्शन पर आश्रित न होकर उसने केवल तर्क पर अपने दर्शन को स्थिर करने का प्रयास किया है। संसार का प्रतिबन्धक और सन्यास का समर्थक उसका यह प्रतिपादन नया तो नहीं है,किन्तु उसने मौलिक मार्ग से इसका प्रतिपादन किया। मल्लिक का चिन्तन गंभीर और मौलिक दीखता है।

प्राविधिक दार्शनिक (Technical Philosopher) न होते हुए भी स्वामी ज्ञानानन्द भारत में विशेष स्थान रखता है, क्योंकि दर्शन का अध्ययन करके विज्ञान और दर्शनों का समन्वय करने वाला प्रमुख भारतीय वैज्ञानिक यह एक ही है। कौमार्य में यह परिव्राजक बन कर हिमालयों में चला गया, और वहां लगभग दस साल हिमाच्छादित गुफाओं में रहकर हठ तथा राजयोगों की साधना करके सिद्ध हुआ और बुद्ध की तरह यह जाना कि सिर्फ यौगिक अन्तर्दृष्टि ही पर्याप्त नहीं है, यह हेतुवाद और विज्ञान से परिपुष्ट होना चाहिये; और ये दोनों अन्तर्दृष्टि से विकसित न हों तो संकुचित और अपर्याप्त रह जाते हैं। इसलिये वह यूरोप चला गया और वहां जर्मनी और जैकोस्लोवाकिया में बहुत साल रह कर गणित और भौतिक शास्त्र का अध्ययन करके प्राग् विश्वविद्यालय से डी. एससि. लिया, फिर ब्रिटेन आ कर केंब्रिज में सर जेम्स छाडविक के साथ परमाणु विज्ञान में गवेषणा की। लिवरपूल विश्वविद्यलय से पी. एचडि. लिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और वहां से अमेरिका जाकर मिचिगन विश्वविद्यालय में कुछ साल परिशोधन किया। भौतिक शास्त्र के गहन विषयों पर और परमाणु-केंद्र विज्ञान (Nuclear Physics) पर इस ने अनेक उपादेय मौलिक पुस्तकें और निबन्ध लिखे हैं। यह दिल्ली में राष्ट्रीय भौतिक-शास्त्र प्रयोगशाला में उप संचालक रह चुका है और अब आठ साल से आंध्र विश्वविद्यालय में परमाणु-केंद्र विज्ञान के आचार्यपीठ को अलंकृत कर रहा है। बर्कले, कांट—इन दोनों के दर्शनों से, और योग-वेदान्त सिद्धान्तों से यह प्रभावित है। इसकी दर्शन सम्बन्धी रचनाओं में "दार्शनिक महाप्रवचन" प्रमुख है, और अंग्रेज़ी में लिखी गयी कविता और निबन्ध भी हैं। अनुभवातीतवाद, हेतुवाद और अनुभववाद का समन्वय करने की जरूरत है और वह साध्य है, क्योंकि स्वतः इनमें से एक भी वाद सम्पूर्ण नहीं है, और रहस्यवादी अन्तर्दृष्टि पर आधारित दर्शन तथा विज्ञान ये परस्पर पूरक हैं, समग्र-सत्ता-दर्शन इन दोनों के आधार पर ही बन सकता है, यह इसका मत है। आधुनिक युग में विज्ञान और आध्यात्मिकता का समन्वय होना चाहिये, यह प्राचीन ढंग के धर्म और राजनीति का युग नहीं रह सकता है, विनोबा भावे की इस उक्ति को प्रधान मंत्री ने एक महावाक्य के तौर पर बहुत बार उद्धृत किया है। इसका सत्य स्वामी ज्ञानानन्द ने बहुत साल पहले ही अवगत किया और आचरण में रखा। पश्चिम में बहुत वैज्ञानिकों—आईंस्टीन, डी. ब्राल्, माक्स प्लांक, एडिंगटन् आदि—ने दर्शन में सिर्फ आसक्ति ही नहीं दिखाई बल्कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों का दर्शनीकरण (Philosophisation) करने का प्रयत्न भी किया, एशिया में तो ज्ञानानन्द शायद इस तरह का उद्यम करने वाला एकमात्र है।

इस पुस्तक में प्रस्तावित व्यक्तियों के या इस में पाये जाने वाली कल्पनाओं (उदा. डा० सम्पूर्णानन्द का वाद कि जब हिन्दुओं की ईश्वर और मानव सम्बन्धी भावनायें सिमेटिक धर्मों के प्रभाव में आ गईं और जब योग के स्थान को भजन ने आक्रमण किया तब से विचार-स्वातन्त्र्य और मानव-प्रयत्न भारत में गायब हुए) के बारे में मैं कुछ नहीं कहूंगा, क्योंकि तब तो यह एक "सिम्पोजियम" हो जायगा। फिर भी सुरेन्द्र नाथ-दास गुप्ता के बारे में कुछ कहना ही पड़ता है,यद्यपि उसके विषय में दो जगह दो लेखकों ने प्रस्ताव किया है। दास गुप्ता से लिखा गया भारतीय दर्शन का इतिहास एक चिरस्थायी और अमूल्य महान कृति है। वह कहीं भी "अमूल" नहीं है, और पक्ष-पातरहित व वस्तुतंत्र है। उसमें प्रदर्शित विद्वत्ता प्रगाढ़ और आश्चर्यावह है। उसने मूलग्रंथों का शब्दार्थपरक व्याख्यान किया है और उनके तात्पर्य ग्रहण में प्राचीन टीकाओं पर ही निर्भर रहा; इसलिये यह हो सकता है कि कई दार्शनिक सिद्धान्त और प्रस्थान विचार और अनुभव के अनुकूल न दीख पड़ें। इसमें तो दास गुप्ता का दोष कैसे हो सकता है? भारतीय प्रत्ययवाद और योग पर उसकी पुस्तकें प्रामाणिक हैं। इतना ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं, उसने दर्शन की एक स्वतंत्र रीति से वृद्धि की है। लेकिन क्या इसे प्रत्ययवाद कह सकते हैं? दास गुप्ता स्वयं कहता है कि उसे "केवलवाद" (Absolutism) से तीव्र अरुचि हुई, जिसका कारण था जैन धर्म का सापेक्षवाद (Relativity theory), मेक्टागार्ट, मूर, वार्ड, इन सबका प्रभाव। जयतीर्थ और व्यास राज आदि द्वैतवादी तार्किकों के अद्वैत खंडनों को वह अद्वैतियों के वादन्यायों से अधिक सुसंगत और अद्वैतवाद से अप्रत्याख्यानित मानता है। वह हमारे सारे अनुभवों के व्यवस्थीकृत विवरण को ही दर्शन मानता है और कहता है कि ऐसा विवरण करते समय दर्शन को अनुभवों के परस्पर सम्बन्धों को दृष्टि में रखना चाहिये, और इन अनुभवों द्वारा निर्दिष्ट (Denoted) घटनाओं या दृश्यों (Phenomena) का निरूपण भी करना चाहिए। इस अर्थ में वह हेगेल, स्पिनोजा और शंकर को दार्शनिक ही नहीं मानता। उसके अनुसार, हमारे मूल्य सम्बन्धी भावों से ईश्वर का उद्गम (Emergence of God) होता है। (शायद यहां अलेग्जांडर, मोर्गन और ड्यूई का प्रभाव पड़ा है)। वह प्रत्ययवादी हो या न हो, एक मौलिक चिन्तक जरूर है। भारतीय दर्शन में इतने महान विद्वान का वेदान्त-सम्प्रदाय से अलग हो जाना और कर्म, पुनर्जन्म, श्रुति-प्रामाण्य आदि, जो विश्वास हिन्दुओं के माने जाते हैं, उनका परित्याग करना, और तर्क व अनुभव पर अवलंम्बित दर्शन का निर्माण करने का प्रयत्न करना— ये सब बातें इस सदी के पूर्वार्ध के भारतीय संसदीय दार्शनिकों में अपूर्व हैं। दास गुप्ता का साहस और विद्वत्ता भी अनुकरणीय हैं।

राधाकृष्णन्—म्यूरहेड ग्रंथ में, और इस पुस्तक के अगले अध्यायों में, समाविष्ट न होने वाले कई प्रमुख दार्शनिक हैं। जब्बलपुर के सी. डी. शर्मा ने भारतीय दर्शन पर और वेदान्त-तर्क पर विद्वत्तापूर्ण सुस्पष्ट ग्रंथ लिखे हैं। पटना का एच. एम. झा संस्कृत में अच्छा पंडित है, उसके दार्शनिक निबन्ध और मैथिली साहित्य सम्बन्धी रचनाएं प्रसिद्ध हैं, और सुना है कि उसका नव्यन्याय (आधुनिक प्रतीक—तर्क विषयक गंभीर अध्ययन का फल) प्रकाशित होने वाला है। श्रीमती एस.एन. दास गुप्ता (लखनऊ) ने अपने पति को उसकी महान कृति के आखिरी भाग को लिखने में सहयोग दिया था और स्वयं भारतीय नैतिक दर्शन पर लिखा है। तिरुपति के के. सी. वरदाचारी ने रामानुज दर्शज और भक्तिवाद पर लिखा है और डी. टी. ताताचार्य (जो एक बहुत अच्छा मीमांसक और विशिष्टाद्वैत वेदान्ती है) से मिल कर रंगरामानुज के उपनिषद् भाष्यों का अनुवाद किया है। एस. के. सक्सेना (पहले सागर विश्वविद्यालय में, अब होनोलूलू में) के चैतन्य पर थीसिस और बहुत उत्तम निबन्ध प्रकाशित हुये हैं। जि. मिश्र (उत्कल), जो एयर का विद्यार्थी था, भाषा विश्लेषण में की गयी अभिवृद्धि की दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का अध्ययन कर रहा है। एन. के. देवराज ने, जो वाराणसी विश्व–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies: AAIS(USA)

विद्यालय में एक प्रधान आचार्य-पीठ को अधिष्ठित कर रहा है, संस्कृति के दर्शन में अत्यन्त प्रशंसनीय और महिमान्वित अध्ययन किया है। भारतीय दर्शन और संस्कृति पर इसने हिन्दी में अनेक ग्रंथ लिखे हैं और यह एक प्रमुख साहित्यिक भी है। देवराज के पांडित्य, मौलिकता और उत्साह आधुनिक भारतीय दर्शन जगत् के किसी भी व्यक्ति से कम नहीं हैं। संस्कृत में निष्णात होकर भी, और शंकरादियों का गहरा अध्ययन करके भी, वह खुला मन रखता है और पश्चिम के दर्शनों का तथा विशेषतः भाषा विश्लेषणादि नूतन आन्दोलनों का मार्मिक विद्वान है।

राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन, जगदीश काश्यप आदि बौद्ध पंडितों ने बौद्ध दर्शन का आधुनिक भारत में पुनरुद्धार करके तथा बौद्ध सिद्धान्तों के ऊपर प्रशंसनीय गवेषणा करके अमूल्य कृतियां प्रकाशित की हैं। इनमें राहुल अत्यन्त प्रतिभावान तथा बहुमुखी विद्वान है। यह मौलिक चिन्तन करने वाला और लोगों में प्रचलित धारणाओं को हेतुवाद की कसौटी पर रख कर उनकी निर्मम परीक्षा करने वाला है। इसके निबन्ध, सम्पादित प्राचीन महा ग्रंथ, बौद्ध धर्म पर लिखी गयी किताबें, तथा "दर्शन-दिग्दर्शन" आदि कृतियां महत्वपूर्ण हैं। काश्यप त्रिपिटकों के संपादन में अमूल्य अनुसन्धान कर रहा है। इसी तरह जैन पंडितों में भी सुख लाल टाटिया आदि जैन धर्म और तत्व-मीमांसा की व्याख्या करने में दत्तचित्त हैं।

चीनी, जापानी, तिब्बती, मंगोलियन आदि मध्य एशियायी भाषाओं में और पाली, प्राकृत, अर्धमागधी आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं में निक्षिप्त दार्शनिक अन्तर्दृष्टियों को और भावों को, मूल ग्रन्थों के अनुसंधान द्वारा समझकर उनकी व्याख्या और उनके अभ्युपगमों की वृद्धि करने में अभी तक भारतीय विद्वानों ने अच्छा कार्य नहीं किया। पाश्चात्य विद्वानों ने तो इस दिशा में बहुत कुछ किया है। ग्रीक, यूरोपीय और अमेरीकी दर्शनों का अध्ययन जैसा लाभप्रद और उत्तेजक सिद्ध हुआ उसी तरह मध्य एशिया और दूर प्राच्य के दर्शनों में निहित कल्पनाएं और प्रज्ञादृष्टियां भारतीय दर्शन को बहुत उपयोगी हो सकती हैं। यूरोप, अमेरिका तो सिनालजी, एजिप्तालजी आदि में अध्ययन, शिक्षण और अनुसंधान करके अपनी बुद्धि को विशाल और परिपुष्ट कर रहे हैं, भारत को भी केवल एकमुखी होकर पश्चिम के और अपनी परम्पराओं के ही संकुचित एक-देशीय ज्ञान से तृप्त न होकर सारे मानवों की पैतृक सम्पत्ति की अपनी विरासत पहिचान कर उसका उपयोग करना चाहिये।

१९२० से इंगलैंड में दार्शनिक परिस्थिति बदल गई। उसके पूर्व दर्शन के विद्यार्थी और शिक्षक भी धर्म से प्रभावित थे, और या तो चर्च से सम्बद्ध थे या उसमें काम करने के उद्देश्य से दर्शन का पठन-पाठन करते थे। ईश्वरमीमांसा की समस्याओं में उनकी अत्यन्त आसक्ति थी। १९२० से यह सब न रहा। वैज्ञानिकों के भौतिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और जीवशास्त्र सम्बन्धी अन्वेषण और आविष्करण दर्शन के विद्यार्थियों पर सबसे अधिक प्रभाव डालने लगे। शिक्षक और शिक्षित भी तब से चर्च वाले नहीं रहे। दर्शन स्वतंत्र विभाग बन कर ईश्वरमीमांसा, अर्थशास्त्र और मनश्शास्त्र से अलग हो गया। अरिष्टोटेलियन सोसायटी नामक संस्था और माइंड नामक पत्रिका ने (यह १८७६ में शुरु हुआ) दर्शन में दार्शनिक विवादों और निबन्धों को रिवाज बना दिया। अखबारों के लिये लिखी गई रचनाओं में व्यापक दर्शन-प्रस्थानों का विस्तार नहीं किया जा सकता, किन्तु दार्शनिकों में होने वाली चर्चाओं के लिये और सीमित दार्शनिक परिवार के लिये लिखे गये निबन्ध वाद-पद्धति और तर्क में भी अधिकतर सुसंगत, सुसंघटित और पारिभाषिक हो गए। वैज्ञानिक पद्धति में, गणित-तर्क में, सम्भावना-विचार में, निगमन और संख्यान (Statistics) में बहुत प्रगति हुई। रसेल-व्हायटहेड का प्रिंकिपिया मेथेमेटिका १९१० में प्रकट हुआ तो जी. ई. मूर का प्रत्यय-वाद का खंडन १९०३ में, और उसका व्यावहारिक या लोकदृष्टि मंडन १९२५ में प्रकट हुआ, तथा विट्गेनस्टाइन का ट्राक्टेटस १९२१ में। दर्शन निरूपण-योग्य प्रतिपत्तियों (Demonstrable Theorems) पर और अभ्युपगमों के प्रमाणीकरण (Verification of hypotheses) पर निर्भर नहीं तो, यानी वह विज्ञान नहीं है तो, और क्या है? दार्शनिक चिन्तन की सुसंगति (Cogency), दृढ़ता (rigour), और यथार्थता (Correctness) किस तरह प्रतिष्ठित होगी? ऐसे प्रश्नों का समाधान पाने के यत्न विश्लेषण-पद्धति (Analytical method), तार्किक अणुवाद (logical atomism) और भाषा-विषयक कुतूहल में पर्यवसित हुए। १९२० से ही इंगलैण्ड में तो ये परिणाम प्रचलित हुए लेकिन इन्होंने भारत पर द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने तक विशेष प्रभाव नहीं डाला। प्रत्ययवाद के किसी न किसी प्रकार के सिद्धान्त से, या कांट-मत तथा विकास सिद्धान्त (Theory of evolution) से प्रभावित भारतीय की, जिसके मत में दर्शन "विश्व को क्रमक्रमेण, खंडशः नहीं, अपितु किसी तरह उसके सामस्त्य में, अवगत करने का प्रयत्न" है, (ब्रैडले) उनकी इन नूतन रीतियों में रुचि न हुई। चालीस वर्ष से अधिक उम्र वाले भारतीय दार्शनिकों में इस नूतत दार्शनिक आन्दोलन को श्रद्धा से समग्र अध्ययन करके, सम्वर्धित उपायों और साधनों का सफल उपयोग करके दार्शनिक चिन्तन कर सकने वाले शायद एक-दो से अधिक नहीं होंगे। लेकिन दूसरे विश्व-संग्राम के बाद इसमें आसक्ति बढ़ रही है। इंगलैंड या अमेरिका जाकर जो तीन चार आदमी इस नए ढंग की दर्शन-रीति के अनुयायी बन कर लौट आये वे बहुत समर्थ और उदीयमान दीख रहे हैं। एक दो तो बिना विलायत गये ही इन नूतन वादों के अनुमोदक हुए हैं। ये लोग अपने भावों को विवादों में और निबन्धों में अकसर व्यक्त करने में दक्ष हैं और अन्यविध दर्शनों पर आक्रमण करने में जरा भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं हिचकिचाते। भारतीय दर्शन में इस तरह प्रत्यक्षमत्तावाद और विश्लेषण का प्रवेश हुआ है।

भारतीय दर्शन पर अन्य प्रकार के प्रभाव स्पष्ट-रूप से नहीं दीख पड़ते हैं। इंडियन फिलासफी कांग्रेस में गत आठ-दस साल से प्रस्तुत निबन्धों और वहां की गई चर्चाओं से, और संसदीय दार्शनिकों से प्रकाशित पुस्तकों से, अस्तित्ववाद (Existentialism), मार्क्सवाद, भौतिकवाद और व्यावहारिक सत्यतावादों का प्रभाव गणनीय नहीं दीखता है। शायद इन में एक-एक वाद के एक या दो अनुयायी हैं। कलकत्ते के जे. एन. मोहंती पर प्रदृश्यतावाद (Phenomenalism) का प्रभाव है, वह एक समर्थ उदीयमान चिन्तक है। संस्कृत का अच्छा पंडित होकर भी वह यूरोपीय दर्शन में ठीक तरह से निष्णात है। यह आशा की जा सकती है कि भारत के होनहार दार्शनिकों में वह एक प्रमुख स्थान लेगा। आंध्र का के. रामकृष्ण राव व्यावहारिक सत्यतावाद से व्यामुग्ध है, उस से भी बहुत कुछ आशा की जा सकती है। मोहंती ने गोयटिंगेन में और राव ने चिकागो में अध्ययन किया है, वहां ये भाव उन में संक्रमित हुए। परिणत वयस्कों में रामानुज या मध्व आदियों के वेदान्त सम्प्रदायों को अवलम्बन करने वाले कुछ लोग हैं, लेकिन इन से शंकरानुयायी ही शायद ज़्यादा होंगे। किसी न किसी प्रकार के प्रत्ययवाद या रहस्यवाद को अंगीकार करने वाले भी कुछ विचारक अभी हैं। कुछ वर्षों से के. सि. भट्टाचार्य के प्रशंसकों और अनुयायियों की संख्या बढ़ रही है। इस नव-वर्धमान आसक्ति के कारणों में एक यह है कि हाल ही में उसकी संगृहीत रचनाएं दो सपुटों में प्रचारित हुईं, और उस के कुछ मुख्य बन्धु, जो विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर हैं, उसके कुछ अनुरागी शिष्यों से मिलकर उसके दर्शन का अध्ययन और प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रतिभावान् चिन्तक की रचनाओं का दक्षिण भारत में और बंगाल से अतिरिक्त भारत के दूसरे प्रान्तों में भी अध्ययन करने की आवश्यकता है।

अरविन्द दर्शन के अनुयायी और एम. एन. राय के अनुचर भी कहीं कहीं हैं। अरविन्द दर्शन के प्रचार के लिये पंडिचेरि में एक संस्था, अखबार और प्रकाशन हैं। नलिनी कान्त गुप्त, अनिलवरण राय, इन्द्र सेन आदि अरविन्दानुयायी उल्लेखनीय हैं। जे. एन. छब भी अरविन्द से बहुत प्रभावित हैं, किन्तु उसका चिन्तन मौलिक और स्वतंत्र है। सुना है कि महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री चावन और बम्बई विश्वविद्यालय के रेक्टार पारीख एम. एन. राय से कुछ हद तक पभावित हैं। कलकत्ते में तो राय के विचारों का प्रचार करने वाली संस्था और अखबार हैं। बहुतेरों का तो सावधानी और स्पष्टता से गृहीत दार्शनिक परिप्रेक्ष्य (Perspective) नहीं है, यह लोग किसी आंदोलन या सम्प्रदाय से संलग्न नहीं हैं।

कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान, संस्कृति और समाज, शिक्षण और अभिरुचि के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुसार किसी न किसी दर्शन को चुन कर आत्मसात् करता है, और प्रतिभाशाली तो इन्हीं के अनुसार मौलिक दार्शनिक सिद्धान्त या प्रस्थानों का उपपादन करता है। कोई भी व्यक्ति विश्व की सभी दार्शनिक व्यवस्थाओं का या सिद्धान्तों का पक्षपात-रहित अध्ययन और मूल्यांकन करके उनमें से सब से अधिक हेतुपूर्ण और सुसंगत व्यवस्था को ही न चुन सकता है और न अपने द्वारा प्रपंचित या स्वीकृत सिद्धान्त या प्रस्थान को ही सब से उत्तम और सम्पूर्ण सिद्ध कर सकता है। अपने को सम्मत दर्शन को ही उत्तम अधिकारियों से स्वीकरणीय समझना, या किसी प्रचलित दार्शनिक रीति (Current philosophical fashion) को ही उस से पूर्व के सभी दर्शनों से अधिक विकसित और चरम (Final) मानना अविवेक है। केयर्डो, ब्राडले, बोसांके और ग्रीन के युग में भारतीय शिक्षित वर्ग सामान्यतः प्रत्ययवाद को ही सच्चा और श्रेष्ठ दर्शन समझते थे, और अब विट्गेनस्टाइन, विज़डम, राइल, एयर आदि ब्रिटिश दार्शनिक संसार पर राज कर रहे हैं। इसलिये नई पीढ़ी के कुछ लोग केवल विश्लेषण को ही दर्शन मानते हैं। आंग्लो-अमेरिकन देशों में प्रचलित विचार और जीवन-रीतियों को विना विमर्श किये उधार लेना और उनकी पुनरावृत्ति या अनुकरण मात्र करने का अस्वतंत्रता के दिनों में भारत के वहुत से लोगों को अभ्यास हो गया। यह औपनिवेशिक मनोवृत्ति (Colonial mentality) हमारी बुद्धि को व्यामोहित करती है और हमारी आत्माभिवृद्धि की प्रतिबन्धक बनती है। जो कुछ भी हमें दिग्भ्रम पैदा करके और स्वस्थता से च्युत करके हमारी विचार-शक्ति को बलहीन कर देता है और हमको स्वाभाविक रीति से भाव प्रकट नहीं करने देता, वह त्याज्य है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम पश्चिम से कुछ भी न लें, क्योंकि जैसा इस निबन्ध के आरम्भ में दिखाया गया है, सम्पर्कराहित्य और व्यावर्तक अनन्यत्व (isolation and exclusion) के कारण ही भारत में दर्शन का पतन हुआ। भारत को याद रखना है कि हम अब भी ऐसे संसार में हैं जिस पर यूरोपीय मन और पाश्चात्य संस्कृति का राज्य है। जो कुछ भी अपने आप को, अपने इतिहास और वर्तमान परिस्थित को, समझने के लिये उपयोगी है उसको कहीं से भी परीक्षा करके विवेक के साथ ग्रहण करना चाहिये और अपने विचार और जीवन को सुसम्पन्न बनाने के लिये, उसकी अभिवृद्धि करके पुरोगमन करने के लिये, नये प्रकार की चिन्तना-पद्धतियों का आविष्करण करने का प्रयत्न करने के लिये, और उनके द्वारा उत्तमतर जीवन और कार्याचरण के विधानों का उद्भावन करने के लिये, उसका इस्तेमाल करना चाहिये।

बहुत लोग मानते हैं कि भाष्यकारों के बाद भारत में कुछ भी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक काम नहीं हुआ। ऐसा मैं भी एक समय मानता था। यह ग़लत है। उन्नीसवीं सदी में व्यवस्थात्मक चिन्तक (Systematic thinkers) भारत में थे, यह ऊपर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दिखाया गया है। बीसवीं सदी के असंसदीय और संसदीय चिन्तकों को दृष्टि में रखें तो यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि यहां की दार्शनिक कृषि परिमाण और मूल्य में भी किसी और देश के निर्वाहण से कम नहीं है। यह तो शायद निर्विवाद है कि इस आधुनिक काल में यहां प्लेटो, अरिस्टोटल, याज्ञवल्क्य, बुद्ध, नागार्जुन, शंकर, कांट के प्रतिद्वंदी पैदा नहीं हुए। लेकिन इंगलैंड में भी ह्यूम से तुलनीय चिन्तक तो ब्राडले, मूर, रसेल के आने तक कोई नहीं था, और बहुत लोग मानते हैं कि यह तीन भी ह्यूम से अत्यंत अवर हैं। इसी तरह जर्मनी में भी कांट, हेगेल से समानता कर सकने वाले क्या फिर अवतक उत्पन्न हुए? अमेरिका में भी जेम्स, पेर्स, ड्यूई के बाद उनके समान दार्शनिक अबतक नहीं हुआ। विचारों की एक महान व्यवस्था (a great system) को ही दर्शन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो बुद्ध और षड्दर्शनों के मूल चिन्तकों को छोड़ कर भारत में और कोई दार्शनिक ही नहीं होगा, और देकार्त के बाद फ्रांस में भी कोई दार्शनिक न होगा। तर्क-विज्ञान और लोक-व्यवहार, नित्य अनुभव या भाषा केवल इनको लेकर ही चिन्तन करने वालों को दार्शनिक कहें तो, इतिहास में लब्ध-प्रतिष्ठ बहुत दार्शनिकों को छोड़ देना होगा। धर्म, ईश्वर, रहस्यानुभव—इनसे सम्बन्धित विचार भी, यानी ब्रह्मजिज्ञासा भी, दर्शन ही है। इसलिये किसी भी दृष्टि से आधुनिक भारत में कुछ प्रशंसनीय दार्शनिक कार्य हुआ है। विवेकानन्द, दयानन्द, अरविन्द एम. एन. राय जैसों ने दर्शन-व्यवस्थाओं का निर्माण किया। राधाकृष्णन, के. सि. भट्टाचार्य, मल्लिक आदि ने भी मौलिक और प्रतिभासम्पन्न काम किया। और भी बहुत लोगों ने महत्त्वपूर्ण काम किया था और कर रहे हैं।

आधुनिक भारत में कुछ भी महान् दार्शनिक कार्य नहीं हुआ, सब पश्चिम में ही हुआ है और हो रहा है, इस मनोवृत्ति को परित्याग करके समकालीन भारतीय दार्शनिकों को एक-दूसरे के अध्यवसाय को गौरव से देखना और उसका विमर्शात्मक अध्ययन करना सीखना चाहिये। हम, इंगलैंड और वियन्ना में क्या हो रहा है, यह तो जानते हैं, लेकिन वाराणसी वाले यह नहीं जानते कि आंध्र में क्या हो रहा है और आंध्र वाले यह नहीं जानते कि उत्तर में या बंगाल में क्या हो रहा है। इसलिये बिना जाने ही ऐसे निर्णय पर आते हैं कि भारत में अब कुछ नहीं हो रहा है। भारतीय दार्शनिकों की रचनाओं का प्रचार भारत में सुव्यवस्थित रूप से होना चाहिये, यह काम अच्छी प्रचार-संस्थाओं या विश्वविद्यालयों के प्रकाशन-विभागों द्वारा होना चाहिये। केवल विदेशीय प्रचार-संस्थाओं (उदा० एलेन अनविन, कीगन पाल आदि) से प्रकाशित किताबें ही अच्छी हो सकती हैं, विदेशी विद्यालयों में पढ़े हुए और उनसे स्नातक हुए लोग ही अच्छे चिन्तक हो सकते हैं—ऐसा विश्वास छोड़ देना चाहिये। भारतीय दार्शनिकों को आपस में अक्सर मिलना चाहिये, गोष्ठियों में भाग लेना चाहिये,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और उनमें विवाद (Discussion) और सम्वाद (Dialogue) इतोधिक होना चाहिये। इसमें कुछ काम मौखिक और कुछ चिट्ठी-पत्री द्वारा हो सकता है। भारतीय दार्शनिकों को एक–दूसरों की रचनाओं को सादर पढ़ना, निष्पक्षपात विमर्श करना और एक–दूसरे का खंडन–मंडन करना यह सब काम करना चाहिये। "वादे वादे जायते तत्व बोधः"।

नोटः इस 'अन्वीक्षण' में सिद्धान्ततः इस पुस्तक के सम्पादक, प्रकाशक, लेखकों तथा पुस्तक के अन्य निबन्धों में चर्चित दार्शनिकों की चर्चा नहीं की गयी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

I

बीसवीं शती की भारतीय विचारधारा की भूमिका

डा० सम्पूर्णानन्द

भारत का दार्शनिक इतिहास सहस्रों वर्ष पीछे तक जाता है और यह मानना अयथार्थ न होगा कि उन्नीसवीं शती तक का सारा दार्शनिक विचार बीसवीं शती के लिए पृष्ठभूमि है। परन्तु हम उतना पीछे नहीं जा सकते। न विस्तृत विचार के लिए एक छोटे से निबन्ध में अवकाश मिल सकता है। यहां तो द्रुतगति से विहंगम दृष्टि ही डाली जा सकती है।

भारत में जब जो भी दार्शनिक विचार प्रवर्तित हुए हों, उन सब का स्रोत श्रुति है। ऋषियों के आश्रमों में जो प्रवचन और विचार-विमर्श होते थे उनका संक्षिप्त परिचय उपनिषदों में मिलता है। सच पूछा जाय तो उपनिषदों के भी पहिले संहिता भाग के मंत्र आते हैं। यह दुःख की बात है कि संहिताओं पर दार्शनिक दृष्टि से विचार नहीं किया गया। जो तत्व की बातें मंत्रों में संकेतों या समाधि भाषा में कही गयी हैं उनका ही उपनिषदों में विवेचन हुआ है, और फिर उन्हीं का सूत्रों या अन्य दर्शन-ग्रंथों में विशदीकरण हुआ है, परन्तु सच यह है कि मंत्रों का बहुत सा अर्थ छिपा ही रह गया। 'अस्य वामस्य' सूक्त के कई स्थलों का पूर्णरूप से सन्तोषजनक विचार आजतक नहीं हुआ।

अस्तु, प्राचीन दर्शनों में सबसे अधिक प्रभाव सांख्य और वेदान्द का, वेदान्त में भी शांकर अद्वैतवाद का, पड़ा है। जैसाकि किसी पाश्चात्य विद्वान ने कहा है, भारत में एक सौ में पचहत्तर वेदान्ती हैं और वेदान्तियों में पचहत्तर अद्वैतवादी हैं। साधारण अशिक्षित जनता तक इससे स्थूलरूप से परिचित है। यों तो बड़े बड़े विद्वान भी इसकी गम्भीरता की तह तक पहुँचने में असमर्थ रह जाते हैं परन्तु अपठित ग्रामीण भी माया और ब्रह्म जैसे शब्दों का व्यवहार कर लेता है, जीव और ब्रह्म के एक होने की बात

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करता है और कभी कभी तो कुछ विकृत रूप में महावाक्य भी दुहरा देता है। मैंने स्वयं बहुतों को 'एकोऽहं दुतीयो नास्ति' कहते सुना है। बहुत से साधु महात्माओं की वाणियां को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनको यह स्वयं स्पष्ट नहीं था कि वह अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं या विशिष्टाद्वैतवाद का। मुझ को ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें से अधिकतर विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित हुए थे। सूरदास जी तो वल्लभ सम्प्रदाय में थे ही। तुलसीदास जी रामानन्द सम्प्रदाय के थे और वे विशिष्टाद्वैत मत का स्पष्ट समर्थन करते हैं: ईश्वर अंस जीव अविनासी, गिरा-अर्थ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न, जीव कि ईस समान, जैसे वाक्य उनके विश्वास का असन्दिग्ध द्योतन करते हैं। दक्षिण के रामदास और तुकाराम जैसे महात्मा भी इसी विचार के थे। निर्गुण उपासक सन्तों के सम्बन्ध में कुछ इदमित्थम रूप से कहने में कठिनाई होती है, परन्तु यह तो निर्विवाद ही है कि कबीर रामानन्द जी के शिष्य थे, अतः विशिष्टाद्वैतवादी थे। हंसा हंस मिले सुख होई, हंसा चल हंसन के देस, अलख पुरुष निर्वाना, जैसे वाक्यों में यह बात व्यक्त भी है। नानक भी अकाल पुरुष की ही गाथा गाते हैं। अतः मुझको तो यह बात ही निश्चित प्रतीत होती है कि बारीक भेदों की ओर ध्यान न देने से भले ही लोग इनको अद्वैतवादी मान लेते हों, और इन्होंने स्वयं अपने दार्शनिक विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन न किया हो, पर ये लोग भी विशिष्टाद्वैतवाद से ही प्रभावित हुए थे। इस संबंध में मैं आगे कुछ और विचार करूँगा।

सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों से भी लोग बहुत कम परिचित हैं परन्तु उसके भी कुछ पारिभाषिक शब्द वैसे ही प्रचलित हो गये हैं जैसे कि ब्रह्म और माया। पांच तत्वों की तो सर्वत्र चर्चा है, पांच-पचीस भी बहुत सुनने में आता है, यद्यपि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो लोग पांच-पचीस से बचने का उपदेश देते हैं वे प्रायः 'पचीस' की व्याख्या से अनभिज्ञ हैं। संत महात्माओं में भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ अज्ञान है, ऐसा कहने की धृष्टता करना चाहता हूं। पांच और पचीस में कोई सम्बन्ध है, प्रायः इतनी भी जानकारी नहीं है। परन्तु सांख्य दर्शन का प्रभाव समस्त जनता पर ही नहीं पड़ा है,विद्वान भी उससे प्रभावित हैं। सांख्य का सृष्टिक्रम प्रचलित वेदान्त का अंग बन गया है। शुद्ध वेदान्त के अनुसार तो 'स्तस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः,आकाशाद्वायुः' इत्यादि क्रम से जगत् का विकास हुआ। सांख्य प्रधान, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा क्रम से पंच भूत तक पहुँचता है और फिर भूतों की सृष्टि युगपत् कराता है। बीच में वेदान्त और सांख्य मिलने से वेदान्त की नयी पद्धति बनी,उसमें पंचतन्मात्रा की सत्ता स्वीकार कर ली गई। महदादि का अस्तित्व मान लिया गया,पुरुष और प्रधान का स्वतंत्र व्यक्तित्व न मान कर उनका आविर्भाव वेदान्त के समान विराट् पुरुष से माना गया। पुराणों में जो सृष्टि क्रम दिये गये हैं उनका बहुधा ऐसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही रूप है। मैं स्वयं ऐसा समझता हूँ कि सांख्य और शांकर वेदान्त का सम्बन्ध ही यथार्थ विचारधारा है, उसके लिये स्पष्ट कोई प्रमाण मिलता हो या न मिलता हो।

पुराणों की रचना पठान शासन के आरम्भ काल तक प्रायः समाप्त हो चुकी थी। इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय तक इस प्रकार के सम्बन्ध भी हो चुके थे। बड़े बड़े आचार्य्य आये, उन्होंने अपने मतों का प्रवर्तन किया, विद्वानों को शास्त्रार्थ करने की सामग्री मिली। शंकराचार्य्य ने किसी विशेष उपासना–शैली का प्रचार नहीं किया, परन्तु दूसरे आचार्य्यों ने मत-प्रवर्तन के साथ साथ किसी न किसी प्रकार की वैष्णव उपासना शैली को अपनाया। उससे आकृष्ट होकर जनसाधारण में उनके लाखों अनुयाई हुए। स्पष्ट ही है कि ये सब लोग न तो धार्मिक ग्रंथियों को सुलझाने की क्षमता रखते थे, न उनको इस नियम में विशेष अभिरुचि थी।

दसवीं शती के बाद के काल को प्राचीन दर्शनों की दृष्टि से रुचि–भेदानुसार दार्शनिक ह्रास, दार्शनिक व्यभिचार या दार्शनिक समन्वय का काल कहा जा सकता है। योग दर्शन को अपवाद मानना चाहिये। उसका चर्चा मैं पृथक् करूंगा। शेष दर्शनों में न्याय, वैशेषिक और मीमांसा लुप्त प्राय थे। उनका पठन--पाठन थोड़े से विद्वानों तक ही सीमित था। शेष दर्शनों के सिद्धान्त अपने पूर्वरूप से तो लोक-बुद्धि से हट गये थे परन्तु उनका संमिश्रण और समन्वय हो गया था और हो रहा था, छाप अद्वैतवाद की थी: व्यवहार में प्रसार शुद्धाद्वैतवाद का हो रहा था परन्तु उसमें सांख्य के कुछ मौलिक तत्व मिल गये थे। शब्द और विचार का इतना व्यभिचार आ गया था कि मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण जैसे शब्द पर्यायवाची बन गये थे, यद्यपि इनके अर्थों में आकाश–पाताल का अन्तर है। बड़े बड़े सन्त–महात्माओं की वाणियों को देखिये, उन्होंने इनको समानार्थक मानकर प्रयोग किया है।

श्रोत्रियता और कोरा-पाण्डित्य परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं हैं, परन्तु अनावश्यक भी नहीं हैं। जहां निदिध्यासन की आवश्यकता है वहां मनन की भी, और मनन के लिए स्वाध्याय की, विचारविनिमय की, आवश्यकता होती है। परन्तु दार्शनिक ऊहापोह के लिए स्वच्छन्दता का पर्यावरण चाहिये। जिस काल का चर्चा हो रहा है वह बौद्धिक विकास के लिए अनुकूल नहीं था। एक ओर भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता अपहृत हुई, दूसरी ओर भारतीय प्रतिभा पर तुषारपात हो गया। गणित, ज्योतिष, रसायन, वैद्यक—सभी क्षेत्रों में मौलिकता जल गयी, टीका ग्रंथों के लिखने का दस्तूर रह गया। दर्शन भी इस परिमण्डल में पनप नहीं सकता था, सूक्ष्म दार्शनिक विचारों के दिन नहीं थे। परन्तु मनुष्य को अपने दैनंदिन के व्यवहार में, अपने पूजापाठ में, भी कोई न कोई वैचारिक सहारा चाहिये। इसके लिए वह समन्वयात्मक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचार पर्याप्त था जिसकी सृष्टि विद्वानों से बढ़कर लोक-बुद्धि ने की थी।

मैंने ऊपर कहा है कि योग दर्शन का व्यभिचार नहीं हुआ, वह अपवादरूप से बचा रह गया। प्राचीन काल से ही योग का आदर इस देश में रहा है। उसके सिद्धान्तों को कोई स्वीकार करे या न करे परन्तु योग की प्रक्रिया सर्वमान्य रही है। वेदान्त दर्शन ने भी 'आसीनः सम्भवात्' और 'सकृदभ्यासात्' जैसे सूत्रों में उसका समर्थन किया है। उपनिषद् में यम ने नचिकेता को आत्मज्ञान के लिए कृत्स्न योगविधि का उपदेश दिया। इस पतन काल में भी योग का अभ्यास तो कुछ न कुछ बच गया परन्तु योग की मर्यादा धूलिधूसर हो गयी। तुलसी आदि सगुणोपासक तो योग को छोटा कहने पर तुले थे ही, वातावरण का ऐसा कुप्रभाव पड़ा कि निर्गुण मतावलंवी महात्मा भी, जो प्रायः नादानुसन्धानविद्या का अनुसरण करते थे, जिनकी उपासना शैली का नाम ही सुरतशब्द योग था, योग की अवहेलना करने से अपने को न रोक सके। योग की जगह प्रायः 'भजन' शब्द व्यवहार में आने लगा। योग करते थे, शिष्यों को योग का उपदेश देते थे, परन्तु साथ साथ योग की निरर्थकता का राग भी अलापते जाते थे। पिछली शतियों में श्री गोरखनाथ बहुत बड़े योगी हो गये हैं। उनकी निन्दा करना, उनको अपने मत के प्रवर्तक के हाथों पराजित कराना, कई महात्माओं के अनुयाइयों ने अपना पुनीत कर्तव्य मान लिया। कबीर और नानक के नाम से ऐसी कई रचनाएं हैं जिनमें गोरख को लज्जित किया गया है। ये रचनाएं प्रक्षिप्त हैं परन्तु वायु की दिशा का परिचय देती हैं।

उस समय धार्मिक और दार्शनिक जगत् में जो सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ वह ईश्वर के सम्बन्ध में है। मैंने और जिन परिवर्तनों का चर्चा किया है वह सब उससे संबद्ध हैं।

संहिताओं में परमात्मा शब्द नहीं आता। यजुर्वेद में ईश्वर शब्द आया है परन्तु रुद्र के लिए। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वैदिक ऋषियों को परमात्मतत्व की कल्पना नहीं थी। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के प्रथम मंत्र 'नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं' में स्पष्ट ही निरंजन, निर्विकल्प, शुद्ध, सच्चिन्मात्र ब्रह्म की ओर संकेत है परन्तु उसी सूक्त के तीन मंत्र परमात्मा को लक्ष्य करते हैं। 'आनीदवातं स्वधया तदेकं', 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' तथा 'योऽस्याध्यक्षः परमेव्योमन्' को परमात्मा-परक ही माना जा सकता है। 'एकं' नपुंसक लिंग प्रयोग इसलिए हुआ है कि यहां स्वधायुक्त, मायाशबल, ब्रह्म का चर्चा है। वही अर्थ तम से गूढ़ तम—माया से ढके तम, अर्थात् निश्चल निष्क्रिय ब्रह्म—का है। 'परमव्योम में स्थित जगत् के अध्यक्ष' में तो यह बात और भी स्पष्ट कर दी गयी है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्र का जो स्वरूप बताया गया है, उसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जो सर्वात्मता दिखलायी गयी है, वह उसको परमात्मा का ही अपर नाम सिद्ध करती है। यही बात अथर्ववेद के व्रात्य-काण्ड के एकरुद्र जैसे नामों से पुष्ट होती है। उपनिषद् तो नामोद्देश के साथ परमात्मा के स्वरूप का विवेचन भी करते हैं।

इस परमात्मा का जगत् से क्या सम्बन्ध है? नासदीय सूक्त कहता है कि परमात्मा में काम उत्पन्न हुआ—कामस्तदग्रे समभवत्। इस काम का रूप उपनिषदों में इस प्रकार विशद किया गया है—'सोऽकामयत एकोऽहं बहुस्याम'—उसको यह काम हुआ, यह इच्छा हुई, कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊं। 'बहुत बनाऊं' नहीं कहा है। योग दर्शन ने ईश्वर की 'क्लेश कर्म्म विपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेषः' परिभाषा की है, परन्तु जगत् का रचयिता नहीं कहा। जगत् तो सांख्य निर्दिष्ट क्रम से पुरुष-प्रकृति के संयोग से होता है। न ईश्वर रचयिता है, न पालयिता, न संहरता। ईश्वर परम गुरु है, परन्तु यदि वह न होता तब भी जगत्-प्रवाह होता। न्याय दर्शन ने ईश्वर को जगत् की रचना में स्थान दिया है। इस स्थान को उसने एक उदाहरण द्वारा समझाया है। यदि लोहे के बिखरे हुए टुकड़ों के पास चुम्बक आ जाय तो वह टुकड़े अपने को उत्तर-दक्षिण दिशा में सजा लेते हैं। यह गुण उनमें पहिले से था परन्तु अव्यक्त था। चुम्बक ने उस को व्यक्त कर दिया। यदि यह देन चुम्बक की होती तो वह किसी और पदार्थ के टुकड़ों को भी इसी प्रकार सजा देता। उस के सान्निध्यमात्र से यह काम हो जाता है। महाभूत पहिले से थे, दिक् था, काल था, सारी सामग्री पहिले से वर्तमान थी। यदि वह न होती तो ईश्वर रहकर भी कुछ न कर सकता। वह लोग इसीलिये ईश्वर को स्रष्टा नहीं, आरम्भक कहते हैं।

कर्म्म सिद्धान्त के मानने वाले इसके आगे जा भी नहीं सकते थे। यदि जगत् का कोई स्रष्टा और संहारक हो तो फिर कर्म्म सिद्धान्त की अकाट्यता नष्ट हो जायगी, कृतघ्न और अकृताभ्यागम दोष आ जांयगे। अबतक का मत तो यह था कि संसार अनादि है। जीव असंख्य जन्मों में कर्म्म करता और फल भोगता आया है। कभी कभी ब्रह्माण्ड एक विशेष प्रकार की सुषुप्ति के वशीभूत हो जाता है। जीव और उसके कर्म्म परमात्मा में लीनप्राय हो जाते हैं। काल पाकर वह कर्म्म परिपक्व होते हैं,उनके फल देने का समय आता है तब परमात्मा में काम,स्फुरण,उत्पन्न होता है;फिर क्रमशः जगत् आविर्भूत होता है। जीवों के कर्म्मों के उपयुक्त ही नया जगत् बनता है। ऋग्वेद के 'ऋतञ्चसत्यञ्च' सूक्त में कहा भी है—'सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथाऽपूर्वमकल्पयत'—विधाता ने (जीवों में) अपूर्व के अनुसार सूर्य-चन्द्र (आदि) बनाये, यहां जीवों के कर्म्मों के संस्कार प्रेरक हैं, ईश्वर की अनियंत्रित इच्छा नहीं। और फिर सृष्टि का अर्थ होता है न-कुछ से कुछ बनाना, असत्य को सत्य करना। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर में यह सामर्थ्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं है—उसके प्रभाव से अधिक से अधिक यह हो सकता है कि जो प्रसुप्त और अव्यक्त है वह उदार और व्यक्त हो जाय।

पठानों के शासनकाल में नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई। वे भी ईश्वर को मानते थे। इस्लाम, ईसाई सम्प्रदाय और यहूदी मत एक ही धर्म्मवृक्ष की शाखाएं हैं। इनके मूल सिद्धान्त एक हैं। ईश्वर ने अपने श्रीमुख से कहा है कि मैं असहिष्णु हूं—मैं अपने सिवाय कोई दूसरी पूजा सहन नहीं कर सकता। उसने अपनी इच्छामात्र से जगत् का सर्जन किया है, जिस दिन चाहेगा नष्ट कर देगा। वह कर्म्मों का फल देता है, पर जिस पर प्रसन्न होता है उसके अपराध क्षमा कर देता है।

सैंकड़ों वर्षों के सम्पर्क में इन विश्वासों का प्रभाव पड़ा। विजित विजेता का अनुकरण करता है ही। यह सिद्ध हो ही गया कि इस्लामी ईश्वर प्राचीन ईश्वर से बलवान् था, तभी तो उसके उपासक विजयी हुए! सैंकड़ों मन्दिर टूट गये। पुराना ईश्वर खड़ा देखता रहा, उसके किये कुछ भी न हुआ। धीरे धीरे हिन्दुओं के मस्तिष्क में ईश्वर की कल्पना बदलने लगी, यह परिवर्तन साधारण जनता में तो हुआ ही, सुपठित लोगों में भी हो गया। ईश्वर खुदा की भांति जगत् का रचयिता, पालक और संहर्ता माना जाने लगा। उसकी परिभाषा में यह वृद्धि हो गयी कि वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः' है—जो चाहे करे, जो चाहे न करे, जो चाहे करके उलट दे। उससे इस प्रकार की प्रार्थना की जाने लगी कि हे भगवान्, हमारे अपराधों को क्षमा कर दो—शिवापराधक्षमापनस्तोत्र, देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र, रामरक्षास्तोत्र जैसे न जाने कितने स्तोत्र बन गये। ईश्वर की मर्यादा बढ़ने के साथ-साथ जीव की मर्यादा घट गयी। कहां वेद में जीवों को अमृतस्य पुत्राः—अमृत की सन्तान, कह कर संबोधित किया गया था, कहां वह पूजा-पाठ में स्वयं कहने लगा—पापोऽहं, पापकर्माऽहं, पापात्मा, पापसम्भवः—मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ, पापात्मा हूँ, पाप से उत्पन्न हुआ हूँ। कहाँ प्राचीन आचार्य्यों का कहना था 'नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यः,' कहां अब 'निर्बल के बलराम' से पुकार होने लगी। जीव ब्रह्म हो या परमात्मा का अंश हो, वह पतित नहीं हो सकता, सोना सोना ही रहेगा, मिट्टी में पड़ कर भी मिट्टी नहीं बन सकता। पर अब इस नये ईश्वर के युग में कहा जाने लगा—'मैं हरि पतित पावन सुने'। प्राचीन आचार्य्यों का मत था कि 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो ना समाहितः' जिसने दुश्चरितों को नहीं छोड़ा है, जो तपस्वी नहीं है, जो समाधिस्थ नहीं है वह परमगति नहीं पा सकता। परन्तु नये युग में तोते को पढ़ाते पढ़ाते गणिका मुक्त हो गयी।

यह हँसने का नहीं, दुखी होने का विषय है। ऐसे विचारों ने समाज को धार्मिक दृष्टि से दुर्बल बना दिया। लोगों में दीनता और दुर्बलता आयी, निष्ठा हट गयी,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहां पुराना आदेश था—सत्यप्रिया हि देवाः, सत्यमेव जयते, नानृतम्' कहां अब सत्य-नारायण की कथा चल पड़ी जिस में पदे पदे उत्कोच देकर भगवान् प्रसन्न कर लिए जाते हैं। पुराणों में देवगण की दुर्गति कर दी गयी थीः सभी व्यभिचारी, ईर्ष्यालु, दम्भी सिद्ध कर दिये गये थे। सत्यनारायण कथा के भगवान् रिश्वत के लोभी थे—इन बातों ने चरित्र का हनन कर दिया। केवल एक सर्वशक्तिमान, भयानक, चाटुताप्रिय ईश्वर पर विश्वास रह गया।

कर्म्म सिद्धान्त छोड़ा तो नहीं गया, वह हमारी नसों में व्याप्त हो गया था, पर उस पर बहुत कुछ किस्मत का रंग चढ़ गया, उसको ईश्वरेच्छा, भाग्य का अवगुण्ठन दिया जाने लगा। तुलसी दास जी के मुँह से निकल जाता हैः

कर्म्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करइ सो तस फल चाखा।

इतने में उनको अपने ईश्वर का स्मरण हो आता है, और फिर यों कहते हैंः

होइवि सोई जो राम रजि राखा, को करि तर्क बढ़ावइ साखा।

विश्वासों के इस गिरे हुए स्तर पर दार्शनिक विचार भला क्या होते ? दर्शन के पण्डित भी इस धारा में वह गये। अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने वाले मधुसूदन सरस्वती 'गोपी दुकूल चोर'—गोपियों की साड़ी चुराने वाले का राग अलापने लगे। इस वातावरण का प्रभाव उन सन्त महात्माओं पर भी पड़ा जो निर्गुणोपासक कहे जाते हैं। उन्होंने राम, गोपाल, हरि जैसे शब्दों का व्यवहार तो किया ही, योग की जगह भजन कहना आरम्भ किया। यदि योग और भजन एक ही वस्तु हों तो भी दोनों की ध्वनियों में महान अन्तर हैः योग में ओज,आत्मविश्वास,है तथा ऋषि-मुनियों, साधकों, तपस्वियों के सहस्रों वर्षों के अनुभवों का सौरभ है;भजन में दीनता, दुर्बलता, पराश्रयता की दुर्गन्ध है।

इस ज़माने में कई बहुत बड़े सूफी भी इस देश में हुए। आरम्भ में तो मुस्लिम देशों में सूफियों का दमन हुआ परन्तु पीछे से इसके साथ छेड़-छाड़ बन्द हो गयी। सूफी लोग इस्लाम का स्पष्ट विरोध नहीं करते थे, उसकी बाहरी परिधि के भीतर रहते हुए गोल शब्दों में अपने मत का प्रकाशन कर जाते थे। उनमें कई अच्छे योगी हो गये हैं। कहीं कहीं तो सूफी साधक इस देश के योग सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का भी व्यवहार कर देते थे। नियाज़ कहते हैंः

हैफ़ दरबंदे जिस्म दर मानी, न शुनवी सौते पाके रहमानी
हम आलम पुर अस्त अज आवाज़, लेक दरहाए गोश खुद कुन बाज़
औवलो आखिरश चूं वेहद शुद, ज़ौ सबब नामे ऊब अनहद शुद

(खेद है कि देह के बंधन में पड़ा हुआ तू दिव्यनाद नहीं सुनता, सारा ब्रह्माण्ड शब्द से परिपूर्ण है,परन्तु अपने कान के द्वार खोल। उसका आदि और अंत वेहद (निःसीम) है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसलिए उसका नाम अनहद पड़ा।

हमारे अर्वाचीन योगी अनाहत ध्वनि को अनहद कहते हैं। सूफ़ियों में दो दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित हैं: एक है 'हमः ओस्त', दूसरा है 'हमः अज़ोस्त'। पहिले का अर्थ हुआ 'वह सब कुछ है', दूसरे का अर्थ है 'उससे सब कुछ है।' 'हमः अज़ोस्त' तो ईश्वर के स्रष्टा होने के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करता है, यद्यपि किसी किसी सूफी महात्मा ने उसकी विशिष्टाद्वैत दृष्टि से मीमांसा की है। हमः ओस्त शुद्धाद्वैतमूलक है। ईश्वर ने अपनी लीला से अपने को जगद्रूप में परिणत किया है। परन्तु जगत् मायात्मक व मिथ्या नहीं, सत्य है। एक सूफ़ी के शब्दों में—

दीद अपने की थी उसे ख्वाहिश आपको हर तरह बना देखा।

इस्लाम के अनुसार सूफ़ी को अपने अनुभवों का चर्चा नहीं करना चाहिये। मौलाना रूम ने कहा है:

आरिफ़ाँ कि जामे हक नोशीदः अन्द, राज़हा दानिस्तः वो पोशीदः अन्द,
हर किरा इस्तोर हक आमोख्तन्द, मुह्र करदन्दो दहानश दोख्तन्द॥

जिन महात्माओं ने सत्य का प्याला पिया है वे भेदों को जानते हुए उनको छिपा रखते हैं। जिसको सत्य का रहस्य बताते हैं उसके होंठ पर मोहर करके सी देते हैं।

यों तो ऐसे रहस्य सर्वत्र छिपाये जाते हैं परन्तु मुस्लमानों में छिपाने की पराकाष्ठा है। फिर भी मुस्लमान सूफी और हिन्दू योगी आपस में मिलते थे। इनका एक दूसरे पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसका एक बड़ा परिणाम यह हुआ कि हिन्दू योगी तो मानते ही हैं कि ईश्वर अल्लाह आदि परमात्मा के ही नाम हैं, मुस्लमान सूफी भी ऐसा कहने लगे। इसका प्रभाव साधारण हिन्दू-मुस्लमान जनता पर पड़ा और आपस की दूरी, धार्मिक विद्वेष, में कुछ कमी हुई।

उन्नीसवीं शती तक का यही चित्र है। इसी बीच में कई बड़े आचार्य्य हुए थे, परन्तु विद्वानों में सब से अधिक मान्यता शांकर वेदान्त को ही थी। सिद्धान्ततः यह कह सकते हैं कि जनसाधारण पर भी इसका ही प्रभाव था परन्तु व्यवहार में लोग विशिष्टाद्वैतवादी थे और जिस परमात्मा या ईश्वर को जगत् का आधारतत्व मानते थे उसके स्वरूप पर इस्लाम की गहरी छाप पड़ चुकी थी। भक्तिवाद का ज़ोर था। अनियंत्रित ईश्वर को संसार का सर्वस्व मानने के बाद भक्ति के सिवाय दूसरा मार्ग रह भी नहीं जाता। परतंत्र जाति को स्वभावतः भक्ति मनोनुकूल प्रतीत होती है। जो इस लोक में परमुखापेक्षी है वह परमार्थ के लिए स्वावलंबी नहीं हो सकता।

बीसवीं शती के पहले भी ईसाई यहां पहुँच चुके थे, परन्तु ईसाई धर्म्म का प्रभाव इस शती में ही पूरा पूरा पड़ा। यह भी सेमेटिक परिवार का अंग था, इसमें भी इस्लाम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जैसा असहिष्णु स्वरूप था, इसमें भी वह उन्हीं गुणों के सम्पन्न था जो उसको इस्लाम में प्राप्त थे। परन्तु उसके आरम्भिक विकास--काल में ही उस पर ग्रीक दर्शन का प्रभाव पड़ा था। इसलिए उसमें उतनी उग्रता नहीं थी। पश्चिमी भारत में पुर्तगालियों ने धर्म्मान्धता दिखलायी परन्तु अंग्रेज़ों ने अपने को धार्म्मिक वादविवाद से अलग रखा, राजशक्ति को प्रत्यक्ष रूप से धर्म्मप्रचार का साधन नहीं बनाया।

इसकी प्रतिक्रिया भी शीघ्र हुई। उस प्रतिक्रिया ने मुख्यतः ब्रह्मसमाज के रूप में अपने को प्रकट किया। ब्रह्मसमाज को ईसाई मत का भारतीय संस्करण कह सकते हैं, चाहें तो ईसाहीन ईसाई धर्म्म कह सकते हैं। ईश्वर का वही सर्वशक्तिमान स्वरूप था, वह जगत् का कर्ता आदि सर्वेसर्वा था, उपासना पद्धति भी वही थी, परन्तु धर्म्मग्रंथ बाइबिल नहीं था, सभी प्रचलित धर्मों से उपयुक्त वाक्यों का आश्रय लिया गया था। ऐसा धर्म्म केवल थोड़े से पढ़े लिखे लोगों को बौद्धिक सन्तोष दे सकता है: न इसमें भक्ति के लिए स्थान है, न योगी के प्रत्यक्ष अनुभव के लिए। इसके पीछे कोई निश्चित विचारधारा भी नहीं थी। इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि इसमें मायावाद के लिए स्थान नहीं है, शेष के लिए विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत, सभी प्रकार के अर्थ पहिनाये जा सकते हैं।

देश में दूसरे प्रकार की हवा भी बह रही थी। भारत की प्रसुप्त आत्मा उद्बुद्ध हो रही थी। अभी उसकी जागरणशील चेतना ने शुद्ध राजनीतिक रूप नहीं धारण किया था परन्तु विदेशी प्रभावों से उन्मुक्त होने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। इसका अवश्यम्भावी पहलू था अपनी पुरानी बातों पर आस्था। इस परिवर्तनोन्मुख स्थिति का प्रत्यक्ष प्रतीक आर्य्यसमाज था। उसने लोगों के ध्यान को वेदों की ओर लौटाया और इस्लाम तथा ईसाई धर्म्म का सक्रिय और आक्रमणात्मक विरोध किया। वस्तुतः उस का दार्शनिक आधार दुर्बल था। योगदर्शन की भांति उसने पुरुष, प्रधान और ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया परन्तु पुरुष को वे स्थूल लक्षण दिये जो न्यायदर्शन में जीव के बताये गये हैं। इसके साथ ही उसका ईश्वर योगदर्शन के ईश्वर से कहीं बलवान् था। वह वैसा ही शक्तिशाली था जैसा कि इस्लाम के आने के बाद साधारण हिन्दू जनता का ईश्वर बन गया था। इसलिये इसे सेमेटिक-इस्लामी और ईसाई ईश्वर के सामने खड़ा किया जा सकता था।

एक और बात ने इस प्रवृत्ति को पुष्टि दी। कर्नल ऑल्कॉट और मादाम वाल्वोत्स्क ने थिओसोफिकल सोसायटी को स्थापित किया। इस सोसायटी के प्रवर्तकों और सदस्यों को पुरानी बातों पर बड़ी श्रद्धा थी। आर्य्यसमाज पितरों या देव-देवियों की सत्ता को नहीं मानता था। वह सेमेटिक अर्थ में कट्टर एकेश्वरवादी था। परन्तु थियोसोफी ने देव-देवी,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पितृगण, भूत-प्रेत, इन सब का पुनर्वासन किया। इससे साधारण हिन्दू के विश्वासों को तो सहारा मिला ही, शिक्षित समाज, जो पाश्चात्य प्रभाव के प्रवाह में पड़ कर पुरानी बातों पर से आस्था खोता जा रहा था, संभल गया।

न तो सब लोग आर्य्यसमाज में सम्मिलित हुए, न थियोसोफिस्ट बने परन्तु हमारा धर्म्म निकम्मा है, इसमें ऐसी बातें भरी पड़ी हैं जो हमको लज्जित करती हैं, यह भावना दूर हुई। इसका एक बहुत ही लाभप्रद परिणाम हुआ। पुराने वाङ्मय को अध्ययन करने की प्रवृत्ति जागी और भारत फिर अपने पुराने दार्शनिक भण्डार की ओर झुका। जब तक उसका ज्ञान न हो जाता तब तक नवयुग के अनुरूप नया विचार भी नहीं हो सकता है। विदेशी विद्वान जब भारतीय दर्शन की प्रशंसा करते थे तो उनका अभिप्राय प्रायः वेदान्त से ही होता था। इसलिए वेदान्त के अध्ययन की ओर विशेषरूप से ध्यान गया।

रामकृष्ण परमहंस साधक थे दार्शनिक नहीं, परन्तु उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को दार्शनिक जामा पहिनाया और उनको अद्वैतवाद के रूप में सजाया। स्वामी विवेकानन्द के द्वारा यह सन्देश पश्चिम पहुँचा। भारत में भी उनकी रचनाओं का बड़ा आदर हुआ। स्वामी रामतीर्थ के भाषणों से अद्वैतवेदान्त की ओर प्रवृत्ति बढ़ी।

बीसवीं शती के आरम्भ से पूर्व भारत की यही दार्शनिक स्थिति थी। यूरोपीय विश्वासों को यथावत् अपनाने का लोभ तो समाप्त हो चुका था परन्तु नये युग का सामना करना था, नयी समस्याओं को सुलझाना था। पाश्चात्य विद्वानों के सारे विचार छोड़े नहीं जा सकते थे, उनमें तथ्य प्रतीत होता था। विज्ञान की सत्यता का तो प्रत्यक्ष प्रमाण था। उसके सिद्धान्त प्राचीनता की जड़ हिलाये दे रहे थे। ऐसी अवस्था में दो ही बातें सम्भव थीं। कुछ भारतीय तो एक प्रकार के अज्ञेयवाद की शरण चले गये—जगत् का रहस्य अज्ञेय है, इसके पीछे माथापच्ची करना व्यर्थ का श्रम है। परन्तु ऐसे लोग भी थे जिनका इतने से सन्तोष नहीं होता था, विज्ञान को भी दार्शनिक आधार चाहिये। पश्चिम भी इसका अन्वेषण कर रहा था। हमारा पण्डित समाज प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा था। पाँव के नीचे से मिट्टी खिसकती जा रही थी, पर उसको चिन्ता न थी। विज्ञान का प्रारम्भिक विद्यार्थी भी इस बात को नहीं मान सकता कि मिट्टी, पानी, हवा, आग, आकाश से यह जगत् बना है। पर पण्डित यही राग अलापता जायगा। विचारशील लोगों को यह लग रहा था कि वेदान्त में ही किसी न किसी प्रकार नये और पुराने ज्ञान का समावेश हो सकता है, वेदान्त ही समन्वय का धरातल दे सकता है। ठीक मार्ग तो नहीं देख पड़ता था पर इसी ओर झुकाव हो रहा था। एक चीज़ और थी, ज्यों ज्यों राजनीतिक स्वाधीनता की ओर पांव उठ रहे थे और अपने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पौरुष पर विश्वास बढ़ता जा रहा था त्यों त्यों ईश्वर के प्रति दीनता का भाव भी कम होता जा रहा था—'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'। भाग्य की अमिटता पर से भी विश्वास उठता जा रहा था। यह वेदान्त और योग के लिए अनुकूल भूमिका थी। इसी भूमिका में भारत बीसवीं शती में प्रवेश कर रहा था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

II

भारतीय दर्शन की समसामयिक परंपरावादी प्रवृत्तियां

नारायण शास्त्री द्राविड़

परम्परावाद भारतीय दर्शन की एक असाधारण विशेषता है। पिछले दो–ढाई हज़ार वर्षों की भारतीय दार्शनिक विचारधारा के सतत विकास का सिंहावलोकन करने पर जो बात विशेषतया हमारी नजरों में आती है वह यह है कि किसी भी काल में किसी भी भारतीय दर्शन संप्रदाय ने अपनी पिछली परंपरा को ठुकराया नहीं। आस्तिक वैदिक परंपरा के घोर द्वेषी बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने भी नीतिवादी परम्पराओं के प्रति आस्था ही दिखलाई, उसका तिरस्कार नहीं किया। यह परम्परावाद क्या चीज़ है? क्या यह शब्द–प्रामाण्यवाद है? नहीं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' वाली अंधश्रद्धा कम से कम दर्शन के क्षेत्र में तो कभी भी यहां नहीं पनप पायी। फिर भी हरेक दर्शनकार अपने अपने मत के समर्थनार्थ वेदों, उपनिषदों, गीता आदि के वाक्य स्थान स्थान पर उद्धृत कर दिया करता था। कारण यह था कि ये सब इन ग्रंथों को, या इनके पीछे मंत्रद्रष्टा ऋषि--मुनियों के जो अनुभव हुआ करते थे उन्हें, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से श्रेष्ठ समझते थे। इसी लिये ऋषियों का 'साक्षात्कृत धर्माणो हि ऋषयः' ऐसा प्राचीन वाङ्मय में वर्णन किया जाता है। दार्शनिक विचारों के विकास का मूल, कम से कम भारत में तो, दर्शन या अन्तर्दृष्टि (Intuitive insight) से ही प्रारंभ होता हुआ माना जाता है। ये दृष्टियां गौतम, कणाद, जैमिनि, कपिल, व्यास आदि विचार–संप्रदाय–प्रवर्तक आचार्यों ने विभिन्न पदार्थों, तत्वों आदि के रूप में अपने सूत्र ग्रंथों में अभिव्यक्त की हैं। इसलिए समसामयिक दर्शन की परम्परावादी प्रवृत्तियां कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। किन्तु पाश्चात्य शिक्षा और समीक्षण पद्धति का प्रभाव जबसे भारतीय विचारप्रणाली पर पड़ने लगा तब से दार्शनिक परम्परावाद का भी रूप बहुत कुछ बदलने लगा और एक नये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ढंग की दार्शनिक विचार–पद्धति यहां सिर उठाने लगी। इसे तुलनात्मक विचार–पद्धति पहले कहा जाता था लेकिन अब यह 'रचनात्मक' या 'विधायक समीक्षा' या सामान्यतया संशोधन, अन्वेषण आदि नामों से पुकारी जाती है। इनमें खण्डन–मण्डन के रूप में संशोधन पहले भी यहां था ही लेकिन तुलनात्मक चर्चा एक नयी पद्धति है जो बाहर से ही यहां आयी है।

चूंकि यह हमारी परम्परागत विचार पद्धति नहीं है इसलिये संस्कृत के पंडितों ने अपनी असामान्य विद्वत्ता और दूर–दर्शिता के बावजूद भी इसे नहीं अपनाया। भारतीय दर्शनों के विकास में और आधुनिक नवजागरण में पंडितों और शास्त्रियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। ये संस्कृत के विद्वान् दो प्रकार के हुआ करते थे। एक वे जो संस्कृत में ही अध्ययन–अध्यापन और विचार–विमर्श करते थे और अंग्रेज़ी के अज्ञान के कारण पाश्चात्य वाङ्मय से कोई परिचय नहीं रखते थे; दूसरे वे जो समानरूप से अंग्रेज़ी और संस्कृत पर अधिकार रखते थे और इसलिये भारतीय और अभारतीय दोनों प्रकार के दार्शनिक विचारों से परिचित थे।

इन दो वर्गों में संस्कृत मात्र के जो पंडित थे उन्होंने ग्रंथ रचना, निबंध रचना आदि बहुत ही कम की। सामान्यतया लेखन की ओर इन पंडितों की प्रवृत्ति, कुछ अपवाद छोड़ कर, बहुत ही कम होती थी। तथापि मौलिक विचारों के क्षेत्रों में इन लोगों की भारतीय दर्शन को देन अत्यंत महत्वपूर्ण है। नव्य न्याय दर्शन में स्व० म. म. वामाचरण भट्टाचार्य, उनके शिष्य पद्मभूषण राजेश्वर शास्त्री द्राविड़, मीमांसा में स्व० म. म. चित्र स्वामिशास्त्री, तथा उनके शिष्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री, वेदान्त दर्शन में म.म. अनन्त कृष्ण शास्त्री तथा स्व० म.म. लक्ष्मणशास्त्री द्राविड़ ये नाम अग्रगण्य हैं। इन लोगों की मौलिक गवेषणायें प्राचीन विचारों को सुव्यवस्थित और परिशुद्ध रूप देने से संबंधित थीं। इसे पंडितों की भाषा में परिष्कार कहा जाता है। कभी कभी इसे अनुगम भी कहते हैं।

भट्टाचार्य, द्राविड़ आदि पंडितों ने दार्शनिक कल्पनाओं के विश्लेषण में काफी हाथ बटाया है। पाश्चात्य दर्शन की काफी समृद्ध शब्द प्रणाली हमारे पास होते हुए भी इस विषय की पारिभाषिकता ही इस हद दर्जे की है कि हम उसे संस्कृत के लंबे चौड़े समासों के बिना उपस्थित ही नहीं कर सकते। यहां इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि प्रिंकिपिया मैथेमैटिका में सैंकड़ों संकेतों की निर्मिति द्वारा लिखित भाषा को बिल्कुल नपीतुली बनाने का जो प्रयत्न किया गया है वही प्रयत्न बोली जाने वाली भाषा के संबंध में अर्वाचीन काल के भारतीय पंडितों ने किया है। इन पंडितों में से कुछ ने महत्व-पूर्ण ग्रंथों की रचना तथा संपादन के कार्य भी किये हैं। पंडित राजराजेश्वर जी ने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारतीय दर्शन की समसामयिक परंपरावादी प्रवृत्तियां

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली नामक न्याय-वैशेषिक दर्शन के एक महत्वपूर्ण ग्रंथ पर लिखी गयी टीका पर रामसद् भट्टाचार्य द्वारा लिखित अधूरी टिप्पणी को पूर्ण किया। आत्मतत्व विवेक तथा न्याय वार्तिक तात्पर्य टीका जैसे प्राचीन ग्रंथ संपादित किये। म.म. अनंत कृष्ण शास्त्री ने वेदान्त परिभाषा नामक ग्रंथ पर एक टिप्पणी लिखी और अद्वैत-तत्व सुधा नामक (पर मत खण्डनात्मक) अद्वैत वेदान्त की भूमिका का तर्कों द्वारा समर्थन करने वाला ग्रंथ लिखा। ब्रह्मसूत्र भाष्य-टीकाटिप्पणियों सहित तथा अद्वैतसिद्धि आदि आकर ग्रंथ इन्होंने संपादित भी किये। इनका अधिकांश दार्शनिक कार्य व्यासतीर्थ जयतीर्थ आदि द्वैत पंडितों के तर्कों क खंडन से ही संबंधित है। वेदान्त की कल्पनाओं का उपर्युक्त पद्धति से विश्लेषण इन्हांने पर्याप्त मात्रा में किया है।

दूसरे प्रकार के संस्कृत के पंडितां में स्व० डा० गंगानाथ झा और म० म० पं० गोपी नाथ कविराज इनके नाम अग्रगण्य हैं। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों, जैसे तत्वसंग्रह, उस की पञ्जिका, न्याय भाष्य आदि का अंग्रेजी में अनुवाद करना झा जी ने एक तरह से अपना जीवन कार्य ही वना लिया था। धर्मशास्त्र, मीमांसा, न्याय आदि सभी दर्शनां के आकर ग्रंथां का इन्हांने उलथा किया। शायद इसी व्यस्तता की वजह से इन्हें स्वतंत्र विचार करने के लिये समय ही नहीं मिला होगा। प्रभाकर मीमांसा इनका एक ग्रंथ अवश्य है जिसमें इन्होंने स्वतंत्ररूप से मीमांसक प्रभाकर मिश्र की कल्पनाओं के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है, लेकिन इसमें मौलिकता वैसे कम ही दिखाई देती है।

कविराज जी इसके विपरीत हमेशा ही मनन तथा चिन्तनशील व्यक्ति रहे हैं। वाराणसी के जो विद्वान लोग इनके निकट परिचय के हैं वे इन्हें चलता-फिरता ज्ञानकोष समझते हैं। इनका झुकाव तंत्रयोग, शैव और शाक्त दर्शनों की ओर अधिक है। योग और तंत्रशास्त्र की शरीर-सिद्धि की कल्पना (शरीर को अभेद्य और स्थायी बनाने की कल्पना), शैव दर्शन की चितिशक्ति प्रपंचसार जैसे तंत्रग्रंथों की अनेकानेक अवधारणाओं को इन्होंने अपने छिटपुट लेखों के द्वारा प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है। पर्याप्त लिखित सामग्री के अभाव में इन्होंने अपने स्वतंत्र दर्शन की रचना की है या नहीं यह कहना कठिन ही है।

इसी वर्ग के तीसरे पंडित हैं म.म. उमेश मिश्र, जो अभी बिहार की संशोधन संस्था के अध्यक्ष हैं। इन्होंने Concept of Matter नामक पुस्तक अपने डाक्टरेट के प्रबंध के रूप में लिखी थी जिसमें वैशेषिक दर्शन के पदार्थों की विस्तृत व्याख्या है। इस पुस्तक में यदि कोई मौलिक अंश है तो वह है प्रारंभ में दिया गया दर्शन विभाग क्रम, जिसमें न कोई तुक है न तत्व। इनके दूसरे ग्रंथ, जैसे अंग्रेजी में लिखा गया भारतीय दर्शन का इतिहास (जिसका पहला भाग ही उपलब्ध है) तथा-पाठ्य-पुस्तक के ढंग पर उत्तर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रदेश सरकार द्वारा हिन्दी में लिखवाये गये भारतीय दर्शन के प्रारंभिक ग्रंथ,व्याख्यानात्मक (interpretative) ही हैं। हां, उद्धरणों की भरमार जरूर कर दी है। यदि इन वैदिक उद्धरणों की मदद से वे वैदिक दर्शन के विकासक्रम को अधिक स्पष्टता के साथ उपस्थित करते तो यह उनका बहुत महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता।

इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण अनुसंधान पंजाब के श्री मोतीलाल जी कर रहे हैं। उन्होंने अबतक उपनिषदों की एक नये ढंग से की गयी व्याख्या के रूप में दो चार महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किये हैं। उनकी अनुसंधान की दिशा ही नयी है। वेदों के निरे शब्द-गम्य अर्थ को महत्व न देकर उनके गूढ़ अर्थों को खोज निकालने का एक नया तरीका या संप्रदाय स्व० पं० मधुसूदन ओझा जी ने प्रस्थापित किया था। उनके शिष्य मोती लाल जी उसी संप्रदाय को चला रहे हैं। वेदों की काल, संवत्सर आदि संबंधी अवधारणाओं पर इन्होंने काफी प्रकाश डाला है। इन अनुसंधानों के संबंध में अभी निश्चित रूप से कुछ भी कहना असंभव है।

इसी विषय पर, किन्तु एक बड़े ही व्यापक पैमाने पर, कार्य करने वाले महर्षि हैं पं० सातवलेकर जी। इन्होंने रामायण, ऋग्वेद इत्यादि अनेक विशालकाय संस्कृत ग्रंथों का हिन्दी और मराठी में अनुवाद तो किया ही है लेकिन साथ ही साथ अपनी बिल्कुल नये ढंग की समीक्षा पद्धति के द्वारा इन सभी ग्रंथों से नये अर्थ निकालने का प्रयत्न भी किया है। पौराणिक देवताओं का इतिहास इनकी अपनी सूझ है। पचानवें वर्ष के चिर-युवा सातवलेकर जी के रूप में हम ज्ञान-कर्म-समुच्चयवादी भारतीय संस्कृति का साकार प्रतीक ही देखते हैं।

परम्परावाद की असलियत को न समझ कर कोसने वाले और स्वयं बौद्धों के परम्परावाद में उलझे हुए एक विश्वविख्यात पंडित हैं श्री राहुल सांकृत्यायन, जिन्होंने प्रभूत रचना की है। बौद्ध दर्शन इनका चिरऋणी रहेगा जो इन्होंने प्रमाण वार्तिक, उसकी टीका टिप्पणियां, वादन्याय इत्यादि अनेक अत्यंत महत्वपूर्ण बौद्ध ग्रंथ— जो तिब्बती लिपि में ही और तिब्बत और अन्य भारतबाह्य देशों में ही उपलब्ध थे-संस्कृत में परिवर्तित किये और भारत में लाकर उनका संपादन किया। इनका यह कार्य ही इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि इसकी महत्ता में भारतीय आस्तिक दर्शनों पर समय-समय पर जो इन्होंने अत्याचार किये हैं वे छिप जा सकते हैं। दर्शन दिग्दर्शन, बुद्ध संस्कृति, जैसे दार्शनिक ग्रंथ इन्होंने लिखे जरूर हैं लेकिन उनसे इनकी मौलिकता और विद्वत्ता से अधिक आस्तिक संप्रदाय के प्रति द्वेष ही प्रकट होता है। अन्यथा ये भारत की पिछली चार हज़ार वर्षों की विचारधारा को महज़ उसकी आस्तिकता के कारण ही 'मूर्खतापूर्ण' नहीं करार देते। इनकी गवेषणा पद्धति भी काफी विचित्र है। उपनिषदों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वाक्य लेकर उनके सीधे सादे शाब्दिक अर्थों के आधार पर भारतीय दर्शन का ये निर्माण करना चाहते हैं, मानों भाष्य आदि की कोई जरूरत ही दर्शन में नहीं है। बौद्ध-दर्शन के संबन्ध में भी इनकी धारणायें विशेष परिपक्व नहीं हैं। बौद्धों को आत्मवादी करार देने के कारण इन्होंने डा० राधाकृष्णन् को आड़े हाथों लिया है, लेकिन बौद्धों की नैरात्म्यवाद संबंधी धारणाओं का तर्क द्वारा कैसे समर्थन किया जा सकता है,यह समझाने का इन्होंने तनिक भी प्रयत्न नहीं किया है। अब तक जिन विद्वानों की कृतियों का हम ने विचार किया वे अधिकतर भारतीय विचार-परम्परा को समझने का ही प्रयत्न करने वाले रहे हैं। किन्तु इस समीक्षण की पूर्णता के लिये हमें उन इने-गिने लोगों का भी निर्देश करना होगा जिन्होंने भारतीय परम्परा के मूल तत्वों को ग्रहण कर उन्हें आधुनिक भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में प्रसारित करने का प्रयत्न किया। इन लोगों में भारतीय अद्वैतवाद और अध्यात्मवाद का काफी प्रभाव दिखलाई पड़ता है। कुछ लोग प्राचीन भारतीय संस्कृति के आधिभौतिक पक्ष से भी काफी प्रभावित मालूम पड़ते हैं।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक अपने "गीतारहस्य" और उसमें प्रतिपादित कर्म-योग के समर्थन के लिये विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं। शंकराचार्य की ज्ञान-कर्म-समुच्चय विरोधी भूमिका के खिलाफ तिलक का यह कथन है कि ज्ञानवान व्यक्ति पर समाज का सब से अधिक दायित्व होता है। अपनेलिये यदि नहीं तो अज्ञ लोगों के लिये तो उसे, दिखावे के रूप में ही क्यों न हो, काम करते ही रहना चाहिये। गीता चूंकि अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये ही कही गयी है इसलिये उसका तात्पर्य कर्म-सन्यास कभी भी नहीं हो सकता। इस निष्कर्ष के समर्थन के लिये ही "गीतारहस्य" लिखा गया है, जिसमें संक्षेप में भारतीय और पाश्चात्य नीति-शास्त्रीय विचारों की सर्वंकष तुलना तिलक जी ने की है। आजकल इस मत को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। गीता केवल अर्जुन के लिये नहीं कही गयी है। उसका उद्देश्य सब प्रकार के साधकों के लिये है, जिनमें कर्मयोगी भी एक हैं। यदि ज्ञान कर्म के बिना सफल नहीं हो सकता तो ज्ञान को ज्ञानयोग कहना कदापि उपयुक्त न होगा। यदि कर्म का योग है तो ज्ञान का भी योग है ही। उसका कर्म के साथ हमेशा के लिये गठबंधन कर देना उसकी स्वतंत्रता का अपहरण करना है।

डॉक्टर सम्पूर्णानन्द, जो अब राजस्थान के राज्यपाल हैं, उन व्यक्तियों में से एक हैं जिनकी भारतीयता के प्रति लगन 'आर्यों का आदि देश' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ और 'ब्राह्मण सावधान' जैसे निबन्धों में साफ साफ जाहिर होती है। चिद्विलास नामक दार्शनिक ग्रंथ भी इन्होंने लिखा है जिसमें अद्वैत से बहुत कुछ मिलती जुलती विचार-सरणी का इन्होंने प्रतिपादन किया है। यद्यपि इस ग्रंथ में दर्शनों की सुव्यवस्थित और सुसंघटित तर्क-पद्धति का प्रयोग कम दिखाई पड़ता है तो भी सांकृत्यायन जी जैसी उच्छृंङ्ख

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

–लता कहीं नहीं उपलब्ध होती। सम्पूर्णानन्द जी भारतीय संस्कृति के मर्म को अच्छी तरह पहचानने वाले व्यक्ति हैं। वे इस संस्कृति को तहस नहस कर सुधारना नहीं चाहते, वे सिर्फ उस के दोषों का निराकरण करना आवश्यक समझते हैं।

सर सी. पी. रामा स्वामी ऐयर भी अध्यात्मवाद के हिमायती और एक क्रियाशील भारतीय चिन्तक हैं। अद्वैत पर एकाध ग्रंथ की इन्होंने रचना भी की है। लेकिन ग्रंथों से अधिक इनके व्याख्यान और सार्वजनिक कार्य ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली रहे हैं। इन्होंने अद्वैत वेदान्त की पृष्ठभूमि पर एक ऐसी क्रियाशील जीवनदृष्टि का प्रचार किया जो हमेशा स्फूर्तिदायिनी रही है। आपाततः जगन्मिथ्यात्ववादी अद्वैत वेदान्त दर्शन जीवन की सब तरह की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कठिनाइयों पर विजय पाने वाली व्यापक दृष्टि को प्रदान करता है, यह तथ्य बड़ी स्पष्टता के साथ ऐयर ने अपने अनेकानेक व्याख्यानों में विशद किया है।

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, जो अपनी राजनैतिक दूरदर्शिता और मौलिकता के लिये विख्यात हैं, भारतीय संस्कृति के दूसरे महान व्याख्याता हैं। अपने 'चक्रवर्ती तिरुमघम्' में इन्होंने वाल्मीकि रामायण की कथा एक अनूठी ही शैली में बतलायी है। भारतीय जीवन के मूल्यों का साक्षात्कार इस नितान्त रमणीय कलाकृति के माध्यम से हमें प्राप्त होता है।

श्री गोलवलकर जी, जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ नामक संस्था के प्रमुख हैं और 'गुरु जी' इस अभिधान से भारत भर में पहिचाने जाते हैं, भारतीय संस्कृति के क्रियापक्ष के उद्गाता हैं। उनकी दृष्टि में हिन्दुत्व एक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अवधारणा है, जिसमें देश-प्रेम, परम्परा के प्रति आदर, वर्तमान के प्रति जिज्ञासा और चरित्र–निर्माण आदि अनेक कल्पनायें समाविष्ट हैं। इस हिन्दुत्व के निर्माण, विकास और प्रचार के लिये 'गुरु जी' और उन के संपूर्ण भारत में फैले हुए अनुयायी सदा तत्पर रहते हैं।

श्री क० म० मुंशी, जो एक सफल साहित्यिक, शासक, कूटनीतिज्ञ आदि अनेक रूपों में कार्य कर चुके हैं, अपने ढंग के निराले विचारक हैं। 'कुलपति के पत्र' नामक इन की रचनायें बहुत ही गंभीर, अर्थपूर्ण और विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों —जैसे सचाई, ईमानदारी, त्याग, निस्पृहता आदि—का परिचय कराने वाली हैं। भारतीय विद्याभवन नामक संस्था स्थापन कर और उसके द्वारा भारत के अतीत का सर्वविध अनुसंधान करने वाले इतिहास और अन्य प्रकार के ग्रंथ प्रकाशित करवाकर श्री मुंशी जी ने भारतीय संस्कृति को साकार कर दिया है। मुन्शी जी के विचारपूर्ण ग्रंथों के अतिरिक्त उनके 'पाटन का प्रभुत्व', 'गुजरात के नाथ' जैसे उपन्यास भी वैचारिक दृष्टि से कम महत्व के नहीं हैं। उनके निर्माण किये हुए पात्र ('मुंजाल' जैसे) हमारे भव्य और उदात्त अतीत के जीते जागते प्रतीक हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारतीय दर्शन की समसामयिक परंपरावादी प्रवृत्तियाँ

स्वातंत्र्य वीर वैरिस्टर सावरकर जी, जो अब राजनीति से निवृत्त हो चुके हैं, एक हिन्दुत्ववादी विचारक हैं जिन्होंने भारतीय विचारधारा को आक्रमक (Aggressive) रूप देने का एक समय प्रयत्न किया था। इनकी हिंदुत्व विषयक धारणा इस श्लोक में ग्रंथित है—

आसिंधु सिंधुपर्यन्ता यस्य भारत–भूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः।

अब हम उन दार्शनिकों की ओर आते हैं जिन्होंने भारतीय दर्शन संप्रदाय को अपने नये रचनात्मक समीक्षण द्वारा समृद्ध करने का प्रयास किया। इस समीक्षण–पद्धति का प्रारंभ वर्तमान काल में, जैसाकि सब लोग जानते हैं, डाक्टर राधाकृष्णन् ने किया। लेकिन स्व० हिरियण्णा को भी इस बात का काफी श्रेय देना चाहिये। हिरियण्णा ने छोटी सी पुस्तक में भी जिस परिपक्व समीक्षा का परिचय दिया है वह राधाकृष्णन् के विशालकाय ग्रंथों में विशेषता से नहीं दिखलाई पड़ती। भारतीय दर्शनों की अनेक कल्पनाओं को और स्वयं अपने अध्यात्मवादी दर्शन को भी, इन्होंने अस्पष्ट व अव्यक्त रख छोड़ा है।

डाक्टर दास गुप्ता, भारतीय दर्शनों के बृहद् इतिहास लेखक के रूप में एक परम्परावादी हैं, जिनका अपना दर्शन (Dependent emergence) परम्परावाद से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इन्होंने अधिकतर शाब्दिक अनुवाद पद्धति को ही संस्कृत के दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन में अपनाया है। यह पद्धति इनके ग्रंथों में विशेष उपयोगी नहीं सिद्ध हो पायी है। संस्कृत शब्द प्रयोगों के पीछे विचार-गंभीर्य छिपा हुआ है, यह दास गुप्ता नहीं समझ पाये हैं। यही कारण है कि उनके इतिहास का अधिकांश भाग अनावश्यक और दार्शनिक महत्वरहित सामग्री से यत्र–तत्र भरा पड़ा है। अद्वैत वेदान्त पर लगभग चार सौ पृष्ट लिख कर भी ये एक भी वेदान्त की कल्पना ठीक तरह नहीं समझा सके हैं। पर रामानुज दर्शन पर इन्होंने काफी विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है।

आधूनिक युग के अनन्य साधारण प्रतिभाशाली परम्परावादी तत्व चिन्तक हैं स्व० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य जिनकी कल्पना-शक्ति और विचारगांभीर्य का आधुनिक दर्शन में कोई सानी नहीं है। दुर्दैव है कि अभी भी इस महान् विचारक के ग्रंथों की गहराई तक अधिकांश भारतीय विद्वान् भी नहीं पहुँच पाये हैं। यदि सही अर्थ में किसी विचारक को मौलिक कहा जा सकता है तो श्री भट्टाचार्य को ही। दर्शन के जिस भी अंग को उन्होंने स्पर्श किया उसी को अपनी असामान्य प्रतिभा दृष्टि से उन्होंने आलोकित कर दिया। कृष्णचन्द्र अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा के प्रकाश से देदीप्यमान एक असामान्य दार्शनिक सूर्य है जिसने दार्शनिक जगत् कोउद्भासित कर दिया है। उनके विचारों का एक अत्यंत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संक्षिप्त दिग्दर्शन ही यहां किया जा सकता है।

कृष्णचन्द्र अद्वैत संप्रदाय के अनुयायी हैं। 'ज्ञान' का वे 'विचार' से कहीं अधिक व्यापक अर्थ करते हैं। दार्शनिक प्रमेय अविचार्य हैं, यह कांट का मत स्वीकार करते हुए भी वे यह नहीं मानते कि ये अज्ञेय हैं। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि जो अज्ञेय है उसकी अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा कभी नहीं की जाती। लेकिन दर्शन अर्थशून्य है, ऐसा साभिनिवेश कहने वाले भी दर्शन में उलझे ही रहते हैं, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि दार्शनिक प्रमेयों की ज्ञेयता के सम्बन्ध में एक विश्व-व्यापी श्रद्धा हमारे मन में घर किए हुए है। इस श्रद्धा की पूर्ति तत्वज्ञान की प्राप्ति से ही हो सकती है।

तत्वज्ञान की तीन श्रेणियां हैं— वस्तुदर्शन, (Philosophy of the Object), आत्मदर्शन (Philosophy of the Subject), और ब्रह्मानुभूति (Philosophy of the spirit)। इन श्रेणियों को 'प्रवचन' (Speakable), यह अत्यन्त अर्थपूर्ण संज्ञा भट्टाचार्य जी ने दी है। तीनों श्रेणियों के दार्शनिक प्रमेय प्रवचित (Spoken) होते हुए भी प्रवचनीय (Spoken of) नहीं होते। सिर्फ वैज्ञानिक प्रमेय ही प्रवचनीय हुआ करते हैं। इन प्रमेयों को प्रवचन से अलग रख या समझ कर उनका प्रवचन हम करते हैं। प्रवचनीयता इनका स्वाभाविक धर्म नहीं है। सभी दार्शनिक प्रमेय अनिवार्यतः प्रवचित होते हैं, अतः प्रवचन या सैद्धान्तिक अनुभूति (Theoretic Consciousness) उनकी रचना का अंग हुआ करती है। यही कारण है कि दर्शन शब्दजाल है, ऐसा अधिकांश लोगों का ख्याल हुआ करता है। लेकिन यह ख्याल गलत है। दर्शन की पार्श्वभूमि में जो अनिवार्यता (Necessity) है वह आध्यात्मिक (Spiritual) है, बाह्य या अनुभवार्जित (Inductive) नहीं। अतः दार्शनिक कल्पनायें विज्ञानों से प्राप्त या विज्ञानों का समन्वय करने वाली नहीं हुआ करतीं। वे आध्यात्मिक अनुभूति से उपेक्षित (Precipitated) तथा अविश्लेष्य सामान्यात्मक होती हैं। उनका कार्य आत्मानुभूति का प्रतीक दर्शन (Symbolisation) कराना है। उदाहरणार्थ, विश्व विज्ञानमय है, यह दार्शनिक सिद्धान्त विश्व-घटक किसी वस्तु की— स्वप्न, भ्रम जैसी—विज्ञानमयता से निष्कृष्ट नहीं है। यह तो एक विशेष अवस्था के आत्मानुभव का सामान्य प्रतीक है और यह सूचित करता है कि विश्व वह है जो आत्मा नहीं है, लेकिन आत्मा की (एक खास अवस्था के) अनुरूप है।

आत्मानुभूति के कई अलग अलग (Horizontal) स्तर हैं, जैसे 'मैं विश्व में उलझा होते हुए भी उससे परे हूँ', और 'मैं जैसा एक व्यक्ति हूँ वैसे ही और लोग भी स्वतंत्र व्यक्ति हैं' (नीति की मूलभूत चेतना), और 'मुझ से परे एक सर्वश्रेष्ठ सत्ता है, जिसके सामने मैं कुछ नहीं हूँ' (धर्म की मूलभूति चेतना) ये तीन भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभव आत्मदर्शन, नीतिदर्शन तथा विभिन्न प्रकार के धर्म-दर्शनों को जन्म देते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वस्तुदर्शन (Metaphysics) पहली प्रकार की आत्मानुभूति से प्रस्फुटित होता है। इनमें आत्मा और जीवन के सम्बन्ध के विभिन्न प्रकार के सन्निकट (Intimate) साक्षात्कार का बौद्धिक स्तर पर आविष्कार करने का प्रयत्न किया जाता है।

आत्मानुभूति के पूर्ण निरास के अनन्तर ही ब्रह्मानुभूति का आविर्भाव होता है। जबतक सब तरह की वैयक्तिक सत्ता का पूर्ण निरास नहीं होता तबतक देशतः, कालतः और वस्तुतः अपरिछिन्न ऐसे ब्रह्म का पूर्ण स्वातंत्र्य (Freedom beyond being) के रूप में अनुभव उदित नहीं होता। इस अनुभव को ही वेदान्त में 'स्वयं प्रकाश चैतन्य' यह संज्ञा दी गयी है।

कृष्णचन्द्र की सर्वतोमुख प्रतिभा का यह अंशमात्र निदर्शन है। सांख्य, योग, जैन, बौद्ध, न्याय आदि सभी दर्शनों का कृष्णचन्द्र जी ने नितान्त मौलिक ढंग से समर्थन किया है। जिन लोगों ने इनके संकलित लेखों में अवगाहन करने का प्रयास किया है वे शंकराचार्य के संबंध में कही गयी इस उक्ति को कृष्णचन्द्र जी के सम्बन्ध में अवश्य चरितार्थ होता हुआ पायेंगे। वह उक्ति यह है—

'वक्तारमासाद्य यमेव नित्या
सरस्वती स्वार्थ समन्विताऽभूत'

भारतीय दर्शन की गहराई को जिन्हें आंकना हो वे दास गुप्ता, राधाकृष्णन् आदि की पुस्तकें पढ़ने के पहले भट्टाचार्य जी के Studies in Philosophy Vols. I & II में संगृहीत लेखों को पढ़ लें तो अनेक उलटी सीधी धारणाओं से वे बच सकेंगे।

डॉ० भा० ला० आत्रेय एक गण्यमान्य आधुनिक भारतीय दार्शनिक हैं। यद्यपि इन्होंने अध्यापन के सिलसिले में मनोविज्ञान पर और विशेषतः उसके अतीन्द्रिय पक्ष पर काफी ध्यान दिया है तो भी उनके दार्शनिक जीवन का प्रारम्भ योगवासिष्ठ नामक एक संस्कृत के दार्शनिक पुराण से ही हुआ है। इस ग्रंथ पर लिखी गयी अपनी तुलनात्मक पुस्तक में–जिसका नाम 'Yoga Vasistha and Modern Thought' है–आत्रेय जी ने विस्तार के साथ दिखाया है कि आधुनिक विश्लेषण प्रसूत प्रायः सभी मन सम्बन्धित धारणायें उक्त संस्कृत ग्रंथ में विद्यमान हैं। इस में वैराग्य, मुमुक्षा–व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और व्यवहार ऐसे छः प्रकरण हैं और लगभग २४००० श्लोक हैं। उपमा और अन्य अलंकारों की तथा दार्शनिक कल्पनाओं की इस ग्रंथ में भरमार है। इस ग्रंथ की विचार-सरणी इतनी व्यापक है कि इस पर वेदान्ती, विज्ञानवादी या सांख्य प्रकृतिवादी ऐसा कोई भी लेबल लगाना अनुचित होगा। आत्रेय जी ने इस विशाल ग्रंथ से, तुलना की दृष्टि से, बड़ी ही सुन्दर सामग्री का चयन किया है। जो इस ग्रंथ की गहराई को आंकना चाहते हैं उनके लिये आत्रेय जी का तुलनात्मक प्रबंध अनिवार्य रूप से सहायक सिद्ध हो सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य जी के सुपुत्र डाक्टर कालिदास भट्टाचार्य अपने पिता की मौलिक विचार परम्परा को आगे बढ़ाने वाले समर्थ चिन्तक हैं। इन्होंने कार्यकारणभाव के संबंध में विभिन्न भारतीय दर्शनों की विचार प्रणालियों का बिल्कुल मौलिक रूप में स्पष्टीकरण अपनी लेख मालाओं में प्रस्तुत किया है। इस स्पष्टीकरण के सिलसिले में इन्होंने अनेक नयी कल्पनाओं .का आविष्कार किया है। उदाहरणतः अव्यक्त (Indefinite)की कल्पना के इन्होंने छः प्रकार बतलाये हैं: हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के योग से जब पानी बनता है तब उस में समाविष्ट होते हुए भी ये दोनों तत्व अपना व्यक्त अस्तित्व खो देते हैं। वैसे ही कारण नष्ट हो जाने पर वह अपना व्यक्त अस्तित्व कार्य में खो देता है। इसी प्रकार किसी पदसंतान(Series) में अलग अलग पदों का व्यक्त अस्तित्व विलीन हो जाता है। उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य का एक अव्यक्त अस्तित्व होता है। अव्यक्त की इस कल्पना का कालिदास जी ने बौद्धों की आत्मकल्पना को विशद करने में बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया है। बौद्ध नैरात्म्यवादी माने जाते हैं लेकिन सामितीय और वात्सीपुत्रीय संप्रदायों में आत्मा का पूर्णतया अस्वीकार किया हुआ नहीं दिखाई पड़ता। डाक्टर राधाकृष्णन् के सामने यही उलझन थी जिसको समझते हुए उन्होंने बौद्धों को भी औपनिषद् परम्परा का ही अनुवर्ती बतलाया। सांकृत्यायन जी इस बात पर राधा-कृष्णन् की भर्त्सना कर रह गये लेकिन इस उलझन को कतई न सुलझा सके। कालिदास जी ने यह सुलझाव पेश किया है कि बौद्ध आत्मकल्पना को अव्यक्त मानते हैं, याने, परिनिष्ठित आत्मा का उनके मत से विधान जैसे नहीं किया जा सकता (Definite self connot be asserted) वैसे ही अपरिनिष्ठित आत्मा का निषेध भी नहीं किया जा सकता (Indefinite self cannot be denied)। इसका मतलब यह है कि आत्मा स्वतः सत्य हो या असत्य, इस सत्या-सत्यता का विधान नहीं किया जा सकता (अर्थात् यह अतार्किक बात है), ऐसा बौद्धों का मन्तव्य है। इसी अव्यक्तवाद की परिणति महायान माध्यमिक दर्शन के 'सर्वदृष्टि प्रहान रूप' तत्व में होती है। अव्यक्त के संबंध में अस्ति, नास्ति, अस्ति—नास्ति और न अस्ति—न नास्ति चारों प्रकार की दृष्टियां असंभव हैं, अतः सर्वदृष्टि विरहित प्रज्ञा ही अंत में शेष रहती है।

कालिदास जी का यह बौद्धमत विश्लेषण बिल्कुल अपूर्व है और वह उनकी अव्यक्त कल्पना से काफी मेल खाता है। वस्तुगत प्रत्येक तत्व (Transcendental Idealities) की भी उनकी अपनी महत्वपूर्ण धारणा है। लेकिन इसका जितना स्पष्टीकरण वे कर पाये हैं वह पर्याप्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि (प्रत्येक) तत्व दृश्य वस्तुओं में होता है तो कितनी मात्रा में होता है, और यह तत्वद्रष्टा के द्वारा आरोपित होता है या नहीं, इन अनेक प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर भट्टाचार्य जी नहीं दे पाये हैं। लेकिन उनके जैसे प्रतिभाशाली विचारक से हम निश्चित अपेक्षा कर सकते हैं कि वे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन सब गुत्थियों को सफलता के साथ सुलझा लेंगे।

डाक्टर टी. आर. वी. मूर्ति कृष्णचन्द्र के संप्रदाय वालों में एक अन्य गंभीर विचारक हैं जिन्होंने बौद्ध दर्शन का गहन अध्ययन कर उसकी मुख्य विचारधारा को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। अब तक के बौद्ध दर्शन के अध्येताओं ने उसे आस्तिक दर्शनों के साथ हमेशा घपलाया है। कम से कम माध्यमिक और वेदान्त को तो मूर्ति जी के पहले विचारक, कभी एक दूसरे से अलगा नहीं पाये। यदि वे ही तर्क, वे ही विचार, वे ही निष्कर्ष माध्यमिक और अद्वैत इन दोनों में दिखलाई पड़ते हैं तो इनमें फर्क ही क्या है? इस प्रश्न का मूर्ति जी ने सप्रमाण यह उत्तर दिया है कि माध्यमिक मत में तत्व सर्वदृष्टि प्रहाण मात्र है, किन्तु अद्वैत मत में तत्व, इस प्रहाण के भी प्रहाण के अनंतर जो स्वयंप्रकाश ब्रह्म मात्र अवशिष्ट रहता है, वह है। कांट का मत इस मत से मिलता जुलता है। माध्यमिकों की विचार पद्धति भी अपने ढंग की निराली ही है। परस्पर विरोधी विचार-प्रणालियों के प्रादुर्भाव के अनंतर ही माध्यमिक दर्शन का उदय हो सकता था क्योंकि उसका कार्य विचारमात्र के अन्तर्विरोध का निदर्शन(Dialectic) ही है। कई विचारकों को मूर्ति जी के विचारों की मौलिकता का अभी भी आकलन नहीं हो पाया है। इनमें डाक्टर पी. एस. शास्त्री एक हैं, जो मूर्ति जी को अद्वैत और माध्यमिक का समन्वयकर्ता बतलाते हैं, जो नितान्त भ्रामक है। भारतीय दर्शन के आधुनिक प्रवक्ताओं में डॉक्टर मूर्ति का आज सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

डॉक्टर टी. एम. पी. महादेवन् ये सामान्यतया अद्वैत के अनुयायी और विशेषतया विवरण-संप्रदाय के पुरस्कर्ता तथा एक व्यापक दृष्टि के चिन्तक हैं। इन्होंने गौड़पाद की कारिकाओं पर एक अनुसंधानपूर्ण ग्रंथ तथा भारती तीर्थ के शाङ्कर संप्रदाय वाले दर्शन पर एक ग्रंथ लिखे हैं। जैसाकि डॉक्टर पी. एस. शास्त्री ने लिखा है, ये अद्वैत के शाब्दिक अर्थ पर निर्भर रहने वाले नहीं हैं। इंडियन फिलासफी कांग्रेस के अध्यक्ष पद से दिये गये अपने भाषण Rediscovery of man में, जो आधुनिक दार्शनिक प्रवृत्तियों की एक अतीव सुन्दर अद्वैती समीक्षा है, वे कहते हैं कि दर्शन का मुख्य उद्देश्य हमें अधिकाधिक आभ्यन्तर की ओर ले जाना है। अद्वैत ही अन्तरतम की ओर ले जाने में समर्थ है। सभी दार्शनिक पहेलियों का सुलझाव अन्तरतम की गहराई में ही संभव है। डॉक्टर महादेवन् अद्वैत के तत्व को परखनेवाले एक महान् मनीषी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

डॉक्टर पी. टी. राजू ये परम्परावाद से कुछ हटे हुए किन्तु उसके मूल तत्वों को अपनाये हुए एक विख्यात भारतीय चिन्तक हैं जिनमें पर्याप्त मौलिकता है। इनकी रचनाओं में तारतम्य, सूक्ष्मदर्शिता, नयी सूझें इन सभी गुणों का प्रदर्शन मिलता है। ये भी आभ्यन्तर दृष्टि (Inward absolute) को दर्शन में अनिवार्य तथा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आवश्यक समझते हैं। राजू महोदय की और महादेवन् की आभ्यन्तर दृष्टियों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि महादेवन् बाह्य से क्रमशः विश्लेषण करते करते अन्तरतम की ओर दर्शन की प्रगति मानते हैं जबकि राजू के मत से यह प्रगति अन्तरतम से बाहर की ओर होनी चाहिये। बिना आभ्यन्तर दृष्टि को प्रारम्भ से ही स्वीकार किये प्रकृति, महत् इत्यादि दार्शनिक तत्वों की उपयुक्तता ही समझ में नहीं आ सकती। लेकिन इस भूमिका के अनुरूप राजू साहब की विचार पद्धति (Postuational Method) नहीं है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि पहले से ही प्राप्त हो गयी तो अर्थापत्ति की पद्धति से किस सत्य का निष्कर्षण किया जाय ?

जी. आर. मलकानी ये अद्वैत संप्रदाय के अनुवर्ती एक और प्रसिद्ध दार्शनिक हैं। इनमें विचारों की मौलिकता तो नहीं है, फिर भी प्राचीन विचारों को बिना तोड़ मरोड़ के अंग्रेज़ी में उतारने का कौशल अच्छी तरह प्राप्त है। निरपेक्ष शुद्ध चैतन्य की अवधारणा को ये अपने दर्शन की केन्द्रीय कल्पना मानते हैं। पर इस कल्पना के समर्थन में जो तर्क इन्होंने प्रस्तुत किये हैं वे वेदान्त के सभी प्रारंभिक ग्रंथों में उपलब्ध हैं।

डा. जे. एन. छब एक सूक्ष्मदर्शी वेदान्ती हैं जिन्होंने 'अद्वैत', 'दर्शन' आदि की कल्पनाओं पर अपने निबंधों में काफी प्रकाश डाला है। द्वैत--निरास यह अद्वैत तक पहुँचने की एक अत्यंत महत्वपूर्ण अवस्था है, इस तथ्य का उन्होंने अच्छी तरह आविष्कार किया है। इसीप्रकार 'दर्शन मानवमात्र को प्राप्त विभिन्न अन्तर्दृष्टियों (Revelations) का निदिध्यासन है यह उनकी अत्यंत नावीन्यपूर्ण कल्पना है। जब कि ब्रैडले जैसे दार्शनिक दर्शन को सहजप्रवृत्तिमूलक क्रिया कहते हैं छब साहब का मन्तव्य है कि दार्शनिक अन्तर्दृष्टि बीज के रूप में हर मनुष्य में विद्यमान है। यह बीज मानो अंडे के समान है जिसे दार्शनिक सेता है। मतलब यह है कि दार्शनिक चिन्तन एक आध्यात्मिक अर्थपूर्ण प्रक्रिया है।

श्री कालीकृष्ण बनर्जी एक उदीयमान विचारक हैं जिन पर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि दर्शनों का तथा आधुनिक विश्लेषणवादी प्रवृत्तियों का भी काफ़ी प्रभाव पड़ा है। दर्शन के स्वरूप के संबंध में इन्होंने काफी मनन किया है। इनका कथन है कि दर्शन एक प्रकार की आध्यात्मिक गोष्ठी में अपने आप चल पड़ने वाली प्रक्रिया है जिसका मंतव्य आत्मिक अनुभूतियों का आदान-प्रदान मात्र-जिसे वे वाद कहते हैं—है। तर्क का दर्शन में वास्तविक स्थान नहीं है। इस मत का कृष्णचन्द्र जी की विचारसरणी से कितना साम्य है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

श्री बनर्जी एक और महत्वपूर्ण विचार हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं : वह है दार्शनिक प्रवृत्तियां के उदय के सम्बन्ध में। वे भारतीय दार्शनिकों की इस मूलभूत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

धारणा के पक्षपाती हैं कि दर्शन का उदय आश्चर्य की भावना में नहीं, वह दुःख की अनुभूति में ही होता है।

डॉक्टर पी. एस. शास्त्री अद्वैत के अन्यतम पुरस्कर्ता हैं। इन्होंने प्रभूत मात्रा में लेखन किया है। इसमें इन की व्यापक ग्रहण-शीलता का ही परिचय मिलता है। इनकी अपनी कोई दार्शनिक भूमिका नहीं दिखाई पड़ती यद्यपि इनका ख्याल है कि हेगेल या अद्वैत से भिन्न और माध्यमिकों की चतुष्कोटि से विमुक्त ऐसी कोई स्वतंत्र प्रत्यक्ष-अनुभव परक भूमिका हो ही नहीं सकती। ये कहते हैं कि मध्यलुप्त नियम के बदले परित्याग पर ही इन का दर्शन आधारित है। लेकिन चतुष्कोटि परित्याग का इनका अपना कोई ढंग नहीं है। अद्वैत के ही तर्क एक जगह इन्होंने बटोर कर रख दिये हैं। इसलिये इनकी विचार-सरणी को न केवल स्वतंत्र कहना ही कठिन है, उसे संकलनात्मक (Eclectic) कहना भी कठिन है। तथापि अध्ययन के विस्तार की दृष्टि से देखा जाय तो डॉक्टर शास्त्री को भारतीय विचारकों में बहुत बड़ा स्थान देना पड़ेगा।

अद्वैत की परम्परा से कुछ हटे हुए और यथार्थवादी विशिष्टाद्वैत की परम्परा के प्रति आकृष्ट होने वाले एक मौलिक परम्परावादी विचारक हैं डाक्टर सच्चिदानन्द मूर्ति, जिन्होंने यद्यपि बहुत नहीं लिखा है तो भी जितना लिखा है वह काफी महत्वपूर्ण है। भारतीय यथार्थवाद के तार्किक समर्थकों में मूर्ति जी अग्रगण्य हैं। इतिहास के संबन्ध में भागवत में निर्दिष्ट विचारसरणी का उनका परिष्कार तथा ईश्वरवाद से संबंधित नैयायिक भूमिका का उनका समर्थन विशेषरूप से विचारणीय हैं। न्याय की अनुमान-प्रक्रिया का अर्थापत्ति-साधारण (Common to postulational Method) स्वरूप और उसके आधार पर नैयायिकों के ईश्वरास्तित्व साधन के प्रयास की उपयुक्तता यह बात सर्वप्रथम मूर्ति जी ने ही उपस्थित की है।

उनकी महत्वपूर्ण कृति Revelation and Reason in Advaita Vedanta इसी यथार्थवादी भूमिका का विस्तार से स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती है। इस ग्रंथ में शांकर वेदान्त पर ऐसे अनेक आक्षेप किये गये हैं जिनका अद्वैतसिद्धि आदि ग्रंथों में समाधान उपलब्ध है, तथापि विशिष्टाद्वैत की भूमिका का उनके द्वारा काफी अच्छा स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। अन्ततोगत्वा अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का भेद तर्क से सुलझने वाला नहीं है। अतः यदि मूर्ति जी को रामानुज की ईश्वर की कल्पना ही भाती हो तो अद्वैत का कोई भी तर्क उनको सन्तोष नहीं दे सकता। इस दृष्टि से देखा जाय तो Philosophical Quarterly में एक समीक्षक ने उन के ग्रंथ पर जो आक्षेप उपस्थित किये हैं वे पक्षाभिनिवेश के ही द्योतक प्रतीत होते हैं।

प्रस्तुत निबंध का लेखक भी परम्परावादी है। उसका झुकाव अद्वैती अध्यात्मवाद की ओर ही है। इस पर उसने कुछ लेखन भी किया है। किन्तु अभी उसके विचार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विशेष परिपक्व नहीं हुए हैं। अतः उनका विस्तार के साथ निर्देश करना वह उचित नहीं समझता।

परिशिष्ट

प्रस्तुत निबंध में चर्चित दार्शनिकों में से उन कुछ विद्वानों की महत्वपूर्ण रचनाओं की संक्षिप्त सूची यहां दी जा रही है जिनकी विचार-प्रणालियां काफी प्रभावी सिद्ध हुई हैं।

डा० राधाकृष्णन्—	Indian Philosophy Vols. I & II.
	Idealistic Thought of India.
	Eastern Religion and Western Thought.
	Religion and Society.
डा० सु. ना. दास गुप्ता—	History of Indian Philosophy Vols. I to V.
	Indian Idealism.
	Philosophy of Yoga.
	Philosophical Essays.
डा० रा. द. रानडे—	Constructive Survey of the Upanishads
	Mysticism in Maharashtra.
श्री अरविन्द	Life Divine
	Savitri.
डा० भी. ला. आत्रेय	Yoga Vasistha and Modern Thought.
डा० टी. एम. पी. महादेवन्	Philosophpy of Advaita Karikas of Gaudapada.
डा० पी. टी. राजू	Thought and Reality.
	Idealistic Thought of India.
जी. आर. मलकानी	Ajnana,
	लेख (Philosophical Quarterly)
डा० सच्चिदानन्द मूर्ति	Rhythm of the Real
	Revelation and Reason in Vedanta.
	Problems of Peace.
श्री कृ. चं. भट्टाचार्य	Studies in Philosophy Vols, I & II.
डा० का. दा. भट्टाचार्य	Alternative Standpoints in Philosophy.
डा० टी. आर. वी. मूर्ति	Central Philosophy of Budhism.
डा० पी. एस. शास्त्री	लेख—प्रबुद्ध भारत, कलकत्ता रिव्यू, दार्शनिक आदि में
का. कृ. बनर्जी	लेख—वसुमती, तथा Philosophical Quarterly.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

III

नवीन हिन्दू आध्यात्मिक एवं धार्मिक दर्शन

डा० ब्रजगोपाल तिवारी

आधुनिक काल में भी अनेक अद्वैतवादी महात्मा तथा भक्तिवादी सन्त ऐसे हुए हैं जिनका दृष्टिकोण प्राचीन अथवा मध्य-कालीन कहा जा सकता है; इनमें से बहुतेरे अंग्रेज़ी भाषा, आधुनिक इतिहास, भूगोल तथा भौतिक शास्त्र आदि के ज्ञान से भी अनभिज्ञ रहे हैं। पर एकाध को छोड़कर जिन विद्वानों, विचारकों, भक्तों तथा रहस्य-वादियों के सिद्धान्तों की व्याख्या इस अध्याय में प्रस्तुत की जा रही है वे ऐसे हैं जिनका संपर्क पाश्चात्य इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा दर्शन से भी रहा है। अपने तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप,इन विचारकों ने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों के कई अंगों पर नया प्रकाश डाला है; और, साथ ही साथ, उन्होंने यह भी पाया है कि व्यापकता, गंभीरता तथा विश्लेषण की तीक्ष्णता में भारतीय दर्शन, यदि पाश्चात्य दर्शन से अधिक उन्नत न माना जाय तो, उससे इन बातों में कम भी नहीं कहा जा सकता है। इन विचारकों ने दार्शनिक तत्वों को भौतिक विज्ञान द्वारा न ढूंढकर, केवल आध्यात्मिक एवं धार्मिक साधना के माध्यम से ही ढूंढने का यत्न किया है। इसी शताब्दी के कई पाश्चात्य दार्शनिकों के समान, ये भारतीय साधक एवं विचारक भौतिक विज्ञान की प्रयोगशालाओं और पद्धतियों से इतने नहीं दबे कि आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रणाली को दूर हटाकर, केवल दार्शनिकता की ज्योति के प्रकाश में, विचार-जगत् में, विचरने का प्रयास करें।

उपर्युक्त दृष्टिकोण को सामने रखते हुए पहले हम गृहस्थ-दार्शनिकों, डा० भगवानदास आदि के सिद्धान्तों का वर्णन प्रस्तुत करेंगे और बाद में सन्यासी सन्तों एवं महात्माओं की विचारावली का।

डा० भगवान दास (१८६९-१९५८) आधुनिक काल के प्रमुख भारतीय विद्वानों एवं दार्शनिकों में गिने जाते हैं। उन्होंने भारतीय दर्शन के प्राचीन तत्वों एवं सिद्धान्तों का बड़ी श्रद्धा से अध्ययन किया और उन सिद्धान्तों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पाश्चात्य विज्ञान एवं दर्शन की नवीनतम खोजों के प्रकाश में देखकर, उनपर गंभीर मनन किया। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय दर्शन के तत्व विश्व-व्यापी एवं नित्य (शाश्वत) हैं; और उन्होंने, अपनी अनेक रचनाओं द्वारा, यह बहुत दूर तक सिद्ध कर दिया कि आधुनिक दर्शन के प्रायः सभी क्षेत्रों में, जीवन एवं विचार की प्रायः समस्त समस्याएं प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रकाश में सुलझाई जा सकती हैं।

डा० भगवान दास की विचारावली पर "थियोसोफी" (ब्रह्म विद्या) आन्दोलन का विशेष प्रभाव पड़ा। (ब्रह्म-विद्या (थियोसोफी) आन्दोलन की विचारावली के निर्माण में डा० भगवान दास का भी हाथ है; और यह कहना कठिन है कि उन्होंने इन विचारकों से क्या लिया और इन्हें क्या दिया।

इतना तो स्पष्ट ही है कि इन विचारकों की प्रेरणा और पद्धति से लाभ उठाकर, डा० भगवान दास से हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथों में विश्व-व्यापी तथा नित्य (शाश्वत) सिद्धान्त, तत्व अथवा सत्य पाये।

किन्तु अद्वैत वेदान्त के समर्थन द्वारा डा० भगवान दास ने केवल पुराने माया-वाद अथवा लयवाद की पुनरावृत्ति मात्र नहीं की; उन्होंने इस सिद्धान्त का जीर्णोद्धार ही नहीं वरन् पुनर्निर्माण किया और इसे मानव समाज के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, अर्थात् धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शिक्षा क्षेत्र में, पुनर्निर्माण का मूल-मंत्र बनाया। उन्होंने धर्म का आधार नैतिकता में और नैतिकता तथा नीति-शास्त्र का आधार आत्म-विद्या (अथवा आत्म-ज्ञान) में पाया। किन्तु वे यह मानते थे कि "मायावाद" का यह अर्थ नहीं है कि हमारा व्यावहारिक जीवन और इस जीवन में भाग लेने वाले स्त्री-पुरुष तथा इस जीवन की वस्तुएं प्रपंच-मात्र एवं त्याज्य हैं; वे भी अ-संसारवाद (Acosmism), भ्रमवाद (illusionism) तथा (जड़) शान्तिवाद (Inectism) की मध्य-कालीन परम्पराओं में आर्य धर्म की मूल-प्रवृत्ति की अवहेलना पाते थे; और वे संन्यास के मध्य-कालीन रूप में परिवर्तन करना आवश्यक समझते थे। इस प्रकार, डा० भगवान दास द्वारा प्रतिपादित आत्म-विद्यावाद उनको नैतिक इहलोकवाद (Ethical Sacularism) की ओर ले जाता है।

डा० भगवान दास की सर्वोत्तम दार्शनिक रचना अंग्रेज़ी भाषा में लिखी गई पुस्तक "The Science of Peace" (शान्ति का विज्ञान) है, जो बाद में परिवर्तित रूप में, "The Science of the Self" (आत्म-विज्ञान) के नाम से प्रकाशित हुई। इन ग्रंथों का मूल सिद्धान्त इस जिज्ञासु के अशान्त मन को १८ वर्ष की अवस्था में मिला। कई वर्षों के बाद उन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जिस सिद्धान्त को उन्होंने अपने स्वतंत्र विचार से ढूंढ निकाला था उसी सिद्धान्त का पता एक प्राचीन संस्कृत लेखक गार्गायन को पहले ही लग गया था। इस प्राचीन लेखक के ग्रंथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"प्रणववाद" का जब डाक्टर साहब को एक विचित्र ढंग से पता लगा तो उन्होंने उसका अनुवाद करके उसे प्रकाशित किया। डाक्टर साहब का समस्त दर्शन तीन संस्कृत शब्दों के एक सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है—"अहं एतत न", मैं यह नहीं हूँ। उनके मतानुसार, संस्कृत के मंत्र "ओ३म" में इसी सिद्धान्त का संकेत है; इसी कारण, भारत के प्राचीन ऋषि इन अक्षरों का अत्यन्त आदर करते थे; और कठोपनिषद् में इस कारण यह महावाक्य मिलता है—"समस्त तपस्वी जिस तत्व की घोषणा करते हैं, और जिस तत्व के लिये उत्तम पुरुष ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हैं वह परम तत्व मैं तुझे संक्षेप में बतलाता हूँ; वह (तत्व) है 'ओ३म'।"

डा० भगवान दास के मतानुसार, नित्य, निरपेक्ष तत्व (सत्य), यथार्थ में नित्य चैतन्य है, जो "अहं एतत न" के सिद्धान्त के आधार पर चलता है। आर्य साहित्य में इसे "ब्रह्म" कहते हैं; और "ओ३म" के अक्षरों में इसका संकेत मिलता है। यह वह अनुभूति (चैतन्य) है जिसमें विषयी (ज्ञाता) तथा संपूर्ण विषय (ज्ञेय), अहं तथा एतत, आत्म-तत्व तथा अनात्म-तत्व, चैतन्य (पदार्थ) तथा जड़ (पदार्थ), ईश्वर तथा संसार, पुरुष तथा प्रकृति, ईश्वर तथा माया, चिद् तथा अचिद् अर्थात् द्वित्वात्मक अनुभव के दोनों ध्रुव अथवा पक्ष नित्य समन्वित तथा बाधित स्थिति में रहते हैं; वे वहाँ हैं भी और नहीं भी हैं। जब हम निरपेक्ष अनुभूति में स्थित हो जाते हैं, तब इस द्वैत का बाध हो जाता है; और उससे ऊपर उठने पर इस बात की प्रतीति होती है कि (व्यावहारिक जगत् का) यह द्वैत न कभी था और न कभी हो ही सकता है। यह है परा दृष्टि, निरपेक्ष स्थिति, जिसे प्राचीन भारतीय दर्शन के अजातवाद ही का दूसरा नाम कहा और माना जा सकता है। इस स्थिति की यथार्थता का पता उच्चतम अनुभूति अथवा अन्तर्ज्ञान की अवस्था में ही लग सकता है, जो हम सब लोगों के व्यावहारिक अनुभव की तह अथवा संधि में विद्यमान तो रहती है पर जो केवल बौद्धिक अथवा तार्किक पद्धति से ग्रहण नहीं की जा सकती है।

इस निरपेक्ष अनुभूति (अहं एतत न) के अन्तर्गत, इस से सदा संपर्क रखते हुए, किन्तु इसके उच्चतम धरातल के कुछ नीचे निवास करते हुए, "अहं" अथवा "ईश्वर" रूपी चैतन्य है, जो उभय-पक्षी द्वैत का एक पक्ष (अथवा ध्रुव) है। यह "अहं" समस्त विषयाकार "एतत" अथवा शून्य (नास्ति) का, अथवा उस प्रतीति का जो विश्व (एतत) के सब पदार्थों की जननी है, "नेति", "नेति" द्वारा विरोध करते हुए, अपने को उसके विषयों से (असंग भावना द्वारा) पृथक् मानता है; अर्थात् यह समस्त "अहं", अपने आप की प्रतीति में समाकर, उस समस्त "विषय" (एतत) से अपने को अलग तो करता है, पर उसी प्रकार अलग करता है जिस प्रकार स्वामी अपने को सेवक से अथवा राजा अपने को प्रजा से भिन्न करता है। तात्पर्य यह है कि भिन्नता की भावना के साथ साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह प्रतीति भी है कि मैं इस विषयरूपी प्रवाह से, लेश मात्र दबा तो नहीं हूँ, किन्तु इस प्रवाह के अस्तित्व से भी इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि इसको मेट देने से मैं स्वयं भी मिट जाता हूँ। जिस प्रकार देह और उसकी छाया साथ ही रहते और साथ ही विलीन होते हैं, वही दशा विषयी और विषय की है; ये एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते हैं। हाँ, निरपेक्ष चैतन्य में दोनों का समावेश हो जाता है! यथार्थ में ईश्वर का ईश्वरत्व उस अनीश्वर तत्त्व (एतत) के कारण है और उसी अनीश्वर एतत (यह) पर निर्भर भी है, जो ईश्वर के ईश्वरत्व को सीमित करता है और जिसका सामना करते हुए, निरन्तर ढंग से कभी तो उस तत्व से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और फिर उस से पृथक् भी होता रहता है। एतत (यह) शरीर है और ईश्वर (मैं) शरीरी अथवा आत्मा। इस प्रकार, ईश्वर इस "ब्रह्माण्ड" का "अहं" है। यहां "ब्रह्माण्ड" से तात्पर्य किसी विशेष विश्व या जगत् से नहीं है जिसका विशेष देवता अलग हुआ करता है वरन् ब्रह्माण्ड का तात्पर्य है विषयाकार बुद्धि अथवा अहं के समस्त विषयों का समूह; और यहां "अहं" का तात्पर्य है आत्म-स्थापना करने वाला चैतन्य, अतः वह चैतन्य जो समस्त विश्व का सक्रिय ढंग से निर्माण करता है। इस प्रकार, ईश्वर के जीवन में—चाहे वह जीवन कितने भी समय के लिये हो— तीन क्षण हैं: पहला, समस्त विषयों के समूह में रुचि, इस से लगाव, इसपर ध्यान देने और इस से तादात्म्य स्थापित करने का क्षण। इन क्रियाओं द्वारा विश्व में यथार्थता एवं दृढ़ता की स्थापना (सृष्टि) होती है। दूसरा क्षण है ईश्वर की, विविध एवं असीम ढंगों से, इस सृष्टि के साथ लीला (स्थिति)। और तीसरी क्षण है, इस पसारे अथवा प्रवाह से अरुचि, इससे असंग की प्रेरणा, इसका बाध और इस प्रकार निरपेक्ष शान्ति में विश्वरूपी "अहं" का भी विलीन हो जाना (प्रलय)।

क्योंकि "अहं" (मैं) और "एतत" (यह) अनुभव के विरोधी ध्रुव हैं, अतः इन के लक्षण एक-दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। "अहं" एक है क्योंकि, यद्यपि प्रत्येक पुरुष अपने को अन्य स्त्री-पुरुषों से भिन्न पाता है तथापि "अहं" सब में सामान्य है; प्रत्येक पुरुष अपनी ओर संकेत करते हुए अपने को "मैं" कहता है। यह अनुभव का वह ध्रुव है जिसका सम्बन्ध ज्ञान, कर्त्ता, भोक्ता, विषयी से है और जो सब चैतन्य जीवों में समानरूप से रहता है। किन्तु दूसरी ओर, अर्थात् "अहं" के विषयों में, अनन्त विविधता, नानात्व, बहुत्व, असमानता है। इस प्रकार, ईश्वर (अहं अथवा मैं) को सीमित करने वाला "यह", अर्थात् समस्त विषयों का समूह, अथवा विश्व असीम, नानात्व से भरा हुआ है। इस नानात्व से भरे हुए विश्व से, एक साथ ही, ईश्वर (अहं अथवा मैं) तादात्म्य स्थापित कर सकता है अथवा, एक साथ ही व एक बार में ही, इसका बाध कर सकता है; अथवा यह भी हो सकता है कि वह शनैः शनैः इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ब्रह्माण्ड के कभी एक भाग या टुकड़े से लगाव स्थापित करे और उसके साथ पहले संयोग और फिर वियोग की, प्रत्येक भाग से अथवा इन भागों के समूह से वारी वारी से, लीला खेले। इस प्रकार ईश्वर रूपी "अहं" (मैं) का समस्त ब्रह्माण्ड के असीम अंशों अथवा पक्षों से पहले तादात्म्य स्थापित करने और वाद में उस से अलग हो जाने की क्रिया के फलस्वरूप, विश्व-चेतना (ईश्वर) के अनेक रूपान्तर, अर्थात् अनेक प्रकार के जीवों, व्यक्तित्वों अथवा व्यक्तियों की चेतनाओं का उदय होता है; और इन विविध जीव-रूपी चेतनाओं की संसार-यात्रा अनन्त विधियों से चलती रहती है। इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं—एक तो मैं अथवा "अहं", जो सब में सामान्य है, और दूसरा "यह" अर्थात् ब्रह्माण्ड (विश्व) का वह अंश जिस से उस व्यक्ति की चेतना सम्बन्ध स्थापित कर रही है। विश्व के किसी एक अंश से तादात्म्य हो जाने से दूसरे अंश के प्रति इस व्यक्ति की उदासीनता अथवा शत्रुता स्वाभाविक ही है। फिर प्रत्येक लगाव (संयोग) के बाद अलगाव (वियोग) भी हुआ करता है। विषयी "अहं" विषयों के समस्त समूह से अपने को एक वारगी बड़ी कठिनाई से हटा पाता है; ऐसा तभी हो सकता है जब उसने इसके पूर्व विषयों के समस्त प्रवाह से एक ही साथ, गहरा तादात्म्य भी स्थापित कर लिया हो। अन्यथा, जीव एक वस्तु से हटने के बाद दूसरी वस्तु की ओर खिंचता है। और फिर उस वस्तु को छोड़ कर तीसरी से चिपकता है, और यह क्रिया बहुत काल तक चलती रहती है और तबतक समाप्त नहीं होती जबतक जीव, विचार द्वारा, इस विषयाकार ब्रह्माण्ड की अयथार्थता अथवा शून्यत्व का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर लेता। इस ब्रह्माण्ड के असीम अंशों से पहले संयोग और फिर वियोग करते रहने की अनन्त क्रिया से "समय" की प्रतीति, और इसके अंशों को एक साथ लेकर उनसे संपर्क अथवा संघर्ष करने से "अवस्थान" की धारणा उत्पन्न होती है। "अहं" की किसी विशेष वस्तु की ओर गति का नाम "कर्म" है और किसी नई वस्तु (एतत) से तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति का नाम "इच्छा" है। इस तादात्म्य की अस्वीकृति "द्वेष" है। इस "अहं" (मैं) का किसी "एतत" (यह) की ओर ध्यान के अभाव का नाम "अज्ञान" है। "अहं" के किसी "एतत" से तादात्म्य के फलस्वरूप एतत में आत्म-चेतना, अहंकार तथा व्यक्तित्व का और अहं में विषय-रूपता और विशेषता का आविर्भाव होता है। इस "एतत" (ब्रह्माण्ड) के अनन्त अंशों व पक्षों की ओर बारी बारी से एक के बाद दूसरे पर ध्यान देने से परिवर्तन, विकास अथवा उन्नति (प्रगति) की अनन्त प्रक्रिया का उदय होता है; और इन अनन्त अंशों व पक्षों की ओर एक ही साथ ध्यान देने से इस समस्त जगत् के पसारे का—अणु (अंड) से ब्रह्माण्ड का—उदय होता है।

निरपेक्ष अनुभूति में दोनों प्रवृत्तियों का, अर्थात् "मैं यह हूँ" और "मैं यह नहीं हूँ"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का, पूर्ण संतुलन अथवा एक दूसरे में विलय होता है; अतः अहं (मैं), एतत (यह), तादात्म्य, बाध, व्यक्तित्व, परिवर्तन, नानात्व आदि की इस अनुभूति में चेतना भी नहीं रहती है। बंध, भोग, दुःख तथा बुराई (अशुभ) केवल उनके लिये ही हैं जिनका राग या लगाव इस पूर्णता के किसी अंश से सीमित है, क्योंकि वे उस अंश से उदासीन होकर किसी अन्य अंश की ओर आकर्षित होते हैं, और इस प्रकार वे अपने तादात्म्य को किसी एक अंश या भाग तक सीमित रखते हैं और दूसरे अंश या भाग से दूर हट जाते हैं। इस लीला की क्रिया तबतक चलती रहती है जबतक कि अनुभव के दोनों विरोधी ध्रुवों—अहं और एतत, विषयी और विषय—को पार करके निरपेक्ष चैतन्य, निरपेक्ष अनुभूति अथवा नित्य, परमानन्द के सागर में नहीं पहुँच जाते हैं। इस सिद्धान्त का नाम "समन्वयात्मक निरपेक्षवाद" रखा गया था। इस दर्शन के आधार पर डा० भगवान दास ने अपने नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षा-शास्त्र, तथा साधना-योग का निर्माण किया था। इन शास्त्रों की रोचक एवं लाभप्रद व्याख्या इनके भिन्न भिन्न ग्रन्थों में मिलती है*।

उपर्युक्त वर्णन से विदित होगा कि डा० भगवान दास के दर्शन में "माया" के प्रत्यय के स्थान पर "प्रकृति" के प्रत्यय पर विशेष बल है। इसी प्रकार, उपर्युक्त व्याख्या में "आध्यात्मिक" और "नैतिक" के भेद पर, पुराने ढंग की व्याख्याओं के समान, बल नहीं है। डा० भगवान दास पाश्चात्य बुद्धिवाद में अध्यात्म और प्राच्य अध्यात्मवाद में बुद्धिवाद को सवन्वित करना चाहते थे।

महर्षि देवेन्द्र नाथ ब्रह्म समाज के निर्माता राममोहन राय से प्रभावित हुए। इन्होंने भी राय की तरह ही आप्तवचन पर विश्वास के स्थान पर बुद्धि तथा अन्तरात्मा की प्रेरणा पर ही अधिक बल दिया।

* १. मानव धर्म सारः (संस्कृत)
२. समन्वय (हिन्दी)
३. पुरुषार्थ (हिन्दी)
४. The Essential Unity of All Religions.
५. The Science of Peace.
६. The Science of the Self.
७. The Science of the Emotions.
८. The Science of Social organisation.
९. The Science of Religion.
१०. Ancient versus Modern Scientific Socialism.
११. World War and Its only Curse.
१२. Communalism, Its Cause and Cure.
१३. Ancient Solutions of Modern Problems,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नवीन हिन्दू आध्यात्मिक एवं धार्मिक दर्शन

अपने सहयोगियों के साथ विचार-विमर्श करने के बाद महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर इस निर्णय पर पहुँचे—

"वेद, उपनिषद् तथा अन्य प्राचीन ग्रंथ सर्वोत्तम प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं। बुद्धि और अन्तरात्मा का प्रकाश ही सर्वोत्तम प्रमाण है। आप्तवचन से प्राप्त सिद्धान्त वहां तक ही मान्य हैं जहां तक कि वे हमारे अंदर के प्रकाश से मेल खाते हों।"†

महर्षि अन्तरात्मा की सूझ अथवा अन्तर्दृष्टि पर विशेष वल देते हैं। उनका कथन है—"मुझे दीख गया कि अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त ज्ञान से भरा हुआ शुद्ध हृदय ही आधार है। ब्रह्म (समाज) वाद का स्थान पवित्र, निर्मल हृदय ही में है। हम उपनिषदों के केवल वे ही अंश स्वीकार कर सकते थे जो हृदय से सामंजस्य में थे; जो अंश हृदय से सामंजस्य नहीं खाते थे, हम स्वीकार नहीं कर सकते थे"❀।

महर्षि के हृदय में सब धर्मों का आदर था। इस्लामी और ईसाई मतों के एकेश्वरवाद का उनके हृदय पर विशेष प्रभाव पड़ा था; और इस प्रकार वे निर्गुण ईश्वर के उपासक बन गए। साथ ही साथ, महर्षि गृहस्थ जीवन के सभी कर्त्तव्यों का भी पालन करते थे और पाश्चात्य सभ्यता के प्रकाश में समाज सुधार, स्त्री शिक्षा आदि बातों पर भी ध्यान देते थे। एक बार अपनी ज़मींदारी की समस्याओं को निपटाने के लिये जंगल में दौरा करते समय एक वृक्ष के नीचे उनको एक विलक्षण अनुभूति प्राप्त हुई। उनका ईश्वर से एकत्व गहराई पकड़ गया। तब से वे गंभीर ईश्वरवादी हो गए।

पर महर्षि ईश्वर और जीव के तादात्म्य के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे, इस सिद्धान्त में वे अपने प्रभु का अनादर पाते थे। अपूर्ण जीव (अणु) पूर्ण ईश्वर (विभु) होने का दावा कैसे कर सकता है? अतः जिस प्रकार मध्य तथा आधुनिक कालों के अनेक विचारकों को, जैसे रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य आदि तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती और श्री अरविन्द आदि को, भिन्न भिन्न कारणों और प्रेरणाओं से शंकराचार्य का अद्वैतवाद समीचीन नहीं लगा उसी प्रकार महर्षि को भी अद्वैतवाद एवं मायावाद में दोष मिला। यही नहीं, अपितु उपनिषदों के महावाक्यों में भी दोष दिखाई दिये। वे लिखते हैं:—

"किन्तु जब उपनिषदों में मुझे ये वाक्य मिले "मैं वही हूँ" (सोहमस्मि), "तू वही है" (तत्वमसि) तब मुझे उन से भी निराशा हुई।"⁂

इस प्रकार हमें महर्षि के दर्शन में एक ईश्वर के प्रति विश्वास और श्रद्धा, जीव-ईश्वर की भिन्नता, इस जगत् की यथार्थता तथा नैतिक जीवन की आवश्यकता और

† आत्मजीवनी, पृ०—१६१.
❀ वहीं पृ० १६४. ⁂ वहीं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अन्तरात्मा के प्रकाश में सत्य खोजने का महत्व—ये सिद्धान्त मिलते हैं।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की भूल से, अर्थात् विषयी अथवा ज्ञाता की बुद्धि, अन्तर्दृष्टि, अन्तरात्मा अथवा सूझबूझ पर बल देने वाले व्यक्तिवाद से बचते हैं, और वे आंशिक रूप में उपनिषदों के शब्द प्रमाण (आप्त वचन) को स्वीकार करते हैं। किन्तु इन वचनों का अर्थ वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के प्रकाश के आधार पर लगाते हैं। इसी प्रकार वे एक और दिशा में भी अपने पिता से आगे बढ़ जाते हैं; वे अद्वैत वेदान्त को उदारता पूर्वक देखते हैं और इस सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं करते। पर फिर भी वे अपने धर्म-सम्बन्धी प्रवचनों में इस बात पर स्पष्ट रीति से बल देते हैं कि मानव-धर्म के लिये केवल एकेश्वरवाद ही मूल्यवान् है।* इस प्रकार, उपयोगितावादी तर्क के आधार पर वे भी अन्त में अद्वैत सिद्धान्त को छोड़ देते हैं। मायावाद (भ्रामक प्रतीतिवाद) का तो उनके दर्शन में कोई स्थान ही नहीं है; वे समस्त विश्व को एक प्रकार का गीत या नृत्य मानते हैं। वे उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य भारतीय सुधारकों के समान ही सन्यास की प्रथा तथा (जड़) शान्तिवादी अकर्मण्यता का खंडन करते हैं और वर्ण-भेद की प्रथा को दोषपूर्ण बताते हैं। उनका ईश्वर तो वहां निवास करता है जहां श्रमजीवी मजदूर सड़क पर पत्थर तोड़ता है।§

उनके नाट्य-काव्य "प्रकृतेर प्रतिशोध" में मुख्य पात्र एक सन्यासी है जो सब स्वाभाविक इच्छाओं, भावनाओं और वृत्तियों का अपने हृदय से उन्मूलन करके अनन्त तत्त्व की प्राप्ति करने की चेष्टा करता है, पर एक लड़की उसे चेताती है और यह सुझाती है कि मोक्ष की प्राप्ति संसार को छोड़ने में नहीं है वरन् मानव सेवा में है। इसका उल्लेख करते हुए गुरुदेव अपने आत्म-चरित में लिखते हैं कि मेरे समस्त लेखों का अभिप्राय यही रहा है कि "ससीम में असीम की प्राप्ति ही आनन्द है"। वे पृथ्वी पर ही वैकुण्ठ उतार लाना चाहते हैं, अथवा पृथ्वी को ही स्वर्ग के समान बना देना चाहते हैं।

अतः मानव जीवन, विशेषतः भारतीय जीवन, के उद्धार के लिये यह आवश्यक है कि निरक्षरता, अंधविश्वास, वर्ण-भेद, जाति-भेद, भाषा-भेद, राष्ट्र-भेद, धर्म-भेद आदि कुप्रथाओं का निवारण हो और विश्व-बंधुत्व की भावना का संसार भर में प्रचार हो। गुरुदेव अन्तर्राष्ट्रीय एकता के प्रतिपादक थे।

गुरुदेव का अद्वैतवादी विचारकों से एक और बात में भी मतभेद था। सत्य

* मनुष्य का धर्म, अध्याय १५ (The Religion of Man, Chap. XV—Hibbert Lectures).

§ गीतांजली—सं. ११.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(तत्त्व) की प्राप्ति के लिये वे कोरे ज्ञान को अपर्याप्त समझते थे, अतः उनके मतानुसार ज्ञान और भक्ति दोनों के समन्वय द्वारा ही सत्य की प्राप्ति संभव है, अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार कवितामय भावनाओं पर बल देने का अभिप्राय यह नहीं है कि कठिन परिश्रम, शारीरिक श्रम तथा लोकसेवा के मार्ग पर उनका कम ध्यान है। युग-धर्म तथा नवीन विश्व-संस्कृति की प्रेरणाओं के प्रति जागरूक रहते हुए गुरुदेव बौद्धिक श्रम के साथ-साथ शारीरिक परिश्रम को भी व्यावहारिक एवं नैतिक जीवन की पूर्णता के लिये आवश्यक समझते थे और इस बात को कोरे मौखिक उपदेश तक सीमित न रख कर उन्होंने शान्ति-निकेतन तथा श्री निकेतन के समस्त कार्य-क्रमों तथा कार्य कर्ताओं के जीवन में इसे उतारने का पूरा यत्न किया। इस प्रकार हमें गुरुदेव के दर्शन में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म-योगों का समन्वय मिलता है।

स्वामी राम तीर्थ (१८७३-१९०६) के जीवन और उपदेशों में भारतीय संस्कृति का सर्वोत्तम रूप मूर्तिमान् है। उनके दर्शन में धर्म एवं अध्यात्म, और भौतिक विज्ञान तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृतियों का समन्वय मिलता है।

संवित शास्त्र अथवा ज्ञान शास्त्र में स्वामी राम परा और अपरा विद्या के प्राचीन भेद को, जिसे उपनिषदों के समय से भारतीय ऋषि और मुनि तथा अन्य विचारक मानते आ रहे हैं, उचित बतलाते हैं। वे परम सत्य के ज्ञान के लिये इन्द्रियजन्य तथा बुद्धिजन्य दोनों प्रकार के ज्ञान को अपर्याप्त समझते हैं। इसी प्रकार वे भौतिक विज्ञान तथा दर्शन को भी अपर्याप्त मानते हैं; क्योंकि विद्या की ये दोनों शाखाऐं ससीम बुद्धि की ही सूझ-बूझ पर निर्भर हैं। यही दोष साधारण मनुष्यों के विश्वासों तथा विद्वानों के मतों तथा उनकी धारणाओं में भी पाया जाता है। अतः राम के अनुसार, सत्य का प्रकाश रहस्यमय अन्तर्दृष्टि (Mystical intuition) में मिलता है, अथवा उस अवस्था में जबकि विषयी और विषय की चेतना लुप्त हो जाती है। यदि साधक परम्परागत रूढ़ीवाद को छोड़ कर आगे बढ़े तो वह इस रहस्यमय अन्तर्दृष्टि की स्थिति प्राप्त कर सकता है और तब उसे सत्य के दर्शन हो सकते हैं। सत्य-दर्शन स्वतः प्रमाणित है। जिसे यह स्थिति प्राप्त हो जाती है वह सत्य को अपना समस्त जीवन अर्पित कर देता है। सत्ताशास्त्र में स्वामी राम वेदान्त के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि इस विश्व का एकमात्र कारण—उपादान तथा निमित्त कारण—ईश्वर है। वह जगत् के पसारे का आधार है और नित्य, बुद्ध, शुद्ध, चैतन्य, सच्चिदानन्द है। वह अद्वय-अनन्त शक्ति समस्त भेदों और सीमाओं का आधार तथा नियामक विधि-निषेध एवं परम गतिशील शक्ति और समस्त जीवन का लक्ष्य है। शुद्ध रूप में वह निर्गुण ब्रह्म है। किन्तु गुणातीत ब्रह्म ही अन्तर्यामी ईश्वर भी है, अक्षर ही विराट् भी है। राम उसे "ओ३म" शब्द द्वारा लक्षित करते हैं और यह मानते हैं कि रहस्यमय तादात्म्य द्वारा उसका साक्षात्कार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हो सकता है। इस प्रकार, स्वामी राम के विचारों में शंकर के निर्गुण और रामानुज के सगुण ब्रह्म का समन्वय मिलता है और उनके ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्त को "गुणाधार निर्गुण" की संज्ञा दी जा सकती है।

इसी प्रकार, अद्वैत परम्परा के अनुसार, वे इस भेद-पूर्ण जगत् को वस्तुतः विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का व्यवहार (अथवा खेल) मानते हैं, जिसकी तह में अद्वैत चैतन्य है। व्यावहारिक जगत् नश्वर होने के कारण नित्य-शाश्वत ब्रह्म ही का अनित्य रूपान्तर है। यह क्षणिक जगत् ब्रह्म द्वारा ही निर्मित और प्रेरित है। इस प्रकार स्वामी राम के सिद्धान्त में यहां भी शंकर के मायावाद और रामानुज के लीलावाद दोनों की झांकियों की झलक मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि माया को मूर्खों अथवा अज्ञानियों के लिये भ्रामक प्रतीति और ज्ञानियों के लिये ब्रह्म की सृजनात्मक अभिव्यक्ति मानकर राम दार्शनिक दृष्टि से शंकर के मायावाद और व्यावहारिक दृष्टि से रामानुज के लीलावाद का समर्थन करते हुए आध्यात्मिक दृष्टि से दोनों के ऊपर उठकर एक रहस्यमय अनुभूति की ओर संकेत करते हैं।

जीव के विषय में स्वामी राम का मत है कि यथार्थ आत्मा न तो शरीर है, न प्राण, न मनस और न अहंकार। व्यावहारिक अनुभव के कोष—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि सब क्षणिक हैं और आत्मा इन सब से भिन्न है। वह स्वयंसिद्ध और स्वयं प्रकाशी तत्व इन सब के परे है। किन्तु राम की दृष्टि केवल अभावात्मक ही नहीं है। वे आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अलख, निरंजन, पूर्ण, आनन्दमय मानते हैं और जगदीश्वर, जगदाधार से इसका यथार्थ तादात्म्य पाते हैं।

स्वामी राम के दर्शन में विचार के अतिरिक्त आचार पर भी बल दिया गया है। वे मानव जीवन का लक्ष्य पूर्णता मानते हैं। पूर्णता में विद्यानन्द, ज्ञान, शान्ति, शक्ति, आनन्द आदि गुणों का समावेश होगा। हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में एक प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति पायी जाती है; और प्रकृति, बाहर से और भीतर से, इस आध्यात्मिक विकास की क्रिया को पूर्णता की ओर प्रेरित कर रही है। मनुष्य को अपनी वर्तमान सीमाओं को पार करके आगे बढ़ना है और एक प्रकार के अतिमानवीय स्वातंत्र्य को प्राप्त करना है। इस स्वतंत्र अवस्था में व्यक्ति में ज्ञान, प्रेम, विद्या और सौंदर्य का विकास और समाज में सामूहिक मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अन्त में मानव-जीवन दैवी-जीवन में परिणत हो जावेगा, जिसमें शान्ति, एकत्व, प्रभुत्व तथा आनन्द का बाहुल्य होगा।

इस प्रकार के जीवन अथवा लक्ष्य के लिये धर्म एक प्रमुख साधन है। धर्म केवल विश्वासों और पूजा, प्रार्थना आदि के समुच्चय का नाम नहीं है वरन् राम के अनुसार, धर्म है ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में पूरा मन लगा देने का दूसरा नाम। इसी को,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वेदान्त में आत्म-साक्षात्कार की साधना कहते हैं। कर्म-कांड, पुराण, गाथाएं आदि सब साधनमात्र हैं (आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति के लिये)। इस प्रकार, यथार्थ में, धर्म व्यापक, स्वतंत्र और स्वाभाविक जीवन है, वह मनुष्य की संपूर्ण शक्तियों का स्वाभाविक आत्म-प्रकाशन है। अतः सच्चे धर्म में विज्ञान और दर्शन में सामंजस्य होना चाहिये। इसी प्रकार सभी धर्मों में भी, आत्मोत्थान के मार्ग में, सामंजस्य होना चाहिये।

धर्म के समान नैतिकता का भी, अर्थात् भिन्न भिन्न नैतिक आदर्शों का भी, आध्यात्मिक आधार है। अतः शुद्ध हृदय (शुद्ध प्रेरक) ही यथार्थ नैतिकता है; और आध्यात्मिक पूर्णता में ही नैतिकता की सफलता का मापदंड है। मूल्यों में ईश्वरत्व ही उच्चतम मूल्य है और आत्म-साक्षात्कार ही उच्चतम सद्गुण है।

इस ईश्वर-प्राप्ति के लिये साधना ऐसी होनी चाहिये जो हमारे स्वभाव के अनुकूल हो। बाह्य परिस्थिति तभी आत्म-साक्षात्कार के कार्य में सहायक होती है जब हम इस मार्ग में सच्ची लगन से और सतर्क होकर आगे बढ़ें। इस साधना में देह, प्राण, मानस तथा अंतःकरण चतुष्टय, अर्थात् अपनी संपूर्ण शक्तियों को हमें लगा देने, की ज़रूरत है। शरीर को यथोचित साधन बनाने के लिये स्वामी राम सादा, नियमित और स्वास्थ्य-वर्धक भोजन, शारीरिक अभ्यास, प्राणायाम आदि आवश्यक समझते हैं। साधक को इन सब साधनों और विधियों का उपयोग धार्मिक भाव से करना चाहिये, अर्थात् खाने-पीने, स्नान करने, चलने-फिरने आदि क्रियाओं को यज्ञ समझकर उन्हें प्रेम और एकत्व की भावना से करना चाहिये। साधक के लिये ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। उसकी बुद्धि विवेकयुक्त और रागद्वेष से परे होनी चाहिये और उसका हृदय शुद्ध, दयालु तथा उदार होना चाहिये। स्वामी राम साधक में पुरुषार्थ की भावना अथवा "शिवोऽहम" (सोहं) की भावना पर बहुत बल देते हैं; और "ओ३म" का उच्चारण आत्म-साक्षात्कार के मार्ग में बहुत उपयोगी बतलाते हैं। वे भक्ति को भी इस मार्ग में परम सहायक मानते हैं। किन्तु अन्त में वे पर्तिकोपासना से अहंग्रहोपासना को, अर्थात् अपने तथा समस्त प्राणियों में बसने वाली आत्मा के प्रति भक्ति को, श्रेयस्कर मानते हैं।

स्वामी राम वेदान्त के व्यावहारिक स्वरूप पर बहुत बल देते हैं। वे एक प्रकार के आध्यात्मिक समाजवाद की कल्पना करते हैं, जिसमें व्यक्ति और समाज का, प्रेम और सहयोग के सिद्धान्तों के आधार पर, एकत्व स्थापित हो जाय। इसी प्रकार वेदान्त के सिद्धान्तों की प्रेरणा द्वारा वे भारत में तथा संसार में अनेक सुधार आवश्यक समझते हैं। वे अस्पृश्यता आदि कुरीतियों का निवारण करना चाहते हैं और आधुनिक भारत में जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों—सामाजिक, राजनीतिक, शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी, तथा धार्मिक, आध्यात्मिक क्षेत्रों आदि में वे अनेक सुधारों पर, उदाहरणार्थ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षण, स्त्री शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा के प्रबंध की आवश्यकता पर, बल देते हैं। इस प्रकार वेदान्त को व्यावहारिक जीवन में लागू करके वे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में सामान्य उन्नति देखना चाहते हैं और इसी प्रकार वे भौतिक विज्ञान, दर्शन तथा धर्म में भी समन्वय स्थापित करना चाहते हैं।

अरुणाचल पर्वत के योगी, तपस्वी और महान सिद्ध, **महर्षि रमण** अपनी एक पुस्तिका "जिज्ञासु की प्रश्नोत्तरी" में अपनी यौगिक विधि के विषय में लिखते हैं: "निरपेक्ष ब्रह्म की प्राप्ति की इस विधि को अंतःकरण (हृदय) के गुप्त पथ (मार्ग) की संज्ञा दी जा सकती है। और क्या कहा जाय, अपनी अनुभूति द्वारा ही यह बात समझी जा सकती है"। महर्षि साधक की अनुभूति पर विशेष बल देते हैं। उनका दर्शन उनके जीवन और उनकी साधना तथा विशेष अनुभूतियों द्वारा ही मुख्यतः प्रकाशित हुआ है। उनके मौन में बीसियों भाषणों का अर्थ निहित रहता है। उनका रहस्यमय व्यक्तित्व अनेक साधकों को आकर्षित करता रहा है। किन्तु उनकी रुचि भाषण देने, चेला बनाने आदि कार्यों में नहीं रही है वरन् मौन साधना और शान्त तथा समाधिस्थ अवस्था के आनन्द में स्थित रहना ही उनको भाता रहा है।

किन्तु महर्षि के योग का बौद्धिक आधार उनकी उक्तियों में मिलता है; यह बौद्धिक आधार अद्वैत वेदान्त ही है। अतः दार्शनिक दृष्टि से उनके सिद्धान्त वही हैं जिनका उल्लेख स्वामी राम तीर्थ और स्वामी अभेदानन्द के उपदेशों के सम्बन्ध में हो चुका है। नवीनता अथवा विलक्षणता महर्षि की विलक्षण साधना में मिलती है नकि उन के सिद्धान्तों में। महात्माओं की आन्तरिक, आध्यात्मिक उन्नति के बाबत बाह्य व्यक्तियों का अनुमान प्रामाणिक और सत्य बहुत कम होता है। पर इतना तो स्पष्ट है कि श्री रामकृष्ण परमहंस के विशाल व्यक्तित्व में जिस प्रकार यौगिक सिद्धियों, दार्शनिकता, विद्वत्ता तथा भाषण देने अथवा वार्ता करने की क्षमता तथा साधकों को समझने की इच्छा और योग्यता आदि गुणों का समावेश मिलता है वैसा योगी महर्षि रमण के व्यक्तित्व में नहीं मिलता।

जिड्डु कृष्ण मूर्ति

गौतम बुद्ध के समान कृष्णमूर्ति भी प्रत्येक प्रकार की इच्छा को दुख का कारण मानते हैं। अतः वे प्रत्येक प्रकार की इच्छा का, यहां तक कि शुभेच्छा का भी, निराकरण चाहते हैं। उनके अनुसार "शुभेच्छा अथवा अच्छा बनने की इच्छा भी एक प्रकार का भगोड़ापन है, अर्थात् दुख से भागने का प्रयत्न है। नैसर्गिक पुरुष अज्ञान में ओत-प्रोत स्वाभाविक ढंग से अपनी पाशविक इच्छाओं की पूर्ति करने का यत्न करता है। इससे उसे क्षणिक सुख मिलता है, जो शीघ्र ही दुख में परिणत हो जाता है। अतः वह इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के ढंग को बुरा समझने लगता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और वह बुराई तथा बुराई से उत्पन्न दुख से बचना चाहता है और शुभ द्वारा सुख खोजने का यत्न करता है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुख की यह खोज यथार्थ में दुख से बचने का एक सभ्यरूप है। कुछ मुलम्मा करके (अथवा कड़वी औषधि के ऊपर मीठी शक्कर पोत करके) बुराई (अशुभ), भलाई (शुभ अथवा धर्म) का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार, मोक्ष अथवा आत्म–साक्षात्कार की कामना यथार्थ में अपने को धोखा देने का एक ढंग है। हमारा अपने नश्वर "अहं" को सुरक्षित रख कर नश्वर वस्तु को अविनाशी बना देने का असफल प्रयास इस प्रकार नाना प्रकार के भगोड़ेपन अथवा (कठिनाइयों से) भागने (Escape) का रूप ले लेता है। खोखले नामों और रूपों से सहायता लेने अथवा उनकी शरण में जाने से काम नहीं चलता और शान्ति नहीं मिलती। न तो गुरु अथवा महात्मा और न आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि ही हमारी सहायता कर सकते हैं। ये सब तो हमारे मनस द्वारा ढाले हुए कल्पित पुतले हैं जिनके द्वारा हम अज्ञानवश यथार्थता से बचकर भागना चाहते हैं। अतः इन थोथे और निकम्मे प्रत्ययों और विचारों का निराकरण करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक ऐसे थोथे विचार मन में बने रहते हैं तब तक सच्ची समझ हम में नहीं जाग पाती है।

तब इस प्रकार के गत्यवरोध से बाहर निकलने का हमें द्वार ढूंढ़ना आवश्यक है: वह द्वार है यथार्थता को समझना, यथार्थता (सत्य) को अपनाना और यह पहिचान लेना कि हम क्या हैं। यह समझ (ज्ञान) हमें तब प्राप्त होती है जब हम, स्पष्ट रीति से यह देख लें कि जब तक हम अज्ञानवश अपने नश्वर "अहं" को अजर, अमर अथवा अविनाशी बनाने का व्यर्थ प्रयास करेंगे और धन, जायदाद, रिश्तेदारी, नाम, बड़प्पन, प्रसिद्धि, आदर्शों, कार्यक्रमों, विश्वासों, धर्म संघों, गुरुओं, महात्माओं, ईश्वर, देवताओं, आत्मा, परमात्मा आदि के ढकोसलों अथवा जंजालों में फँसकर, नश्वर को अविनाशी बनाने की झूठी आशा रखेंगे तब तक हम भय, दुःख और क्लेश के शिकार बने रहेंगे।

उपर्युक्त वर्णन से विदित है कि कृष्ण मूर्ति की पद्धति में विचार स्वातंत्र्य पर विशेष बल है। यह बात उनके जीवन से भी विदित हो जाती है। कृष्णमूर्ति को ईश्वर के एक नूतन अवतार व जगद्गुरु अथवा विश्वरक्षक मानकर एनी बीसेन्ट आदि "ब्रह्मज्ञानियों" (Theosophists), ने उनको बचपन से अपने संरक्षण में रखकर उनकी पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था की और प्रत्येक ढंग से उनके व्यक्तित्व को विकास देने की कोशिश की। साथ ही साथ यह प्रचार जारी रखा गया कि संसार की रक्षा करने के लिये ईश्वर का नवीन अवतार आया है। पर जब कृष्णमूर्ति बड़े हुए और अपना लोक सेवा का कार्य आरम्भ किया तब आरम्भ में ही उन्होंने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"ब्रह्म ज्ञान संस्था" और सब संबंधित संस्थाओं से भी अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। वैसे तो प्रत्येक दार्शनिक जगद्गुरु माना जा सकता है; पर कृष्णमूर्ति न तो जगद्गुरु बनने का दावा करते हैं और न साधारण गुरु ही का। वे तो गुरु की सहायता साधक के लिये हानिकारक समझते हैं। उनका विश्वास तो स्वतंत्र विचार, स्वतंत्र तर्क, स्वतंत्र अनुभव की क्रियाओं में ही है।

कृष्णमूर्ति जी के अनुसार, आज के संसार में कुछ विचारक ऐसे हैं जिनके मतानुसार मनुष्य का निर्माण वातावरण द्वारा होता है; अतः मनुष्य इच्छित व्यवहार अथवा कर्म करने के लिये पूर्णतः ढाला जा सकता है अथवा प्रेरित किया जा सकता है। इस प्रकार साध्य की पूर्ति जिस साधन से भी हो सके वह साधन उचित होगा। इस मत के विपरीत उन विचारकों का मत है जिनके अनुसार चैतन्य विचार ही जड़तत्व को प्रेरित करता है। इस लिये साधन और साध्य एक ही प्रकार के होने चाहियें; बुरे साधनों का फल बुरा और अच्छे साधनों से प्राप्त साध्य अच्छा (शुभ) होता है। साम्यवादी विचारावली में ऐन्द्रिय मूल्यों तथा वातावरण के महत्व पर बल दिया जाता है। इस प्रकार यह मत सामूहिक शक्ति का प्रतिपादक है। किन्तु इसके विपरीत, आदर्शवाद अथवा प्रत्ययवाद ईश्वर को निरपेक्ष मूल्य मानता है और व्यक्ति के महत्व तथा चैतन्य विचार की शक्ति पर बल देता है। इस से अहंकार और संघर्ष के भाव पनपते हैं। अतः कृष्णमूर्ति इन दोनों अतिशयवादी मतों से बचते हैं, क्योंकि इनके झगड़ों से शान्त विचार की क्रिया में बाधा पड़ती है।

उनके अनुसार, बहुतेरे लोग बुराई से बचने और भलाई को अपनाने का यत्न करते हैं। किन्तु स्वार्थपरायणता जैसी की तैसी बनी रहती है: इच्छा एवं प्रेरणा तो यही रहती है कि किसी न किसी प्रकार से नैसर्गिक कामनाओं की पूर्ति हो। इस प्रकार शुभ अथवा भलाई को अंगीकार करना यथार्थ में उसी पुरानी कामना (इच्छा) का सभ्य अथवा शिष्ट रूप है जिसने हमें बुराई और दुख के कीचड़ में गिराया था। हम धर्म, शुभ अथवा सद्गुणों का मार्ग उसी स्वार्थपरायणता की प्रेरणा के प्रभाव से अपनाते हैं। यदि सीधे ढंग से इच्छा की पूर्ति करने से दुख मिलता है तो तिरछे ढंग के हतकंडे से अथवा कूटनीति से शुभ का मार्ग अपनाकर और धर्म, गुरु, ईश्वर आदि से सहायता लेने का प्रयास करके, हमारी स्वार्थपरायणता नवीन ढंग से अपना उल्लू सीधा करना चाहती है। पर ऐसा करने से न तो दुख दूर होता है और न सच्चा सुख ही मिलता है।

तब इस भूलभुलइयां के चक्कर से बचने का क्या उपाय है? कृष्णमूर्ति के अनुसार, पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि धन, जायदाद, रिश्तेदारी, मान-मर्यादा, नामवरी, आदर्श, कार्यक्रम, विश्वास, गुरु, महात्मा, अवतार, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि कोई भी हमारा दुख दूर नहीं कर सकते हैं। हमारा दुख तो हमारी ही गलत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इच्छा के कारण है; हम अपने नश्वर "अहं" की येनकेन प्रकार से रक्षा करना चाहते हैं और इस नश्वर "अहं" को अविनाशी अथवा अमर बनाना चाहते हैं; और इस गलत इच्छा की पूर्ति के लिये, पहले बुराई और फिर भलाई, और कभी धन और कभी गुरु, ईश्वर आदि की शरण लेते हैं। हम इस प्रकार भिन्न भिन्न मनोवैज्ञानिक मार्गों और चालों द्वारा यथार्थता से भागना चाहते हैं और नाना प्रकार की दीवारें और खाइयां इस नश्वर "अहं" की रक्षा के लिये बना डालते हैं। अतः इस गलत इच्छा की दीवारों के अन्दर रहते हुए कोई भी समाज अनेक फेरफार करने पर भी, यथार्थ संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकता।

यदि मनुष्य यह समझ ले कि यथार्थता क्या है और उस यथार्थता को अपना ले तो उस व्यक्ति में, उसके कुटुम्ब में और संसार में क्रान्ति हो जावेगी; उसके जीवन में व्यावहारिक परिवर्तन हो जावेंगे। जब मनुष्य यह समझ ले कि यथार्थता (what is) क्या है अथवा मैं क्या हूँ, तब वह स्वतंत्र हो जायगा और वह सृजन के कार्य में लग जायगा। तब "सत्य", "ईश्वर" (अथवा आप उसे जो संज्ञा देना चाहें, उस तत्व) की प्राप्ति हो जावेगी। विचारवान् पुरुष के लिये सब आदर्श और कार्यक्रम व्यर्थ हैं। जब सब आदर्श छोड़कर आप यथार्थता को स्वीकार करलें तब आप एक सुन्दर और विलक्षण प्रेम को प्राप्त करेंगे, जो न मेरा है और न तेरा, किन्तु जो नित्य और शाश्वत है।

इस प्रकार मनुष्य को, प्रेम तथा समझ के मार्ग पर चलकर, आन्तरिक सूझबूझ (आन्तरिक अनुभूति) का जीवन बिताना चाहिये; हमें अपने अन्दर की प्रेरणाओं, भावनाओं, विचारों और क्रियाओं को समझते रहना चाहिये। ऐसी समझ मिल जाने से हम अपनी त्रुटियों से बच सकेंगे और हम स्वाभाविक ढंग से अपनी समस्याएं आप ही निपटा लेंगे। तब हमें यंत्रवत् क्रियाओं अथवा आदतों पर अवलंबित क्रियाओं के स्थान पर प्रत्येक क्षण में स्वतंत्र, स्वाभाविक, आनन्ददायक क्रियाएं करने की क्षमता प्राप्त हो जावेगी। तब हमारे लिये सत्य आ जायगा अथवा हमारे जीवन में यथार्थता आ जावेगी। आन्तरिक अनुभूति जाग्रत करनें के लिये हमें विचार तथा स्मृति के दोषों और चिन्ताओं से मुक्त हो जाना चाहिये।

कृष्ण मूर्ति जी के उपर्युक्त सिद्धान्तों में हमें अद्वैत वेदान्त तथा बौद्ध और जैन धर्मों के सिद्धान्तों की छाया मिलती है; किन्तु उनकी प्रणाली में नवीन विज्ञान तथा दर्शन का प्रभाव भी झलकता है। उनका दावा है कि उनके उपदेशों में कोई तत्वशास्त्रीयवाद, सत्ताशास्त्रीय प्रत्यय अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है; उनमें केवल मनुष्य के अनुभव मात्र का ही विश्लेषण है। पर ऐसा दावा तो अन्य उपदेशक भी करते आए हैं। हमें याद रखना चाहिये कि तत्वशास्त्र का खंडन अथवा निराकरण करना भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तत्वशास्त्र के अन्दर ही का एक मत है। तत्वशास्त्र व्यापक है, कोई भी विचारक उससे बच नहीं सकता। फिर जब कृष्णमूर्ति बतलाते हैं कि भलाई की खोज एक प्रकार से पुरानी बुराई अथवा इच्छा पूर्ति ही का नया रूप है, तब क्या इस विचार में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का विश्लेषण नहीं है? क्या सुख और दुख के वर्णन और विश्लेषण में नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं है?

कृष्णमूर्ति जी किसी शास्त्र का प्रमाण न मान कर व्यक्ति के अनुभव का प्रमाण ही मानते हैं। इस बात में सत्य का अंश अवश्य है पर व्यक्तियों के अनुभव भिन्न भिन्न हुआ करते हैं, और राग, द्वेष, अपरिपक्वता, अनुभवहीनता आदि कारणों से व्यक्तियों के अनुभवों में भूल और भ्रम की भी संभावना है। फिर साधनाहीन व्यक्तियों के अनुभव भी अपूर्ण और दूषित हुआ करते हैं।

कृष्णमूर्ति जी सब मनुष्यों के जीवन में "आन्तरिक अनुभूति" की प्राप्ति की अवस्था देखना चाहते हैं। किन्तु अधिकार-भेद का सिद्धान्त तथा शिक्षा सम्बन्धी मनोविज्ञान इस बात का समर्थन करते हैं कि भिन्न भिन्न मनुष्यों की प्रकृति में विकास भी भिन्न भिन्न हुआ करते हैं और राग, द्वेष, अपरिपक्वता, अनुभवहीनता आदि अवस्थायें मिलती हैं। कुछ व्यक्ति अधखिली कली के समान हैं और कुछ पूरे खिले हुए पुष्प के समान। अतः मानव-विकास के लिये सनातन वैदिक धर्म का क्रम-मुक्ति का सिद्धान्त ही हमें उचित प्रतीत होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

IV

समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद

संगम लाल पांडेय

१. समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद का रूप

समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद लगभग १९०० ई. से आरम्भ होता है। इसके एक विचारक कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य हैं जिनकी पहली कृति १९०७ ई. में प्रकाशित हुई। यह प्रत्ययवाद प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद और आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद के आलोड़न-विलोड़न से उत्पन्न हुआ। किन्तु यह दोनों से भिन्न है। इसके निर्माण में प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद का योगदान है किन्तु इसके अतिरिक्त इसमें मौलिक चिन्तन भी है। इन तीनों तत्वों को मिला देने से, इनको परस्पर सम्पुटित करने से, समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद बनता है। इस सम्पुटन को हम निम्नलिखित सूत्र में व्यक्त कर सकते हैं—

$$\text{समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद} = \frac{\text{प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद}}{\text{आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद}} \times \text{मौलिक चिन्तन}$$

इसके निर्माण में प्रधानता मौलिक चिन्तन की है। मौलिक चिन्तन का अर्थ यहां वह चिन्तन है जो प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद और आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद दोनों के लिए नया है। यह जितना नया प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद के लिए है उससे कई गुणा अधिक यह पाश्चात्य प्रत्ययवाद के लिये नया है। वास्तव में इसकी मौलिकता की कसौटी यह है कि यह पाश्चात्य प्रत्ययवाद के लिए नया है। इसने पूर्वी एवं पश्चिमी विचारधाराओं की कूपमण्डूकता का अन्त किया है, दर्शन को अन्तर्राष्ट्रीय बनाया है और आदर्शवाद के प्रति की जाने वाली आलोचनाओं का निराकरण करके एक नये आदर्शवाद की स्थापना की है। प्रत्ययवाद को हमने एक भिन्न राशि के रूप में व्यक्त किया है, जिसके हर के स्थान पर आधुनिक पाश्चात्य आदर्शवाद है तो अंश के स्थान पर प्राचीन भारतीय आदर्शवाद। इस भिन्न को मौलिक चिन्तन से गुणा कर देने पर समकालीन भारतीय आदर्शवाद बनता है। यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि प्रस्तुत भिन्न के अंश पर प्राचीन भारतीय आदर्शवाद को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क्यों नहीं रखा गया ? इसके उत्तर में बहुत कुछ कहा जा सकता है। समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद का मौलिक चिन्तन उतने ही गुणा अधिक होगा जितने गुणा वह आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद से अधिक हो। फिर प्रायः समकालीन भारतीय प्रत्यय-वादियों को पहले प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद मिला और उसके बाद आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद। वे अपने स्वदेशी प्रत्ययवाद के आधार पर पाश्चात्य प्रत्ययवाद की कमियों को निकालना चाहते हैं। उनका साध्य स्वदेशी प्रत्ययवाद है तो साधन पाश्चात्य प्रत्ययवाद की प्रणाली। इन अभिप्रायों को व्यक्त करने के लिए आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद को हर के स्थान पर ही रखना उचित है।

इस भिन्न को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं—

$$\text{सा} = \frac{\text{भा}}{\text{पा}} \times \text{मौ}$$

यहां 'स' का अर्थ समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद है और 'भा', 'पा' तथा 'मौ' क्रमशः प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद, आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद और मौलिक चिन्तन के प्रतीक हैं। इस प्रकार समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद का रूप हमारे प्रतीकों में $\frac{\text{भा}}{\text{पा}} \times \text{मौ}$ हुआ। अब हम पहले इस भिन्न के प्रथम पद का, अर्थात् $\frac{\text{भा}}{\text{पा}}$ का, अनुशीलन करेंगे।

२. 'भा' और 'पा' का तुलनात्मक अनुशीलन:

'भा' और 'पा' के तुलनात्मक अनुशीलन में भी मौलिक चिन्तन विद्यमान है। इसलिए यह अनुशीलन 'भा' और 'पा' का मात्र योग नहीं है। यह वास्तव में पता लगाता है कि 'भा' और 'पा' के ग्राह्य और त्याज्य अंश क्या हैं। इनके ग्राह्य अंश को ही $\frac{\text{भा}}{\text{पा}}$ कहा जा सकता है। 'भा' और 'पा' के अनुशीलन की चार तुलनात्मक सरणियां हैं—

सबसे पहली सरणी में प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद के अनुशीलन पर अधिक बल है। प्रत्ययवाद के दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय दर्शन का अनुशीलन इस शती के पूर्व कभी भी नहीं किया गया। इसका ऐसा अनुशीलन करने के लिए पाश्चात्य प्रत्ययवाद का अध्ययन करना जरूरी था। ऐसा करके कुछ दार्शनिकों ने प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद की व्याख्या की। इस दिशा में पहला कदम डा० सुरेन्दनाथ दास गुप्त ने उठाया। उन्होंने सन् १९३३ में भारतीय प्रत्ययवाद (Indian Idealism) के नाम से एक ग्रंथ प्रकाशित कराया। इसमें औपनिषदिक प्रत्ययवाद, बौद्ध प्रत्यय-वाद एवं अद्वैत प्रत्ययवाद की व्याख्या की गई। कहीं-कहीं इनकी पाश्चात्य प्रत्ययवाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से तुलना भी की गई। बाद में डा० राजू का ग्रंथ 'भारत की प्रत्ययवादी विचारधारा' (Idealistic Thought of India) १९५३ में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने वेदान्तीय प्रत्ययवाद, बौद्ध प्रत्ययवाद एवं समकालीन प्रत्ययवाद की चर्चा की। ये दोनों मुख्यतः भारतीय प्रत्ययवाद के इतिहास-ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त डा० राधाकृष्णन् का ग्रंथ भारतीय दर्शन (दो भाग) और डा० दासगुप्ता का भारतीय दर्शन का इतिहास (पाँच भाग) भी उल्लेखनीय हैं। इनमें सभी बातों के साथ प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद का भी ऐतिहासिक वर्णन है और इसकी तुलना पाश्चात्य प्रत्ययवाद से की गई है।

इस दिशा में डा० भीखन लाल आत्रेय के भी ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। उन्होंने "योगवाशिष्ठ और उसका दर्शन' (Yogavashistha and its Philosophy), 'योगवाशिष्ठ और आधुनिक विचारधारा' (Yogavashistha and Modern Thought) और योगवाशिष्ठ का दर्शन'(Philosophy of Yogavashistha) नाम से तीन ग्रंथ प्रकाशित करवाए। योगवाशिष्ठ का दर्शन प्रत्ययवाद है। डा. आत्रेय ने इस प्रत्ययवाद की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की और पाश्चात्य प्रत्ययवाद के सभी प्रकारों से इसकी तुलना करके दिखाया कि 'योगवाशिष्ठ' का प्रत्ययवाद नितान्त शुद्ध और अकाट्य है। डा०टी.आर.वी. मूर्ति ने इसी प्रणाली से माध्यमिक मत का अनुशीलन किया, जो बुद्ध दर्शन का मुख्य सिद्धान्त (The Central Philosophy of Budhism) के नाम से प्रकाशित है। इन्होंने एक ओर माध्यमिक प्रत्ययवाद की तुलना बौद्ध विज्ञानवाद एवं अद्वैतवेदान्त से की तो दूसरी ओर कांट, हेगेल एवं ब्रैडले के प्रत्ययवाद से। डा० दास गुप्ता ने इसे निषेधात्मक प्रत्ययवाद दिखलाया था, किन्तु डा० मूर्ति ने इसे प्रज्ञामूलक प्रत्ययवाद सिद्ध किया।

भारतीय दर्शन के इन अनुशीलनों में विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक प्रणाली से मूल्यांकन किया गया है। इस प्रणाली के द्वारा अनेक अनुशीलन किसी नये आदर्शवाद की स्थापना नहीं करते, किन्तु इनसे समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद को विकसित होने में सहायता मिली है। यदि ये न होते तो समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद बिल्कुल पश्चिमी प्रत्ययवाद की वंश-परम्परा में रहता और उसका वर्तमान रूप न निखरता।

इन अनुशीलनों से स्पष्ट है कि समकालीन भारतीय दार्शनिकों पर अद्वैत वेदान्त, योगाचार और माध्यमिक मत का विशेष प्रभाव पड़ा है। किन्तु उन पर सबसे अधिक प्रभाव शंकराचार्य का पड़ा है।

तुलनात्मक दर्शन की दूसरी श्रेणी में पाश्चात्य दर्शन के अनुशीलन पर बल है। जैसे कुछ भारतीयों ने पाश्चात्य दर्शन की प्रणाली से भारतीय दर्शन का अनुशीलन किया है वैसे कुछ लोगों ने पाश्चात्य दर्शन का भी भारतीय दृष्टिकोण से अनुशीलन किया। पश्चिमी प्रत्ययवाद का प्रभाव विश्वविद्यालय के दर्शन विभागों से शुरु हुआ। पश्चिमी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रत्ययवादियों में से हेगेल और उसके अनुयायियों का प्रभाव भारतीयों पर विशेष पड़ा।

इसकी पहली अभिव्यक्ति डा० हीरालाल हल्दर के ग्रंथ—'नव हेगेलवाद' (Neo-Hegelianism) में मिलती है जो १६२६ ई. में प्रकाशिता हुआ। इसमें उन्होंने इंगलैण्ड के नव हेगेलवादियों के प्रत्ययवाद का अनुशीलन किया। बाद में १६०५ ई. में डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त का ग्रंथ 'समकालीन दर्शन की मुख्य धाराएं' Chief Currents of Contemporary Philosophy) प्रकाशित हुआ। इसमें समकालीन भारतीय, यूरोपीय तथा अमरीकी प्रत्ययवादों की व्याख्या की गई। १६५२ ई. में कई भारतीयों के सामूहिक प्रयास से पूर्वी और पश्चिमी दर्शन का इतिहास दो भागों में भारतीय सरकार द्वारा प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम भाग में पश्चिमी दर्शन का अनुशीलन किया गया तो द्वितीय भाग में पूर्वी दर्शन का। पश्चिमी प्रत्ययवादियों में प्लेटो, कांट, हेगेल, एडवर्ड, केयर्ड, ग्रीन, ब्रैडले, मैक्टागर्ट, बोसांके, जोकहिम, जेन्टली और क्रोचे का प्रभाव भारतीयों पर काफी पड़ा है।

तुलनात्मक अनुशीलन की प्रथम दो सरणियों ने दिखलाया कि शुद्ध प्रत्ययवाद क्या है, एकजीववाद क्या है। एकजीववाद एवं दृष्टिसृष्टिवाद क्रमशः पश्चिमी प्रत्ययवाद के सालिप्सिज़्म (एक मात्र मैं ही हूँ) और प्रदृश्यतावाद (Phenominalism) के भारतीय रूप हैं। ये सब त्याज्य हैं। किन्तु दोनों का बोधपरक अर्थ भी लगाया जा सकता है। यह अर्थ सत्ताबोध है—यह एस्स इज़ इन्टेलिज़ी (ess is intellesi) है। फिर दोनों प्रत्ययवाद यह मानते हैं विश्व आध्यात्मिक है, परमसत् अद्वैत या अद्वय है, और उसके अतिरिक्त जो भी अर्थ है वह उससे पृथक् कर देने पर अर्थ-शून्य है। कम से कम इतना समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद का प्रस्थान विन्दु है।

तुलनात्मक दर्शन की तीसरी सरणी में पश्चिमी और भारतीय दर्शन पर समान बल दिया जाता है। दोनों का पृथक् पृथक् अध्ययन भी इसी सरणी से किया जा सकता है। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने विश्लेषणात्मक प्रणाली से वेदान्त और काण्ट का पृथक् पृथक् अनुशीलन प्रस्तुत किया। एक ही पद्धति से दोनों का अनुशीलन करने पर पता चलता है कि दोनों के प्रतिपाद्य समान और समन्वय योग्य हैं।

किन्तु भारतीय और पश्चिमी-प्रत्ययवादों के पृथक् पृथक् अनुशीलन में यद्यपि तुलनात्मक प्रणाली एवं तुलनात्मक दर्शन के बीज मौजूद रहते हैं तथापि इस प्रकार का अनुशीलन तुलनात्मक दर्शन के लिए विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में भारतीय-दर्शन एवं पाश्चात्य दर्शन के घात-प्रतिघात से जो तुलनात्मक दर्शन विकसित हुआ उसकी सफल अभिव्यक्ति प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी के प्रंथों में मिलती है। उनके ग्रंथ-'आत्म, चित् और सत्' (Self, Thought and Reality) सन् १६३३ ई. में और आत्मा का स्वभाव (Nature of Self) सन् १६३८ ई. में प्रकाशित हुए। इन ग्रंथों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में तुलनात्मक दर्शन की प्रणाली प्रस्तुत की गई है और एक नए वाद की स्थापना के संकेत दिये गये हैं। यहाँ प्राचीन भारतीय-प्रत्ययवाद और आधुनिक पाश्चात्य प्रत्ययवाद का एक समान तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। यह अनुशीलन दिखलाता है कि दोनों के क्या गुण हैं, क्या दोष हैं, क्या समानताएं हैं, क्या असमानताएं हैं, कैसे एक की कमी को दूसरे के गुण से दूर किया जा सकता है और कैसे दोनों के गुणों को समन्वित किया जा सकता है। उसकी विशेषता है कि यह एक समन्वय सूत्र देता है और दोनों वादों को एक दूसरे से अनुपूरित करता है तुलनात्मक-प्रणाली से कई अन्य विद्वानों ने पश्चिमी प्रत्ययवाद और भारतीय-प्रत्ययवाद का अनुशीलन किया है,किन्तु उनके अनुशीलन में समन्वय-सूत्र और अनुपूर्ण की प्रक्रिया का अभाव है। वे समानताओं एवं असमानताओं के नाम प्रदर्शन हैं।

यदि 'भा' और 'पा' के तुलनात्यक अनुशीलन में सब से अधिक मौलिकता प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी ने दिखलाई तो 'भा' और 'पा' के तुलनात्मक अनुशीलन के फलस्वरूप जो मौलिक-चिन्तन प्रणाली बननी चाहिए, उसको प्रकट करने में सब से अधिक मौलिकता प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने दिखलाई है। उनके निबंध, जिन में अभाव के कुछ पक्ष, तर्क-शास्त्र में असीम का स्थान, स्वतंत्रता के रूप में आत्मा तथा ब्रह्म के अनैकान्तिक रूप मुख्य हैं, इस मौलिकता के उदाहरण हैं। प्रो० भट्टाचार्य के व्यक्तित्व में समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद की मौलिकता का पूर्ण परिपाक हुआ है। इसे हम तुलनात्मक अनुशीलन का फल मानते हैं। इस दृष्टि से यह तुलनात्मक अनुशीलन को विकसित करने की 'चौथी-सरणी' हैं। प्रथम दो सरणियों में तुलनात्मक दर्शन उत्पन्न होता है। तीसरी सरणी में वह पल्लवित एवं पुष्पित होता है। अन्ततः चौथी सरणि में वह फल देने लगता है।

तुलनात्मक अनुशील के फलस्वरूप भारत में जो नया प्रत्ययवाद पनपा उसमें कुछ योगदान अखिल भारतीय दार्शनिक कांग्रेस (All India Philosophical Congress) का भी है जिसकी स्थापना सन् १९२५ में हुई। इस संस्था ने मौलिक चिन्तन को प्रोत्साहित किया, विभिन्न विचारकों को एकमत किया एवं उनको एक दूसरे के सम्पर्क से लाभान्वित भी किया। आज भी यह अपना कार्य पूर्ववत् कर रही है और इससे हमारा प्रत्ययवाद कम से कम एक अखिल भारतीय रूप लिए हुए है।

समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद की मान्यता सन् १९३५ ई. पूर्णतया हो चली। इस वर्ष समकालीन भारतीय दर्शन (Contemporary Indian Philosophy) नामक ग्रंथ डा० राधाकृष्णन् और डा० म्योरहेड के सम्पादकत्व में इंगलैंड से प्रकाशित हुआ। इसके अधिकांश लेख प्रत्ययवादी थे और कुछ निःसन्देह पूर्णतः मौलिक थे। बाद में १९५२ ई० में इसका दूसरा परिवर्धित संस्करण प्रकाशित हुआ जिसमें कुछ अन्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दार्शनिकों के लेख भी संग्रहीत किये गये। यह संस्करण समकालीन प्रत्ययवाद की पर्याप्त व्याख्या प्रस्तुत करता है।

अब हम समकालीन भारतीय दर्शन के कुछ प्रमुख प्रकारों का अनुशीलन प्रस्तुत करेंगे। इन से इनका मौलिक चिन्तन स्पष्ट हो जायगा।

३. हेगलवाद का भारतीय संशोधन:

समकालीन भारतीय प्रत्ययवाद का बीजारोपण हेगलवाद के संशोधन के साथ हुआ। डा० बृजेन्द्र नाथ सील एवं डा० हीरा लाल हल्दर ने इस कार्य को सम्पन्न किया। वे पहले हेगलवादी थे किन्तु वाद में उन्होंने हेगलवाद को छोड़कर अपने प्रत्यय-वाद की स्थापना की।

डा० सील के प्रत्ययवाद को वताने वाली कोई प्रामाणिक रचना नहीं है। किन्तु उन्होंने अनेक दार्शनिकों को प्रभावित किया था और उन सब ने माना है कि डा० सील एक वहुत बड़े प्रत्ययवादी थे। डा० शिशिर कुमार मैत्रेय ने लिखा है कि उन्होंने हेगल के भेदवादी तर्कशास्त्र से दूषण निकाला था तथा भागवत मत के चतुर्व्यूहवादी तर्कशास्त्र को उस से प्रशस्त समझा था।[1] वास्तव में डा० सील ने हेगल के त्रिकवादी दर्शन को गलत वताया था और उसके स्थान पर विविध रूपात्मक तर्कशास्त्र को मान्यता दी थी। उनके तर्कशास्त्र का यह सिद्धान्त हेगलवाद से अधिक प्रामाणिक है। तर्कणा की प्रक्रिया में तीन ही सोपान हैं, इस मत पर हेगल का तर्कशास्त्र निर्भर है। यह मत अरस्तू से चला था। किन्तु आज यह मत गलत सिद्ध कर दिया गया है। आज का मत यह है कि तर्कणा की प्रक्रिया कई सोपानों में पूरी होती है। किन्तु खेद है कि डा० सील ने अपने तर्कशास्त्र पर कुछ लिखा नहीं है।

डा० सील हेगल के भेदाभेदवाद को मानते थे। वे परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति को आत्यन्तिक रूप में सत् मानते थे। यह महत्वपूर्ण है कि वे प्रत्ययवादी होते हुए भी अचेतन तत्व या प्रकृति को भी मानते थे। उसी दृष्टि से उनका अध्ययन हिन्दुओं के भावात्मक विज्ञान (Positive Sciences of the Hindus) द्वारा समर्थित किया जा सकता है। वे वैज्ञानिक अध्ययन को भी प्रोत्साहित करते थे, किन्तु उनके विचार से प्रकृति का, अचेतन तत्व का, अपरिहार्य सम्बन्ध परमात्मा से है। यह सम्बन्ध भेदाभेद का है। इसी तरह जीवात्मा एवं परमात्मा का भी सम्बन्ध भेदाभेद का है। जीवात्मा एवं प्राकृतिक वस्तुओं का भी यही सम्बन्ध है। इस तरह लगता है कि सील हेगल के प्रत्ययवाद को मानते थे और उन्होंने केवल उसके तर्कशास्त्र के स्थान पर अपना तर्क-शास्त्र रखा।

डा० हीरा लाल हल्दर को लोग प्रायः हेगलवादी मानते थे, किन्तु उन्होंने स्वयं

१. द्रष्टव्य—कान्टेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी—द्वितीय संस्करण, पृ० २४१-२४५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसका प्रत्याख्यान किया है। उनका सिद्धान्त यथार्थमूलक प्रत्ययवाद (Realistic Idealism) है। इसमें उन्होंने यथार्थवाद एवं प्रत्ययवाद का समन्वय किया है। उनके समन्वय का आधार शंकराचार्य का यह मत है कि ज्ञान वस्तुतंत्र है। वे ठीक ही मानते हैं कि शंकराचार्य की ज्ञानमीमांसा यथार्थवादी है, अर्थात् इस ज्ञानमीमांसा में विषय-विषयी में अन्तर नहीं है। वह विषयी से स्वतंत्र है। विषय एवं विषयी का केवल अपरिहार्य सम्बन्ध है। दोनों का अस्तित्व युगपद्भाव या साहचर्य में ही है। इस साहचर्य के अतिरिक्त दोनों का अस्तित्व असंभव है। किन्तु उनका यह मत हेगलवाद से अभिन्न कहा जा सकता है। वास्तव में यह सिद्धान्त बर्कले के मत—सत्ता दृश्यता है—की आलोचना है। उस सिद्धान्त के स्थान पर यह—सत्ता बोधगम्यता है—इस सिद्धान्त को रखता है और यह हेगलवाद का शुद्ध मत है। इस मत को बर्कले के प्रत्ययवाद से भिन्न करने के लिए इसे 'विषयगत प्रत्ययवाद' कहा जाता है। इसी को डा० हल्दर यथार्थमूलक प्रत्ययवाद कहते हैं। उन्होंने हेगलवाद के शुद्ध रूप को प्रस्तावित किया। इसी दिशा में उन्होंने भेदाभेदवाद की व्याख्या की है। वह हेगलवाद से कुछ भिन्न है। इस व्याख्या के अनुसार विषय विषयी से भिन्न और अभिन्न दोनों है। जो अभिन्न है वह भिन्न की प्रागपेक्षा है, अर्थात् अभेद भेद की प्रागपेक्षा है। भेद अभेद की प्रागपेक्षा नहीं हो सकता।[1] यहां ध्यान देने योग्य है कि हेगल ने भेद को अभेद की प्रागपेक्षा माना था। डा० हल्दर इस दिशा में अद्वैतवाद को मानते हैं न कि हेगलवाद को। विषय और विषयी दोनों का साहचर्य एक आध्यात्मिक सत् है। यह आध्यात्मिक सत् विषय और विषयी से व्यवच्छिन्न नहीं है, अपितु दोनों में व्याप्त है। यह अन्तर्यामी है। इसे हम अन्तर्यामी ब्रह्म कह सकते हैं। यह ब्रह्म इसलिए है कि यह एक निरपेक्ष सत्ता है और अन्य सभी वस्तुएं इस की सापेक्ष हैं। इस दृष्टि से डा० हीरालाल हल्दर के मत को अन्तर्यामी ब्रह्मवाद कहा जा सकता है। इस मत में और हेगल के मत में थोड़ा अन्तर है। अन्तर्यामी ब्रह्मवाद जगत् को ही ब्रह्म मानता है जबकि हेगलवाद जगत् को ब्रह्म से भिन्न समझता है। डा० हल्दर का कथन है कि जगत् की आत्मा आदर्शरूप में स्वयं जगत् ही है (The Unity of the world itself is its identity)। यहां 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की पूर्ण मान्यता है। यह आत्मा कोई अभिन्न आत्मा नहीं है, क्योंकि अभिन्न आत्मा की प्रागपेक्षा अनेक अभिन्न आत्माएं हैं जिनसे वह भिन्न की जाती है। किन्तु यह सभी विशिष्ट आत्माओं में पूर्णतः विद्यमान है। फिर डा० हल्दर जगत्—आत्मा को विशुद्ध एकता (Monadic Unity) नहीं मानते। इस संदर्भ में उनका मत हेगल और शंकर दोनों से भिन्न है। पुनश्च, मैक्टागर्ट की भाँति वे जगत्-आत्मा को

१. कान्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी पृ० ३२१-६२२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विशिष्ट आत्माओं का मात्र समुदाय भी नहीं मानते। वे इसे शुद्ध रूप में आत्मा मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में लगता है कि यह आत्मा विविध गुणों से युक्त है और इसीलिए उसे विशुद्ध एकता नहीं कहा जाता। इसे वे सार्वभौमिक मन कहते हैं। वे विषयी को भी मन कहते हैं और इससे बढ़कर वे विषय के मनों की भी चर्चा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनके मत में 'मन' शब्द श्लिष्ट है। यदि 'मन' के इन तीनों अर्थों के लिए वे पृथक्-पृथक् पदों का प्रयोग करते तो अधिक स्पष्टता रहती। इससे उनका मत कहीं कहीं दुरूह, अस्पष्ट और भ्रान्त हो गया है।

उन्होंने हेगल के सर्वज्ञतावाद की आलोचना की है और माना है कि तर्कात्मक ज्ञान पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता। यह अपूर्ण है और सदा अपूर्ण रहेगा। ज्ञान के अतिरिक्त भी साधन हैं जिनसे विषयों का सम्पर्क होता है। उदाहरण के लिए प्रेम या भक्ति को ही ले लीजिए। इससे भी जगदात्मा का सम्पर्क होता है। किन्तु विना ज्ञान के यह यथार्थ नहीं हो सकता। अतः ज्ञान और प्रेम एक दूसरे को अनुपूरित करते हैं। ज्ञानमूलक प्रेम या प्रेममूलक ज्ञान से ही जगदात्मा का बोध या लाभ हो सकता है, किन्तु जहां डा० हल्दर ने प्रेम से ज्ञान को सीमित किया है वहां उन्होंने यह भी माना है कि बुद्धि के सम्बन्ध से बाहर कोई भी वस्तु नहीं है।[1] यदि उनका यह मत सही है तो हेगल का सर्वबुद्धिवाद (Panlogism) सही है, भले ही उसके सर्वज्ञतावाद में दोष हो। वास्तव में डा० हल्दर ने बुद्धि को सर्वोपरि नहीं माना यद्यपि उन्होंने इसे सर्वव्यापी माना। इसको उन्होंने प्रेम या भक्ति से मंडित किया।

इस मण्डन का तात्पर्य यह नहीं है कि बुद्धि अतिक्रान्त हो गई है, जैसाकि ब्रैडले मानता है। इसका तात्पर्य है कि बुद्धि जो है सो है, किन्तु वह और अधिक हो गई है। इस दिशा में डा० हल्दर ने हेगल के बुद्धिवाद का जो संशोधन किया है वह काफी सही है। संशोधित बुद्धि असंशोधित बुद्धि की उत्क्रान्ति नहीं है। इस सिद्धान्त को ठीक से न समझने के कारण डा० राजू ने डा० हल्दर के सिद्धान्त में कुछ अन्तर्विरोध दिखलाये हैं। मेरे विचार में डा० हल्दर का सिद्धान्त सही है। संशोधित बुद्धि उन विषयगत भेदों का अपलाप नहीं कर सकती है जिन्हें असंशोधित बुद्धि देखती है, क्योंकि असंशोधित बुद्धि भी अन्ततः बुद्धि ही है। अतः संशोधित बुद्धि सीमित अनुभवों के भेदों को अक्षुण्ण रख सकती है। वह केवल उनकी एकाङ्गिता और अपूर्णता को दूर करती है।

डा० हीरालाल हल्दर का मुख्य प्रयास यह सीमित करने में दीख पड़ता है कि जगत् के दो स्वरूप हैं, मौलिक और आध्यात्मिक। जगत् का वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक है। किन्तु आध्यात्मिक जगत् भौतिक जगत् को मिथ्या सिद्ध नहीं करता है। भौतिक

१. There is nothing which is out of relation to Intelligence, वहीं पृ० ३२६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जगत् सत् है, पूर्ण सत् है। आध्यात्मिक जगत् भौतिक जगत् की पूर्णता को अक्षुण्ण रखते हुए उसे कुछ और गुणों से युक्त दिखलाता है। भौतिक-जगत् की वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि इसका किसी मन या आत्मा से विषयरूप में सम्बन्ध है। इसी मन या आत्मा को जगदात्मा कहा गया है। फलतः भौतिक-जगत् की अपेक्षा यही जगदात्मा है। जगदात्मा के साथ भौतिक जगत् को देखना अधिक यथार्थवाद है और यही शुद्ध प्रत्ययवाद भी है।

इस प्रकार हेगलवाद के संशोधनकर्त्ताओं ने मायावाद को मान्यता नहीं दी। किन्तु उन्होंने यह माना कि जगत् पूर्णतः आध्यात्मिक है।

४. प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद का संशोधन:

जिन दार्शनिकों ने भारतीय और पश्चिमी प्रत्ययवादों से प्रभावित होकर भारतीय प्रत्ययवाद को नूतन ढंग से संशोधित किया है उसमें से प्रो० वाडिया विशेष उल्लेखनीय हैं। वे अद्वैतवाद से प्रभावित हैं। किन्तु उनपर हेगल के प्रवर्धमान परम सत् का भी प्रभाव पड़ा है। अतः वे मानते हैं कि ब्रह्म एक एवं अद्वितीय होते हुए भी प्रवर्धमान है। वे कहते हैं कि ईश्वर इसी ब्रह्म का मानवीभूत रूप है। ब्रह्म की सिद्धि वे वस्तुओं के इतरेतराश्रय के सम्बन्ध से करते हैं—"निरपेक्ष सत् (ब्रह्म) का प्रत्यय वस्तुओं के इतरे-तराश्रय से तर्कतः सिद्ध होता है। विश्व की समस्त वस्तुओं के प्रगाढ़ इतरेतराश्रय से मैं बहुत ही प्रभावित हूँ। इसके पश्चात् मैं आन्तरिक सम्बन्धों(Internal Relations) के सिद्धहस्त में प्रतिपन्न हूं। मुझे कोई अनेकवादी सिद्धान्त तर्कतः सुसंगत नहीं लगता। वह सामान्य अनुभव से भी सत्य नहीं प्रतीत होता"।[१]

संसार में जो दोष या अशुभ है उसकी व्याख्य और समाधान के लिये प्रो० वाडिया कर्मवाद (पुनर्जन्मवाद) और मोक्षवाद को मानते हैं।

किन्तु वे व्यवहार और परमार्थ के द्वैत को मिटा देना चाहते हैं। वे परमार्थ के आधार पर व्यवहार की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें पूर्ण समता हो। इस दृष्टि से वे नैतिक और सामाजिक समस्याओं के समाधान में लगे हैं। वे जाति-पाँति, विषमता, निर्धनता, निम्नोच्चता के सामाजिक सिद्धान्तों को नहीं मानते हैं। वे सामाजिक अद्वैतवाद को स्थापित करते हैं। इस दृष्टि से उनका सिद्धान्त व्यावहारिक प्रत्ययवाद (Pragmatic idealism) है। जब तक एक ही आत्मा सभी मानवों में है तब फिर उनमें जाति-पाँति, विषमता, निम्नोच्चता आदि के आधार पर अवांछनीय भेद करना ठीक नहीं है। अतः प्रो० वाडिया अद्वैत-सम्मत व्यवहार की स्थापना के लिये प्रयास कर रहे हैं। किन्तु क्या यह सिद्धान्ततः समर्थनीय एवं व्यवहारतः सुलभ है? स्पष्ट है कि नहीं। व्यवहार से भेद को नहीं निकाला जा सकता। वास्तव में

१. वहीं पृष्ठ—६३०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रो० वाडिया के प्रत्ययवाद में तार्किक असंगतियां हैं। किन्तु जितनी तार्किक असंगतियां हैं उतनी ही नैतिक संपत्तियां भी हैं, जो कम से कम आधुनिक भारत के लिये अपेक्षित है।

५. प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद का परित्याग: प्रत्ययवादी अनुभववाद

डा० सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त ने अपने निवंध 'सापेक्ष प्रादुर्भाव का दर्शन' (Philosophy of Dependent Emergence) में प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद की स्थापना की है। जन्म से वे प्राचीन भारतीय प्रत्ययवाद के प्रभाव में थे। वाद में उनके ऊपर भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक अनुशीलन, पाश्चात्य–वस्तुवाद, आईंस्टीन के सापेक्षतावाद तथा मूर के द्वारा प्रत्ययवाद की आलोचना का वड़ा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप उन्होंने सभी प्रकार के निरपेक्षतावाद का परित्याग किया। वड़े साहस से उन्होंने वेदों की अकाट्यता, वंध–मोक्ष के सिद्धान्त, कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद का भी परित्याग किया। इन मान्यताओं को छोड़ देने से डा० दासगुप्त का दर्शन प्राचीन–भारतीय–दर्शन से पूर्णतः पृथक् हो जाता है। उसका लक्ष्य मोक्ष नहीं है। वह इस जीवन एवं विश्व की व्याख्या करता है। उसका लक्ष्य यही व्याख्या है और फिर उसके आधार पर मानव-जीवन को सुखमय, शान्तिमय तथा प्रेम–पूर्ण करना है। उन के मत में मन पूर्णतः लौकिक है और उसमें परलोकवाद का लेशमात्र भी संस्पर्श नहीं है।

उपर्युक्त सभी पूर्वाग्रहों को दूर करके डा० दासगुप्त ने मात्र अनुभव के आधार पर सापेक्षतावाद को मान्यता दी है। उन्होंने अनुभव के सभी प्रकारों को माना। इसमें प्रत्यक्ष, भावना, इच्छा, कल्पना, विश्वास, अनुभूति से प्राप्त ज्ञान, मूल्यों को प्राप्त करने की चेष्टाएँ, सन्तों के अनुभव, नैतिक अनुभव, सौन्दर्य की अनुभूतियां, योगियों के समाधिगत अनुभव आदि शामिल हैं। ये अनुभव वहुतों को प्राप्त होते हैं। हो सकता है कि ये सभी अनुभव एक व्यक्ति को न हों। किन्तु इससे इनका न होना नहीं सिद्ध होता। इनका समुच्चय या समन्वय जिस अनुभव से होता है वह वास्तव में अनुभव नहीं है, किन्तु उसे भी लाक्षणिक अर्थ में अनुभव कहा जा सकता है।

इन अनुभवों की रचना में जनसम्पर्क, सामाजिक प्रथा,परम्परा तथा भाषा का वहुत वड़ा हाथ है। प्रत्येक अनुभव का अपना इतिहास है। सभी अनुभवों का सम्मिलित इतिहास भी है। यह इतिहास सदा प्रगतिशील रहता है। इसमें नये नये अनुभव आते रहते हैं और पूर्व-प्राप्त अनुभवों से उनका समन्वय होता रहता है। अनुभवों की सम्पूर्णता कोई ऐसी इकाई नहीं है जो कभी प्राप्त हो सके। वह एक आदर्श है और इसलिये सदा अप्राप्य है।

प्रत्येक अनुभव परोक्ष है। उसमें युक्ति या अनुमान निहित है। जिन अनुभवों को हम प्रत्यक्ष या अपरोक्ष कहते हैं वास्तव में उनमें निहित तर्कणा के सोपानों की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवहेलना करके ही हम उन्हें अपरोक्ष या प्रत्यक्ष कहते हैं।

कोई अनुभव स्वतः सत्य या असत्य नहीं है। अन्य अनुभवों के समन्वय से यदि वह समञ्जस है तो वह सत्य है और असमञ्जस है तो असत्य। इस प्रकार डा० दासगुप्त परतःप्रामाण्यवाद और परतःअप्रामाण्यवाद को मानते हैं, जो न्यायशास्त्र का प्राचीन सिद्धान्त है।

सभी घटनाएं अनुभव-गम्य हैं, जो अनुभव-गम्य नहीं हैं उनके विषय में हम कुछ भी नहीं जानते हैं और न कुछ कह ही सकते हैं। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि अनुभव के परे कुछ नहीं हैं। हमारे अनुभव में भी बहुत से ऐसे तथ्य हैं जिनका हम तर्क-संगत वाक्यों में वर्णन नहीं कर सकते हैं, अर्थात् हम जिनके बारे में कुछ नहीं कह सकते हैं।

अनुभव अनुभव-कर्ता और अनुभवगम्य विषय से अनिवार्यतः सम्बन्धित है, अथवा यों कहिए कि अनुभवकर्त्ता और अनुभवगम्य विषय अनुभव से सदैव सम्बन्धित हैं। अनुभवकर्त्ता को मन और अनुभवगम्य विषय को वस्तु कहा जाता है। यह जानना आवश्यक है कि मन और वस्तु अनुभव से निरपेक्ष नहीं हैं। मन कुछ अनुभवों का समन्वित संघात है। यह कुछ अनुभवों से रचित एवं ग्रथित है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु भी अनुभवों से रचित और ग्रथित है। वह मन से तथा अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध रखती है। इन सम्बन्धों का एक जाल है जिसमें वह वस्तु एक सूत्र है। यह विचित्र स्थिति है। किन्तु इस स्थिति से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि एकमात्र अनुभव ही सत् है। स्वयं अनुभव भी एक सम्बन्ध है। किन्तु यह मौलिक-सम्बन्ध है। सभी मौलिक सम्बन्ध आत्मनिर्धारक हैं। फिर इन्हीं सम्बन्धों के विभिन्न संघातों से अनुभव में विभिन्न विशिष्ट-विषयों की क्रमशः चेतना स्पष्ट होती है। यह स्पष्ट चेतना उन विषयों या तथ्यों का संकेत करती हैं। इस प्रकार हम विषयों को प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं जानते हैं। उनको हम संकेत–व्यापार से जानते हैं। इस संकेत–व्यापार में अभिसमय का भी महत्व है।

जब हम नील-वर्ण को देखते हैं तब निम्नलिखित अनुभव–क्रम घटित होता है:—

१. हम देखते हैं कि चक्षु एवं बाह्य नील विषय में कोई सम्पर्क नहीं है।

२. चक्षु के समक्ष कुछ प्रकाश–किरणें हैं जो नील–विषय से प्रत्यावर्तित हैं। ये किरणें विभिन्न विषयों के द्वारा अनेक प्रकार से घटित होती हैं। किन्तु फिर भी उनमें एक क्रम रहता है।

३. चक्षु एवं प्रकाश–किरणों के सम्पर्क से कुछ शारीरिक क्रियाएं घटती हैं, जिनके फलस्वरूप नील वर्ण की संवेदना होती है।

४. अन्ततः इस नील वर्ण की संवेदना से अभिज्ञ होने के लिए हमें इसे अपने मानसिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इतिहास में समन्वित करके अपने मन की कार्य-पद्धति के सिद्धान्तों के आधीन करना है।

इन चार क्रमिक अवस्थाओं में नील-वर्ण का ज्ञान होता है। हम यह नहीं कह सकते कि वाह्य जगत् में नील-वर्ण उसी रूप में है जिस रूप में हम इसे प्रत्यक्ष करते हैं। हमारे लिए यह हमारी चेतना में एक प्रादुर्भूत गुण है। इसके सहवर्ती सम्बन्ध शारीरिक क्रियाएं और वाह्य विषय हैं। यद्यपि इनकी सहवर्तिता हमारे मानसिक इतिहास में विविध रूप लेती है और उसके फलस्वरूप नीलवर्ण का ज्ञान प्रादुर्भूत होता है तथापि नील-वर्ण का हमारा ज्ञान वाह्य नीलवस्तु को मात्र संकेतित करता है।

इस प्रकार डा० दासगुप्त ने संस्कृत वैयाकरणों और साहित्य शास्त्रियों के संकेतवाद को ज्ञानमीमांसा के सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। उसको उन्होंने सापेक्षता-वाद तथा तज्जनित विकासवाद से अनुपूरित करते हुए सापेक्ष प्रादुर्भाव के सिद्धान्त के रूप में परिमार्जित किया है।

उनके इस दर्शन का अभिप्राय यह है कि जगत् एक बड़ा समीकरण है जिसके अधिकांश सम्बन्ध अभी मन में प्रादुर्भूत नहीं हुए हैं। जगत् में जगदात्मा नामक कोई निरपेक्ष आत्मा नहीं है। सभी मनुष्यों के जीवन में जो सोद्देश्यता, सप्रयोजनता पाई जाती है उसी के आधार पर हम कह सकते हैं कि जगदात्मा है या ईश्वर है।

अब प्रश्न है कि डा० दासगुप्त का मत प्रत्ययवाद है कि नहीं। कुछ लोग कह सकते हैं कि जैसे यह निरपेक्षतावाद नहीं है वैसे ही यह प्रत्ययवाद भी नहीं है। किन्तु फिर अनुभवों और अन्य मौलिक सम्बन्धों को क्या मानना पड़ेगा? क्या हमारा सारा ज्ञान अनुभव का ही स्पष्टीकरण और विकास नहीं है? यदि है तो उनका मत अनुभवमूलक आदर्शवाद प्रतीत होता है। वर्कले के प्रत्ययवाद की ही भाँति इसमें सामान्य को विशेषों का प्रतीक और प्रत्यक्ष को संकेत-व्यापार माना जाता है। किन्तु यह प्रत्ययवाद काण्ट के प्रत्ययवाद की तरह अज्ञेयवादी भी है। डा० दासगुप्त यह मानते हैं कि अनुभवगम्य जगत् से भिन्न वास्तविक जगत् हो सकता है, किन्तु उसका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि वे अज्ञेयवादी हैं। फिर उनके प्रत्यय-वाद में ईश्वरवाद का स्थान नहीं है। यहां ईश्वर कुछ आदर्शों के सद्गुणों का नाम है जिन्हें प्राप्त कर लेने से ईश्वर की प्राप्ति होती है। वह कोई सत्ता नहीं है। इन सब बातों में डा० दासगुप्त बौद्ध विज्ञानवाद को मानते हुए प्रतीत होते हैं। किन्तु वे बौद्ध-विज्ञानवाद के क्षणभंगवाद, निर्वाण एवं स्वलक्षण के सिद्धान्त को नहीं मानते। वे कुछ मौलिक सम्बन्धों को मानते हैं और इन्हीं मौलिक सम्बन्धों से सभी प्रकार के विषय बनते हैं।

मौलिक सम्बन्धों को मानने के कारण डा० दासगुप्त बौद्ध-विज्ञानवादियों से अधिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी सिद्ध होते हैं। ये मौलिक सम्बन्ध अनुभवमूलक हैं—या यों कहिये कि अनुभव की घटनाएँ हैं। वे ऊपर से बाह्य सम्बन्ध को भी मानते हैं किन्तु वास्तव में यह वाह्य सम्बन्ध आन्तरिक सम्बन्ध से दबा हुआ है। वे आधुनिक प्रत्यय-वादियों की भाँति आन्तरिक सम्बन्ध को मानते हैं, किन्तु जहां एक ओर वे कुछ मौलिक सम्बन्धों को मानकर संवेतवाद और आन्तरिक सम्बन्ध के सिद्धान्त के द्वारा समस्त प्रपंच को उत्पन्न या प्रादुर्भूत करते हैं, वहां उनका कहना है कि दर्शनशास्त्र इस प्रकार की विनिगमना नहीं है। मेरी समझ से यह उनका अनुभववाद के प्रति पक्षपात है और उसके कारण उनके विचार में असंगतियां आ गई हैं। वे स्वयं विनिगमना की तरह ही प्रादुर्भाव प्रक्रिया को दिखाते हैं किन्तु फिर भी उसका वे प्रत्याख्यान करते हैं। कुछ भी हो, अनुभववाद को विशाल से विशाल अर्थ देकर डा० दासगुप्त ने इन्द्रिय-प्रत्यक्षवाद को जड़ से उखाड़ दिया है और प्रत्ययवादी अनुभववाद या अनुभववादी प्रत्ययवाद की स्थापना की है। यदि दूसरा शब्द बर्कले के दर्शन के लिए प्रयुक्त होता है तो हम डा० दासगुप्त के दर्शन के लिए पहले शब्द का, यानी प्रत्ययवादी अनुभववाद का प्रयोग करेंगे। इसमें आधुनिक मूल्य-मीमांसी प्रत्ययवाद के भी बीज पाए जाते हैं, यद्यपि डा० गुप्त ने इनको विकसित नहीं किया है। एक प्रकार का अद्वैतवाद डा० दासगुप्त के दार्शनिक प्रत्ययवाद में भी मिलता है। यह है अनुभवों की समञ्जसता पर बल। यह सिद्धान्त सुसंगति के सिद्धान्त (Coherence Theory) का ही अनुवाद है। इसके अनुसार हमारे ज्ञेय-विषयों की प्रामाणिकता की कसौटी हमारे अनुभवों से समञ्जसता या सुसंगति है। यद्यपि डा० दासगुप्त इन समञ्जस अनुभवों की पूर्णता को नहीं मानते तथापि जितने भी अनुभव हैं, वे समञ्जस हैं, इसे वे मानते हैं। अर्थात् वे इसे इकाई मानते हैं। किन्तु इसके साथ वे प्रगतिशील या वर्धमान इकाई भी मानते हैं। यह वर्धमान ब्रह्मवाद के सिद्धान्त के ही अनुरूप है जिसे क्रोचे ने प्रस्तावित किया है। फिर वे सभी अनुभवगम्य विषय ग्रथित हैं। इस दृष्टि से भी उनका मत अद्वैतवाद प्रतीत होता है।

६. सार्वदेशिक प्रत्ययवाद

अब हम प्रो० अनुकूल चन्द्र मुकर्जी, डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त और डा० पी० टी० राजू के प्रत्ययवादों की चर्चा करेंगे। इनके प्रत्ययवाद सार्वदेशिक दो अर्थों में कहे जा सकते हैं—

१. इनके दर्शन की प्रणाली तुलनात्मक है। इसमें सभी देशों के दार्शनिकों की प्रामाणिक सूझ-बूझ का प्रयोग किया गया है। ये तुलनात्मक दर्शन का व्यवहार करते हैं और इस कारण इनका दर्शन, तुलनात्मक-दर्शन, विश्वदर्शन या सार्वदेशिक दर्शन है।

२. इनके मत से सभी दैशिक वस्तुएं और देश स्वयं आध्यात्मिक हैं। किन्तु यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रत्ययवाद सभी सार्थक विषयों को आत्मपूर्वक मानता है तथा यहां इस बात को स्वीकार किया गया है कि कोई वस्तु जो अज्ञात् एवं अज्ञेय है अस्तित्व में रह सकती है। यद्यपि हम उसके अस्तित्व के बारे में 'है', 'नहीं', 'क्या है', 'कैसे है' आदि कुछ नहीं जानते। जो वस्तुएं सार्थक हैं वे आत्मपूर्वक हैं। जो वस्तु अर्थ-शून्य है वह आत्म-निरपेक्ष हो सकती है। किन्तु क्या वह चिन्त्य है ?

प्रो० मुकर्जी ने भारतीय दर्शन और पश्चिमी दर्शन दोनों के प्रत्ययवादों की आलोचना करते हुए, दोनों के गुण दोषों को वतलाते हुए, दोनों के दोषों को दूर करते हुए और दोनों के गुणों को क्रमश रखते हुए अपने प्रत्ययवाद को प्रस्तावित किया है। उनका प्रत्ययवाद विशुद्ध अद्वैतवाद है। उन्होंने इस वात पर वल दिया कि आत्मा सभी विषयों, सभी वर्गणाओं और सभी अनुभवों की प्रागपेक्षा है। अतः वह विषयों, वर्गणाओं और अनुभवों के समकक्ष नहीं हो सकती है। हेगल और नव हेगलवादियों ने आत्मा के इस स्वरूप को समझते हुए भी इसको निरन्तर माना नहीं है। फल यह हुआ कि उन्होंने इसको विषयवत् समझा और इसे मन कहा, या आत्मचेतना कहा, या इसको उन्होंने कोई अनुभव समझा। उन्होंने इस अकाट्य तथ्य का मटियामेट कर दिया कि प्रत्येक विषय, वर्गणा और अनुभव की प्रागपेक्षा आत्मा है, और आत्मा को मात्र विषय माना। फिर काण्ट ने यद्यपि आत्मा की प्रागपेक्षा को पर्याप्त सिद्ध कीया है किन्तु उसने भी इसके स्वरूप को यत्रतत्र विकृत कर दिया है। जिन प्रत्ययवादियों ने परमसत् या आत्मा की नित्य-वर्धमानता पर बल दिया है, उन्होंने भी आत्मा को परिणमन, परिवर्तन या वर्धमानता की वर्गणा से अभिन्न किया है। अतः उनका मत भी अवांछनीय है। वास्तव में पुराने प्रत्ययवादियों ने आत्मा के सच्चे स्वरूप की झलक देखते हुए भी इसको अविषय न मानकर विषय माना और वे फिर सर्व-विषयवाद(Pan-objectivism) के जाल में उसी प्रकार पड़ गए जैसे वस्तुवादी पड़ते हैं। वस्तुवादी, विकासवादी और अनुभववादी जिस प्रकार आत्मा की व्याख्या करते हैं वह वास्तव में मानव ज्ञान के विकास एवं स्वरूप को समझने के लिये बहुत सहायक हैं। किन्तु उनकी भूल यह है कि वे आत्मा के प्रागपेक्षात्मक स्वरूप की उपेक्षा कर देते हैं। किन्तु उनकी समस्त गवेषणाओं की पृष्ठभूमि में जो आत्मा विद्यमान है उसके विकास या स्वरूप का वर्णन वे नहीं करते हैं। वे उस आत्मा का वर्णन करते हैं जो अनुभव-क्रम में आता है। यह आत्मा मात्र विषयी है—आत्माभास है। इसकी भी प्रागपेक्षा में जो तत्व है वह आत्मा है। जैसे शिलान्यास को भवन के स्तर पर नहीं रखा जा सकता, वैसी ही आत्मा को किन्हीं सूक्ष्म या स्थूल विषयों के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। अतः यद्यपि विषयों का इतिहास या विकास है, उनके ज्ञान का भी इतिहास या विकास है, किन्तु आत्मा का इतिहास नहीं है। आत्मा इन सभी इतिहासों की प्रागपेक्षा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मनोविज्ञान विषयज्ञान तक सीमित है और इसलिए वह अपनी प्रागपेक्षाओं की आलोचना नहीं कर सकता। ज्ञानमीमांसा इन प्रागपेक्षाओं की आलोचना है। प्रो० मुकर्जी का प्रत्ययवाद शुद्ध ज्ञानमीमांसात्मक प्रत्ययवाद है। मात्र ज्ञान–मीमांसा के आधार पर प्रो० मुकर्जी के पूर्व किसी ने भी प्रत्ययवाद की स्थापना नहीं की थी। उनके प्रत्ययवाद में इसलिए ज्ञानमीमांसा का प्रामाणिक अनुशीलन है।

पश्चिमी प्रत्ययवाद में आत्मा को प्रायः मन कहा जाता है। इस मन को लोग दो अर्थों में समझा करते हैं। मन का पहला अर्थ ज्ञानमीमांसात्मक है और दूसरा अर्थ मनोवैज्ञानिक। ज्ञानमीमांसात्मक अर्थ में मन सभी प्रकार के विषयों, वर्गणाओं और अनुभवों की प्रागपेक्षा है और इस कारण वह कोई विषय, वर्गणा, अनुभव या इन सब का कोई संघात अथवा समन्वय नहीं हो सकता। मनोवैज्ञानिक अर्थ में मन विषयी है। प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना है, उसका अहम् है। इस अर्थ में मन विषयों, वर्गणाओं और अनुभवों का समन्वय है या इन सबके समकक्ष है। इसका विकास हो रहा है। मनोवैज्ञानिक–मन के बारे में मनोवैज्ञानिक, अनुभववादी, वस्तुवादी और विकासवादी जो कुछ कहते हैं वह सब प्रो० मुकर्जी को स्वीकार्य है किन्तु उनका दावा है, और वह शत प्रतिशत सत्य है, कि मनोवैज्ञानिक मन ज्ञानमीमांसीय मन का स्थान नहीं ले सकता है। ज्ञानमीमांसीय मन या आत्मा मनोवैज्ञानिक मन और उसके समस्त विषयों की पृष्ठभूमि में है। अतः आत्मा को मनोवैज्ञानिक मन समझना, सभी विषयों को मनोवैज्ञानिक विषयों के अन्दर मानना, या उनको मनोवैज्ञानिक घटनाओं से रचित, खचित और ग्रथित मानना प्राचीन प्रत्ययवाद की त्रुटियां हैं। फिर आत्मा को मनो–वैज्ञानिक मन समझना, विषयों, वर्गणाओं और अनुभवों को आत्मा से निरपेक्ष मानना, आत्मा को अन्य विषयों के समकक्ष एक विषय मानना, वस्तुवादियों और अनुभववादियों की प्रधान त्रुटियां हैं। शुद्ध प्रत्ययवाद यह नहीं कहता कि सभी विषय मनोवैज्ञानिक मन में हैं या सभी विषयों का इस मन से सह–सम्बन्ध है।

प्रो० मुकर्जी के समान डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त ने भी प्रत्ययवाद की व्याख्या की है। जैसे प्रो० मुकर्जी ने दिखलाया है कि आत्मा यथार्थवाद एवं प्रत्ययवाद के द्वन्द्व से परे है वैसे ही डा० दत्त ने भी। उन्होंने प्रो० पेरी की आपत्ति का जवाब दिया है। पेरी की आपत्ति है कि प्रत्ययवाद मनस्केन्द्रित दुरवस्था (Ego–centric Predicament) पर आधारित है। इसके विपरीत डा० दत्त ने कहा कि यथार्थवाद विषयकेन्द्रित दुरवस्था (Object–centric Predicament) है। पेरी ने समझाया कि क्योंकि सभी विषय अपनी अभिव्यक्ति के लिए मन पर आश्रित रहते हैं इसलिए प्रत्ययवादी कहते हैं कि मन ही एकमात्र सत् है। इसके विपरीत डा० दत्त ने दिखाया कि क्योंकि हमें स्पष्ट ज्ञान मात्र-विषयों का ही होता है अतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वस्तुवादी लोग कहते हैं कि यदि मन का ज्ञान हमें है तो मन को भी विषय होना पड़ेगा। और एकमात्र विषय ही सत् है। पेरी का सिद्धान्त वाद है और डा० दत्त का प्रतिवाद। यदि पेरी ने दिखलाया है कि प्रत्ययवाद एकांगी और एकमात्रतावाद है तो डा० दत्त ने दिखलाया कि यथार्थवाद भो एकांगी एवं एकमात्रतावाद है। प्रो० मुकर्जी का मत इस प्रसंग में यह है कि यहां मन का अर्थ मनोवैज्ञानिक है। आत्मा के स्वभाव के ऊपर इस वाद–प्रतिवाद से कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। प्रत्ययवाद एकांगी एवं एकमात्रतावाद नहीं है। वह विषयों को भी मान्यता देता है। वह विषयों से परे आत्मा को नहीं मानता। परन्तु वह आत्मा और विषयों के सम्बन्ध को विलक्षण मानता है, दोनों का स्थान इस सम्बन्ध में निश्चित है, एक दूसरे का स्थान नहीं ले सकता। किन्तु आत्मा सभी विषयों की प्रागपेक्षा के रूप में है, इसलिए यह शुद्ध अद्वैतवाद भी है।

किन्तु विषयों का पृथक्–पृथक् ज्ञान हमें आत्मा का ज्ञान नहीं करा सकता। आत्मा विषय–चिह्नित नहीं है यद्यपि विषय आत्मा–चिह्नित हैं। विषय और आत्मा के सम्बन्ध की दो दिशाएं हैं। पहली दिशा है विषयों से आत्मा को सर्वथा भिन्न दिखलाना। उस दिशा में प्रो० मुकर्जी की सूझबूझ अत्यन्त समीचीन है। दूसरी दिशा है—विषयों को आत्म–चिह्नित दिखलाना। इस दिशा है डा० दत्त की सूझबूझ प्रशंसनीय है। उन्होंने दिखलाया कि देह भी आत्म–चिह्नित है, प्रत्येक भौतिक विषय आत्म–चिह्नित है। उन्होंने आधुनिक वस्तुवाद का विश्लेषण करते हुए दिखलाया कि जो विस्तृत, सीमित, ठोस देह दृष्टिगोचर होता है वह दृष्टि–प्रक्रिया के द्वारा संवेदनशील अनुभवों के एक पुञ्ज में अन्तर्भूत हो जाता है और वातावरण उस पुञ्ज से पृथक् नहीं रहता है।[1] अतः जो वस्तु ऊपरी दृष्टिकोण से भौतिक है वही गहरे और सही दृष्टिकोण से मानसिक है। आधुनिक वस्तुवाद किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने में असमर्थ है, वह मात्र ज्ञान–विषय प्रमेय का अस्तित्व सिद्ध करता है। उसका सर्वप्रमेयवाद वस्तुवाद से इतना ही दूर है जितना मानसवाद (Mentalism)।

प्रमेयों का आत्मा से सतत् एवं अपरिहार्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को हम जितना समझें उतना ही हम आत्मा को समझते हैं, यह डा. दत्त कुछ अस्पष्ट शैली में व्यक्त करते हैं। वे आत्मा के विकास एवं संकोच की चर्चा करते हैं। किन्तु वास्तव में आत्मा का विकास एवं संकोच उसे अनात्मा का रूप दे देता है। यदि इस विकास और संकोच के स्थान पर वे आत्म–ज्ञान की प्रबलता और मन्दता का सिद्धान्त रखते तो वह अत्यन्त समीचीन होता। फिर भी कदाचित् उनका तात्पर्य यही है, क्योंकि यदि वे भौतिक वस्तुओं के आध्यात्मिक रूप को ही उनका सच्चा अर्थ समझते हैं तो फिर विकास और

1, Cont. Ind. Phil. Page 306.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संकोच का अर्थ भी वे भौतिक न करके आध्यात्मिक ही करेंगे। इस आध्यात्मिक विकास के आधार पर ही उनका नैतिक प्रत्ययवाद आधारित है। आजकल वे नैतिक प्रत्ययवाद की जितनी चर्चा करते हैं उतनी उनके ज्ञानमीमांसीय रूप की नहीं।

प्रो० मुकर्जी और डा० दत्त की ही भान्ति डा० राजू ने तुलनात्मक दर्शन की प्रणाली से अपने प्रत्ययवाद को विकसित रखने की चेष्टा की है। तीनों ने तुलनात्मक दर्शन को अपना साधन माना है किन्तु तीनों ने इसके तीन पक्षों पर बल दिया है। डा० राजू ने भारतीय एवं पश्चिमी दर्शन की विशिष्ट-ताओं एवं भिन्नताओं पर बल दिया है और डा० दत्त ने दोनों की कमियों पर। डा० दत्त ने प्रायः पश्चिमी दर्शन को विश्लेषणात्मक और सर्वप्रमेयवादी दिखलाया है तो भारतीय दर्शन को संश्लेषणात्मक एवं प्रभाववादी। फिर वे एक दूसरे की कमियों को एक दूसरे से दूर करके अपने दर्शन की स्थापना करते हैं। डा० राजू ने दिखलाया है कि भारतीय प्रत्ययवाद ने व्यवहार की रचना की ओर ध्यान नहीं दिया यद्यपि उसने व्यवहार को मान्यता दी। उसने अन्तर्जगत् की धारणाओं या अनुभूतियों का ही मार्मिक अनुशीलन किया है। उसने परमार्थ पर आत्म के सही व्यवहार को सही रूप से समझने का विशेष प्रयास किया है। पश्चिमी दर्शन ने विशेषतः व्यवहार को समझने का प्रयास किया है यद्यपि उसने आत्मा को व्यवहार का आधार माना है। इन दोनों के विपरीत प्रो० मुकर्जी की तुलनात्मक पद्धति में यह स्पष्ट है कि भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रत्ययवादों में आत्मा को समझने का सही प्रयास किया गया है। किन्तु इसके बावजूद भी इन दोनों में विसंगतयां हैं। इनको हम दोनों की अच्छाइयों से ही दूर कर सकते हैं। प्रो० राजू और डा० दत्त दोनों परमार्थवाद और व्यवहारवाद की रचना को सही प्रयास मानते हैं। किन्तु प्रो० दत्त पाश्चात्य व्यवहारवाद को भारतीय पमार्थवाद से अनुपूरित करते हैं और डा० राजू भारतीय परमार्थवाद को पाश्चात्य व्यवहारवाद से अनुपूरित करते हैं। प्रो० मुकर्जी भारतीय एवं पश्चिमी परमार्थवाद को ही लेकर चलते हैं, दोनों की कमियां बताते हैं और दोनों का सही निचोड़ देते हैं।

यदि डा० दत्त ने दिखलाया कि भौतिक वस्तु या देह आध्यात्मिक है तो डा० राजू ने दिखलाया कि आत्मा या मन विषय या प्रमेय है। उन्होंने कहा कि जैसे हम द्रव्य को मानते हैं वैसे ही हमारे लिए अन्य आत्माओं का जानना असम्भव नहीं है।[1] जैसे हम द्रव्यों को अपरोक्षतः जानते हैं वैसे ही हम अन्य आत्माओं को

१. वहीं पृ० ५३२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मानते हैं।[१] उनके मत से वस्तुवाद प्रमाता या आत्मा को ठीक ही विषय मानता है, यद्यपि उसकी गलती यह है कि वह इसे सर्वविशिष्ट विषय नहीं मानता।[२] डा० राजू आत्मा को एक ओर प्रमाता एवं प्रमेय के अन्तराय में निहित मानते हैं तो दूसरी ओर वे इसे प्रमाता एवं प्रमेय का पृथक्-पृथक् आभ्यन्तर भी मानते हैं।[३] वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि पश्चिमी दर्शन ने मन की जो व्याख्या की है वह अपर्याप्त है, फिर भी उन्होंने भारतीय दर्शन के मन की वैसी ही व्याख्या की है जो पश्चिमी दर्शन की है। वास्तव में डा० राजू का प्रत्ययवाद अभी निखरा नहीं है। वह अभी निर्माणकाल में है। इसलिए उसमें अभी आत्मा के विषय में कुछ विसंगतियां हैं। लगता है कि डा० दासगुप्त की भाँति आत्मा की सामाजिकता को सभी अनुभवों की प्रागपेक्षा मानते हुए डा० राजू भी अपने प्रत्ययवाद का निर्माण कर रहे हैं। इससे यह समझना चाहिए कि उनके प्रत्ययवाद की दिशा डा० दासगुप्त के प्रत्ययवाद की दिशा है। किन्तु आत्मा को विशिष्ट प्रमेय मानना कदापि समीचीन नहीं है।

अनैकान्तिक प्रत्ययवाद–

अब हम प्रो० कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य के प्रत्ययवाद की चर्चा करेंगे जिसकी भी मौलिकता एवं नवीनता डा० दासगुप्त के प्रत्ययवाद की ही तरह है।

प्रो० कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य निरपेक्ष प्रत्ययवादी या ब्रह्मवादी हैं। उनके प्रत्ययवाद की कुछ विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता है कि उनका प्रत्ययवाद ज्ञान नहीं है। वह मात्र जिज्ञासा या श्रद्धा (faith) है। किन्तु श्रद्धा का अर्थ अंध विश्वास नहीं है। भट्टाचार्य श्रद्धा, ज्ञान और प्रमाण में भेद करते हैं। श्रद्धा ज्ञान और प्रमाण की प्रागपेक्षा है। श्रद्धा से जिन अर्थों को माना जाता है उन्हीं के बारे में ज्ञान और प्रमाण होते हैं। स्वयं ज्ञान का क्षेत्र प्रमाण से अधिक है। प्रमाण व्यवहित या परोक्षज्ञान है। किन्तु सभी ज्ञान परोक्ष ज्ञान (प्रमाण) ही नहीं हैं। निरपेक्ष अर्थ या ब्रह्म का प्रमाण नहीं हो सकता, किन्तु उसका ज्ञान हो सकता है। वह जिज्ञास्य है।

ज्ञान और श्रद्धा दोनों का विषय जिज्ञास्य है। किन्तु ज्ञान जिज्ञास्य को श्रद्धा या जिज्ञासा से भिन्न करता है। श्रद्धा या जिज्ञासा जिज्ञास्य से अभिन्न रहती है। यही श्रद्धा एवं ज्ञान का अन्तर है।

जिज्ञासा एवं जिज्ञास्य की अभिन्नता ज्ञान और ज्ञेय की भिन्नता में विकसित होती है किन्तु जिज्ञासा एवं जिज्ञास्य का पूर्ण अन्तर्भाव ज्ञान और ज्ञेय में नहीं होता है। ज्ञान और ज्ञेय से ही प्रमाण और प्रमेय निकलते हैं। भावना एक प्रकार का ज्ञेय है किन्तु

१. वहीं ४३१।
२. वहीं ४२७।
३. वहीं ४२७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वह प्रमेय नहीं है। इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय का क्षेत्र ज्ञान-ज्ञेय के क्षेत्र से संकुचित है।

अध्यारोप और अपवाद की प्रणाली से जिज्ञास्य पर क्रमशः ज्ञेय और प्रमेय आरोपित और अपवादित किए जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म जिज्ञास्य के ही रूप में है। यद्यपि भट्टाचार्य का यही मत है तथापि उन्होंने कहीं-कहीं जिज्ञास्य और ज्ञेय में अन्तर नहीं किया है और ब्रह्म को ज्ञेय भी कह दिया है। यह सुष्ठु प्रयोग नहीं है। किन्तु उन्होंने ब्रह्म को कहीं भी प्रमेय नहीं माना है, जो ठीक है।

उनके ब्रह्मवाद की दूसरी विशेषता यह है कि इसकी तीन विकल्पनाएं हैं। ब्रह्म विकल्प से सत्य (Truth), स्वतंत्रता (Freedom) और मूल्य (Value) है। इन विकल्पों को हम क्रमशः सत्, चित् और आनन्द भी कह सकते हैं। सनातन अद्वैत-वाद की भाँति प्रो० भट्टाचार्य ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द तो माना किन्तु उन्होंने इसका दूसरा अर्थ किया। उनके विचार से ब्रह्म अपने को समानभाव से तीन रूपों में पृथक् पृथक् नित्य व्यक्त कर रहा है, जैसे स्पीनोजा का द्रव्य अपने को कई धर्मों में समानभाव से नित्य व्यक्त करता है। लगता है कि भट्टाचार्य को यहां स्पीनोजा से प्रेरणा मिली है। कुछ भी हो, उन्होंने यह नहीं माना कि सत्, चित् और आनन्द का एकत्र समाहार है या और कोई सम्बन्ध है। वे इनमें मात्र "अथवा" के सम्बन्ध को मानते हैं। इनके इस मत का प्रभाव उनके सुपुत्र कालीदास भट्टाचार्य पर भी पड़ा है और वे इसको विकसित कर रहे हैं; किन्तु उनके बड़े सुपुत्र गोपीनाथ भट्टाचार्य मानते हैं कि ब्रह्म में "अथवा" का सम्बन्ध मानना समझ के बाहर है। हमारा विचार है कि गोपीनाथ भट्टाचार्य का मत कालीदास भट्टाचार्य के मत से अधिक तर्कसंगत है।

उनके प्रत्ययवाद की तीसरी विशेषता यह है कि ब्रह्म अनिर्वचनीय नहीं है। उसका निर्वचन हो सकता है। वह वक्तव्य है।

ब्रह्म की वक्तव्यता अथवा निर्वचनीयता को सिद्ध करने के लिए भट्टाचार्य ने वक्तव्यता मात्र का अध्ययन किया। उनके द्वारा वक्तव्यता अभिधा और मात्र लक्षणा द्वारा होती है। फिर अभिधा द्वारा जो वक्तव्यता होती है वह या तो उद्देश्य है या विधेय। जो बात कही जाती है वह विधेय और जिसके बारे में कही जाती है वह उद्देश्य है। विधेय या तो मुख्यतः अभिधा द्वारा होता है और या तात्पर्य द्वारा और या अभिधामूलक लक्षणा द्वारा। मात्र लक्षणा द्वारा जो वक्तव्यता होती है वह अभिधा-मूलक लक्षणा द्वारा की गई वक्तव्यता से भिन्न है। वक्तव्यता के इन प्रकारों को हम निम्न-लिखित तालिका में व्यक्त कर सकते हैं। तालिका में वक्तव्य अर्थों की प्रकारता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को भी कोष्ठ के अन्दर दिया गया है—

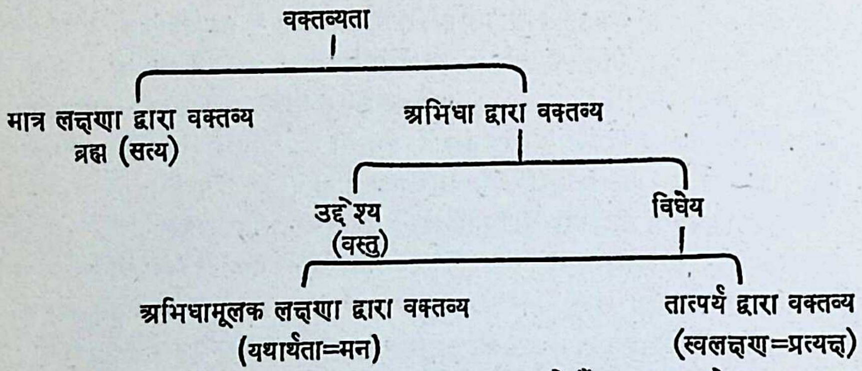

मात्र लक्षणा को हम जहदजहत् लक्षणा मान सकते हैं। सत्य, जो ब्रह्म का एक विकल्प है, का वर्णन जहदजहत् लक्षणा के द्वारा होता है। ऐसा सनातन अद्वैतवाद का भी कथन है। सनातन अद्वैतवाद 'तत्वमसि' आदिवाक्यों को इस लक्षणा से जानकर सत्य का पता लगता है, किन्तु भट्टाचार्य का मत इसके विपरीत है। उनका कहना है कि "मैं नहीं हूँ" (अहम् न) इस प्रकार की प्रणाली से सत्य का बोध होता है। यह प्रणाली भी वेदान्त की 'नेति नेति' या अहम् एतन्न की प्रणाली है।

अभिधा द्वारा मुख्यतः वस्तुओं का वर्णन होता है। किन्तु वस्तुओं के वर्णन में हम प्रत्ययों का प्रयोग करते हैं। ये प्रत्यय केवल वस्तुओं का संकेत करते हैं। प्रत्यय स्वयं मन में हैं। मन को हम दो रूपों में समझ सकते हैं। एक रूप वह होगा जिसमें वह प्रत्ययों से भिन्न है। इस रूप का इन्कार नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह दिखाया जा सकता है कि सभी प्रत्यय मनःपूर्वक हैं या वे मन के भास्य हैं। मन के इस रूप का वर्णन लक्षणा द्वारा होता है। फिर मन का वह रूप है जिसमें वह प्रत्ययों का मात्र संघात है। इस दृष्टि से वास्तव में मन नहीं है और एक मात्र प्रत्ययों का ही अस्तित्व है। ये प्रत्यय स्वलक्षण हैं, अर्थात् वे स्वयं अपने ऊपर प्रतिष्ठित हैं। वे इकाइयां हैं। प्रत्ययों का वर्णन हम तात्पर्य के द्वारा करते हैं। तात्पर्य अभिधा से प्राप्त अर्थों का समन्वय है। जब हम अर्थों का समन्वय करते हैं तब स्वलक्षणों के रूप में प्रत्ययों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

इस प्रकार अभिधा से वस्तु का, तात्पर्य से स्वलक्षणों का, अभिधामूलक लक्षणा से मन का और मात्र लक्षणा से सत्य का वर्णन होता है।

प्रो० भट्टाचार्य के इस सिद्धान्त का विशेष महत्व है क्योंकि इसने ब्रह्म-विषयक अनिर्वचनीयतावाद और अज्ञेयवाद का खण्डन किया है। किन्तु भट्टाचार्य के इस मत को विरले ही समझते हैं। न समझने का कारण भट्टाचार्य की अनेकार्थक भाषा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। यहां पर अद्वैतवाद की शैली से भट्टाचार्य के मत की व्याख्या की गई है। यदि इस दृष्टि से उनके आलोचक, जैसे डा० पी० टी० राजू[1], इस मत को समझें, तो उन्हें इसमें काफी सूझ-बूझ मिलेगी। इसके द्वारा भट्टाचार्य ने 'ब्रह्म-बोध' की स्पष्ट व्याख्या की है। किन्तु वे स्वयं अपनी सूझ-बूझ का निर्वाह न कर सके और इसको उन्होंने पाते ही खो दिया। कारण, उन्होंने माना कि पारमार्थिक चेतना सभी प्रकार की वक्तव्यता को मात्र लक्षणा मानकर आरम्भ होती है और वह परिपूर्ण तब समझी जाती है जब इस लाक्षणिक वक्तव्यता का भी परित्याग हो जाता है।[2]

पारमार्थिक-चेतना की परिपूर्णता के पश्चात् यदि सभी प्रकार की वक्तव्यता का परित्याग हो जाता है तो हमारे पास उस परिपूर्णता को जानने का कोई साधन नहीं रह जाता। उस परिपूर्णता के बारे में तब उपदेश नहीं किया जा सकता। किन्तु क्या ऐसा होता है? स्पष्ट है कि ऐसा नहीं होता है। पारमार्थिक चेतना की परिपूर्णता को प्राप्त करने वाले भाषा के माध्यम से उसे व्यक्त करते हैं। उस भाषा का अर्थ अभिधा के द्वारा नहीं लगाया जा सकता है। जैसे भाषा अन्य अर्थों का प्रतीक है वैसे वह उस परिपूर्णता का भी प्रतीक है। उपनिषत् के महर्षियों ने, बुद्ध ने, कबीर ने और ऐसे ही अन्य लोगों ने अपनी-अपनी भाषा में उसको व्यक्त किया है। अतः हमें इस बात को मानना पड़ेगा कि पारमार्थिक चेतना की परिपूर्णता में भी भाषा या वक्तव्यता का परित्याग नहीं हो सकता है। वाणी ही तो सर्वस्व है। फिर जितनी ही सशक्त अनुभूति होती है उतनी ही सशक्त वाणी होती है। अतः हमारा विचार है कि इस परिपूर्णता का बड़ी ही सशक्त भाषा में वर्णन हो सकता है।

प्रो० भट्टाचार्य के प्रत्ययवाद की चौथी विशेषता यह है कि यह तार्किक है—यह तर्क पर आधारित है। यह तर्क से सिद्ध करता है कि ससीम का आधार असीम है, भाव का आधार अभाव है, सापेक्ष का आधार निरपेक्ष है और विषय का आधार चेतना है। फिर यह चेतना को असीम, अभाव और निरपेक्ष मानता है। यहां चेतना को जो अभाव माना गया है उस पर कुछ कहना आवश्यक है।

यदि हम चेतना को व्यक्तिगत चेतना या जीव मानें तो इसका अभाव समझ में आ सकता है। किन्तु यहां भी हम सनातन अद्वैतवाद के समानाधिकरण को तिलांजलि दे रहे हैं और उसके स्थान पर बाध समानाधिकरण की स्थापना कर रहे हैं। फिर यदि जीव की चेतना का अभाव हो जाता है तो क्या हमारे पास कोई चेतना रहती है? यदि रहती है तो फिर हम उसे चेतना नहीं कह सकते। उसे हम चेतना तभी कह सकते

१. डा० राजू ने आइडियलिस्टिक थाट आफ इण्डिया में प्रो० भट्टाचार्य के इस मत की जो कटु आलोचना की है उसका कारण डा० राजू की नासमझी है।
२. कण्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलासफी पृष्ठ ११२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं जब उसमें जीव की चेतना की परिपूर्णता हो, न कि जीव की चेतना का अभाव हो। और यदि हम उसे चेतना नहीं कह सकते तो फिर हम उसे ब्रह्म नहीं कह सकते और न भट्टाचार्य के सिद्धान्त को प्रत्ययवाद ही कह सकते हैं। तब तो वह जड़ वस्तु ही होगा और उनका सिद्धान्त जड़वाद होगा। अतः भट्टाचार्य ने अभाव की व्याख्या में भले ही बौद्धिकता दिखलाई हो किन्तु उसमें उनका ब्रह्मवाद जड़वाद में बदल जाता है। लगता है कि इस ओर वे बौद्ध शून्यवाद से काफी प्रभावित थे।

वास्तव में भट्टाचार्य के प्रत्ययवाद में अद्वैतवाद और अनेकान्तवाद, आत्मवाद और अनात्मवाद, भाववाद और अभाववाद, निर्वचनवाद और मौनवाद तथा तर्क और श्रद्धा घुले मिले हैं कि कहीं-कहीं वे भूषण हो गए हैं तो कहीं-कहीं दूषण। इस स्थिति की व्याख्या आज यह कह कर दी जाती है कि उनके दर्शन की कम से कम तीन अवस्थाएँ हैं, किन्तु भट्टाचार्य ने अन्त में पहली और दूसरी अवस्था को छोड़कर तीसरी अवस्था को माना था। वे स्वयं किसी समय इन तीनों अवस्थाओं को नहीं मानते थे। अतः उनके विचार में अन्तर्विरोध नहीं था।

परन्तु उनके प्रकाशित निबन्धों के आधार पर तीन अवस्थाओं को सिद्ध करना कठिन है और उनमें कहीं कहीं जो अन्तर्विरोध है, उसको भी दूर करना सरल नहीं है।

परन्तु इससे भट्टाचार्य की मौलिक देनों का मूल्यांकन कम नहीं हो जाता है। उन्होंने जितना योगदान किया है वह उनके युग को देखते हुए बहुत पर्याप्त है। उस समय जहां अन्य दार्शनिक पाश्चात्य या भारतीय दर्शनों के व्याख्यान में लगे थे वहां भट्टाचार्य मौलिक ढंग से चिन्तन कर रहे थे। उनके चिन्तन से समकालीन भारत के कम से कम एक दर्जन दार्शनिक प्रभावित हुए हैं और उनके ढंग से स्वयं चिन्तन कर रहे हैं। इतनी भी उपलब्धि कम स्पृहणीय नहीं है।

८. उपसंहार—

हमने अपने समकालीन–दर्शन पर एक विहंगम् दृष्टि डाली है। इस प्रत्ययवाद पर आजकल पश्चिमी वस्तुवाद तथा यथार्थवाद के प्रभाव पड़ रहे हैं। किन्तु इन प्रभावों से यह और सबल पड़ रहा है। वास्तव में जितनी मौलिकता और गंभीरता प्रत्ययवादी दार्शनिकों में है उतनी पश्चिमी वस्तुवाद और यथार्थवाद की नकल करने वाले दार्शनिकों में नहीं है और वस्तुवाद एवं यथार्थवाद प्रत्ययवाद से यहां खंडित हो गए हैं। इसलिए वे इसकी धारा को सुखा नहीं सकते। आजकल जो लोग इस प्रत्ययवाद की आलोचना करते हैं वे वास्तव में मनसाश्रित प्रत्ययवाद (Subjective Idealism) की आलोचना करते हैं, और निरपेक्ष प्रत्ययवाद के द्वारा की गई वस्तुवाद तथा यथार्थवाद की आलोचना का उत्तर नहीं देते हैं। अतः प्रत्ययवाद को इनसे क्षति नहीं है। इनकी आलोचनाएं मात्र अर्थान्तर–कल्पना (Ignoratio Elenchi) हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

V

समकालीन भारतीय दर्शन में अनुभववादी प्रवृत्तियां

राजेन्द्र प्रसाद

दार्शनिक परंपरा के अनुसार अनुभववाद एक प्रकार का ज्ञान-शास्त्रीय सिद्धान्त है जो मानता है कि प्रामाणिक ज्ञान प्रदान करने वाले साधनों में अनुभव सर्वोपरि है। यह कथन उतना उपयुक्त या स्पष्ट नहीं है जितना इसे होना चाहिए, किन्तु मैं आशा करता हूँ कि मेरा आशय आने वाले वाक्यों से स्पष्ट हो जायगा। 'अनुभव' शब्द को यदि व्यापक अर्थ में लिया जाय तो अनुभव के अन्तर्गत सभी प्रकार की अनुभूतियाँ आ जाँयगी, जैसे ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष, रागात्मक अनुभूतियाँ, आध्यात्मिक अनुभूतियां, धार्मिक अनुभूतियाँ, इत्यादि। इसलिये, इस अर्थ में वे सभी विचारक अनुभववादी हैं जो ज्ञान के निर्माण में अनुभव को, चाहे वह किसी प्रकार का हो, सर्वाधिक महत्ता देते हैं। सभी रहस्यवादी विचारक, जो कहते हैं कि सर्वश्रेष्ठ ज्ञान अनैंद्रिय अनुभूति या प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त होता है, इस अर्थ में अनुभववादी कहे जाएंगे। ऐंद्रिय अनुभवों की यथार्थता में तो कोई अविश्वास नहीं करता, किन्तु अनैंद्रिय अनुभवों को सभी यथार्थ नहीं मानते। परन्तु रहस्यवादी विचारक अनैंद्रिय अनुभवों को यथार्थ ही नहीं बल्कि ऐंद्रिय अनुभवों से अधिक महत्वपूर्ण घोषित करते हैं। वे कहते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ हमें प्रायः धोखा दिया करती हैं; और जब वे ठीक-ठीक काम करती हैं तब भी उनसे मिला ज्ञान स्थूल पदार्थों के विषय में ही होता है, जो अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान—वह ज्ञान जो कभी असत्य नहीं सिद्ध हो सकता और जिसके विषय वैसे पदार्थ होते हैं जो विश्व के आधार हैं या जिनका मूल्य मानव-जीवन के लिए सर्वाधिक है—केवल अनैंद्रिय अनुभूति द्वारा, जिसे रहस्यानुभूति या आध्यात्मिक अनुभूति भी कह सकते हैं, ही प्राप्त हो सकता है। यदि इस व्यापक अर्थ में अनुभववाद को लिया जाय तो कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राधाकृष्णन्, आदि को भी अनुभववादी कहना पड़ेगा। ये सभी विचारक ज्ञान के निर्माण में अनुभव, आध्यात्मिक अनुभव, को बुद्धि से अधिक महत्व देते हैं। यह तो सभी अनुभववादियों के विषय में सत्य है कि वे बुद्धि को अनुभव से नीचा स्थान देते हैं। बुद्धि के प्रति उनकी अश्रद्धा अवश्य रहती है, किन्तु उस अश्रद्धा की मात्रा सब में एक समान नहीं मिलती जिससे उनमें आपसी मतभेद होने लगता है। उनका आपसी मतभेद इस विषय में भी होता है कि किस प्रकार का अनुभव सर्वश्रेष्ठ ज्ञान दे सकता है।

परंपरागत अनुभववाद का संकीर्ण अर्थ भी होता है, जो अधिक प्रचलित है। इस अर्थ में अनुभव का अर्थ होता है ऐंद्रिय अनुभव। अर्थात्. जो दार्शनिक संकीर्ण अर्थ में अनुभववादी है वह मानता है कि ज्ञान की, अर्थात् ज्ञान के आदि तत्वों की, उत्पत्ति ऐन्द्रिय अनुभवों द्वारा होती है। इस मत के मानने वालों में कुछ तो इतने उग्र होते हैं जो कहते हैं कि सभी प्रकार के ज्ञान, तथ्यगत या धारणात्मक, केवल अनुभव से ही प्राप्त हो सकते हैं। इनके लिए ज्ञान के निर्माण में बुद्धि की देन अत्यन्त ही कम है। कुछ दूसरे, जो अपने विचारों में उदार होते हैं, मानते हैं कि तथ्य-विषयक ज्ञान का उद्गम अनुभव अवश्य है, किन्तु धारणा–विषयक ज्ञान बौद्धिक विश्लेषण द्वारा ही सम्पन्न होता है। तथ्यगत–ज्ञान के विषय में भी दो मत हैं: एक के अनुसार अनुभव से ज्ञान के मूल, निर्णायक, तत्त्व मिलते हैं, उनके बीच संबंध स्थापित कर प्रतिज्ञाओं या निर्णयों की स्थापना करना, जिन्हें वाक्यों द्वारा व्यक्त किया जाता है, बुद्धि का काम है। दूसरे मत के अनुसार ज्ञान के मूल खंडों को ही नहीं बल्कि निर्णयों को भी हम अनुभव से ही प्राप्त करते हैं। बुद्धि निर्णयों की स्थापना नहीं करती, बल्कि अनुभव से प्राप्त निर्णयों के ढेर को सजाकर उसे समष्टि का रूप देती है। जो धारणात्मक ज्ञान को बुद्धिजन्य मानते हैं उनका कहना है कि अनुभव से वस्तुओं का, तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है। क्या वास्तविक है और क्या वास्तविक नहीं है, यह ज्ञान इंद्रियों द्वारा ही मिल सकता है। हमारी धारणाएं अनुभवों के आधार पर ही बनती हैं, किन्तु उनका विश्लेषण करना और उनके बीच स्थित विभिन्न प्रकार के संबंधों को ढूंढ निकालना बुद्धि का काम है। तर्क–शास्त्र और गणित के वाक्य धारणाओं के सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं, इसलिए इन दोनों में बुद्धि का बड़ा हाथ रहता है।

अनुभववाद का एक आधुनिक अर्थ भी है जिस अर्थ में उन विचारकों को अनुभववादी कहते हैं जो अपने दार्शनिक अन्वेषण में विश्लेषण की पद्धति का प्रयोग करते हैं। इसी अर्थ में 'अनुभववाद' का प्रयोग पश्चिमी दर्शन के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय तार्किक अनुभववाद के संबंध में किया जाता है। इस प्रकार के अनुभव–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वादियों में अधिकांश ऐसे हैं जो दर्शन को भाषा-विश्लेषण मानते हैं, हालांकि विश्लेषण के स्वरूप के विषय में उनमें एकमत नहीं है।

इस अध्याय में भारतवर्ष के उन अर्वाचीन दार्शनिकों के विचारों की चर्चा की जायगी जो परंपरागत अनुभववाद के संकीर्ण अर्थ में अनुभववादी हैं, या जो आधुनिक अर्थ में अनुभववादी हैं, अर्थात् जो दार्शनिक विश्लेषक हैं। ऐसे विचारकों की संख्या अत्यन्त ही कम है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रतिष्ठित दार्शनिकों में अधिकांश प्रत्ययवादी हैं। और भारतीय प्रत्ययवादी यद्यपि बुद्धिवादी नहीं हैं फिर भी वे ऐंद्रिय अनुभव को नहीं वल्कि आध्यात्मिक अनुभव को सर्वाधिक गौरव देते हैं। प्रस्तुत निवन्ध में जहां कहीं 'अनुभववाद' शब्द का प्रयोग किया जायगा उससे परंपरागत अर्थ में संकीर्ण अनुभववाद का या वैश्लेषिक दर्शन का प्रसंगानुसार बोध करना चाहिए। वैश्लेषिक दार्शनिकों की संख्या भी अभी बहुत अधिक नहीं है किन्तु बढ़ रही है और इस क्षेत्र में भी भारतीय विचारक, विशेष कर तरुण विचारक, काफी लगन के साथ मौलिक अनुसंधान कर रहे हैं।

१. श्री मानवेन्द्र नाथ राय—

आधुनिक युग के भारतीय विचारकों में श्री राय बड़े ही उग्र प्रकार के अनुभववादी एवं भौतिकवादी हैं। उनके अनुसार दर्शन का मुख्य लक्ष्य है प्रकृति की, जगत् की, व्याख्या करना। इस लक्ष्य की सिद्धि तब होती है जब वस्तुओं के वास्तविक रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। जो जैसा है उसे उसी रूप में जानना शुद्ध ज्ञान है। इस प्रकार, यदि दार्शनिक अन्वेषण ठीक ठीक किया जाय तो उसका निष्कर्ष, श्री राय का दावा है, भौतिकवाद ही होगा। वे कहते हैं कि दर्शन भौतिकवादी ही हो सकता है और भौतिकवाद के रूप में ही, सच्चे अर्थ में, दर्शन की संभावना मानी जा सकती है। भौतिकवाद के अनुसार, प्रकृति की सारी चीजों की उत्पत्ति भूत से होती है, भूत के अतिरिक्त अन्य कोई चीज वास्तविक नहीं है, और दुनियां की सारी प्रतीतियां भूत के विभिन्न विश्लेषण या परिवर्तित रूप मात्र हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्री राय का यह मत पक्षपात पूर्ण है। यह कहना कि केवल भौतिकवाद ही संभव दार्शनिक मत है, दर्शन के इतिहास को देखते हुए कतई न्यायसंगत नहीं लगता है। भौतिकवाद की स्थापना में निहित तार्किक दोष भी अब तक लोक-प्रसिद्ध हो गए हैं।

श्री राय ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को ज्ञान का आदि स्रोत मानते हैं। उनका कहना है कि भौतिकवाद के आधारभूत सिद्धान्तों में यह भी एक है। किसी प्रकार के जन्मजात प्रत्ययों में वे विश्वास नहीं करते। चैतन्य बाहरी वस्तुओं से बिलकुल स्वतंत्र होकर नहीं रह सकता। ऐंद्रिय प्रत्यक्ष में हमें अपने संवेदनों का नहीं वल्कि वस्तुओं का ज्ञान होता है। हमारे प्रत्यक्ष वस्तुओं के वास्तविक रूप का ज्ञान कराते हैं और प्रत्यक्षों और उनके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषयभूत वस्तुओं में समरूपता का संबंध रहता है । कुछ लोग यह शंका करते हैं कि प्रत्यक्षों और वस्तुओं में समरूपता कैसे हो सकती है ? इस शंका का समाधान बड़ा ही सहज है। जब हम अपने प्रत्यक्षों के द्वारा मिले ज्ञान के आधार पर आचरण करते हैं तो प्रत्यक्ष-ज्ञान और वस्तुओं में विद्यमान समरूपता पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है। जब-तक हम केवल विचारों में बँधे रहते हैं तभीतक इसमें अविश्वास कर सकते हैं। इसलिए अनुभववाद का निष्कर्ष न तो संशयवाद है न आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद। मन से स्वतंत्र पदार्थों के अस्तित्व में हमारे विश्वास को अनुभव प्रमाणित एवं पुष्ट करता है, खंडित नहीं।

श्री राय मानते हैं कि बाहरी वस्तुएं हमारे अंदर प्रत्यक्ष नहीं बल्कि संवेदन उत्पन्न करती हैं और इन संवेदनों के फलस्वरूप प्रत्यक्ष हमें होता है। यहां वे मानते हैं कि पहले संवेदन और तब प्रत्यक्ष होता है। किन्तु यह आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसंधानों और प्रयोगों द्वारा समर्थित मत नहीं है। मनोविज्ञान का सुप्रतिष्ठित मत है कि हमें प्रत्यक्ष ही होते हैं, ज्ञान के सरलतम खंड प्रत्यक्ष हैं। संवेदन तो काल्पनिक हैं—प्रत्यक्षों के विश्लेषण से हम उन्हें अलग करते हैं। मन के भी विषय में श्री राय का मत है कि वह संवेदनों की ओर जो प्रतिक्रिया होती है उसी से उत्पन्न होता है। इसका तो मतलब यह हुआ कि संवेदन की ओर प्रतिक्रिया करने के पूर्व मन का अस्तित्व ही नहीं होता। इस हालत में यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि कोई संवेदन अनुभूत होता है। इसलिए मन की उत्पत्ति के विषय में राय का मत तर्कसंगत नहीं है।

श्री राय का कहना है कि अनुभव से वस्तुओं का ज्ञान होता है, प्रत्ययों का नहीं। प्रत्यय अनुभव से उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय मानसिक चित्र हैं, वे हमारे वस्तु-ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं, वस्तुओं का नहीं। इसलिए प्रत्ययों से वस्तुओं को हम अनुमित नहीं करते—वस्तुओं का तो सीधा ज्ञान होता है। ज्ञान प्रत्ययों का संघात नहीं है, ऐसा नहीं कि पहले प्रत्ययों को हम प्राप्त करते हैं और तब ज्ञान को। बल्कि पहले ज्ञान होता है और ज्ञान से प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। यहाँ यह समझ में नहीं आता कि प्रत्ययों का क्या काम है ? जब ज्ञान वस्तुओं का होता है और वस्तु-ज्ञान प्रत्ययों से अनुमित नहीं है, तो प्रत्यय क्यों उत्पन्न होते हैं ? राय की ज्ञानमीमांसा में प्रत्यय अनावश्यक से लगते हैं।

श्री राय के अनुसार सभी वस्तुओं का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। अज्ञात होने से किसी वस्तु का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। सभी ज्ञात वस्तुएं वास्तविक होती हैं, किन्तु सभी वास्तविक वस्तुओं का ज्ञात होना आवश्यक नहीं। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण वास्तविक वस्तु ज्ञात हो जाय। वस्तुओं का ज्ञान मन पर आश्रित है, किन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित होता कि ये मानसिक हैं या मन से अभिन्न हैं। मन और बाह्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विश्व के बीच संबंध होने से ज्ञान होता है। इसलिए ज्ञान की संभावना और व्याख्या के लिए मन और विश्व दोनों को वास्तविक मान लेना अनिवार्य है। सारा ज्ञान अनुभवजन्य है चाहे वह धारणात्मक हो या गणित-शास्त्रीय हो। यहां यह कह देना आवश्यक है कि राय ने यह बतलाने की चेष्टा नहीं की है कि गणित का ज्ञान किस प्रकार अनुभवजनित है, जबकि अनुभववादियों के लिए यह बड़ी ही महत्वपूर्ण समस्या है। वे सारे ज्ञान को अर्जित मानते हैं; वे कहते हैं कि मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करता है, जन्म-जात संपत्ति के रूप में नहीं रखे रहता। अनुभव से ज्ञान के आदि-खंड मिलते हैं। उनको सजाकर, समष्टि का रूप देकर, मन ज्ञान-प्रक्रिया को पूर्ण करता है।

प्रो० जी. सी. चटर्जी

प्रो० चटर्जी दर्शन की परंपरागत परिभाषा मानते हुए अनुभववाद का समर्थन करते हैं। दार्शनिक चिन्तन, उनके अनुसार, मनुष्य इसलिए करता है कि वह चाहता है अपने को और विश्व को अच्छी तरह समझना। दार्शनिक चिन्तन का उदय अनुभव से होता है और अनुभव के आधार पर ही किसी भी दर्शन की प्रामाणिकता की परीक्षा होती है। अनुभव से प्रो० चटर्जी का मतलब है व्यक्तियों के वास्तविक अनुभव से, किसी सार्वभौम या दैवी अनुभव से नहीं। यदि किसी दार्शनिक मत का यह निष्कर्ष होता हो कि किसी वास्तविक अनुभव को अवास्तविक करार करना पड़े, या किसी अनुभव को जैसा वह वस्तुतः है वैसा नहीं माना जा सके, तो इसका अर्थ है कि वह दार्शनिक मत गलत है, यह नहीं कि अपने अनुभवों के प्रति जो हमारी श्रद्धा है वह अवांछनीय है। बुद्धि या बौद्धिक अन्वेषण द्वारा सत्ता-वास्तविकता-का ज्ञान नहीं हो सकता है। सत्ता-ज्ञान केवल अनुभव से हो सकता है। हेगल की यह गलती थी कि उसने बुद्धि को ही सत्ता-ज्ञान प्रदान करने की क्षमता से युक्त मान लिया था।

अनुभवों का स्वभाव ऐसा है, प्रो० चटर्जी कहते हैं, कि वे अपने से भिन्न वस्तुओं की सत्ता को प्रमाणित करते हैं। हमारे अनुभव दुनियाँ की विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की सत्ता में विश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण प्रस्तुत करते हैं। हम अनुभव करते हैं, इसी से प्रमाणित होता है कि संसार में अनेक प्रकार के पदार्थ विद्यमान हैं। हरएक अनुभव का संबंध उससे भिन्न किसी पदार्थ से रहता है और उस पदार्थ के अवास्तविक होने पर उसका मूल या वास्तविक रूप सुरक्षित नहीं रह सकता। प्रो० चटर्जी के लिए हरएक अनुभव के लिए कम-से-कम दो चीजों की आवश्यकता है. जिनमें एक विषयी, अनुभव करने वाला है, और दूसरा है विषय, जिसका अनुभव होता है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में अनुभव का होना संभव नहीं हो सकता।

अनुभवों के कई प्रकार होते हैं और भिन्न-भिन्न अनुभवों की विषयीभूत वस्तुएं भी भिन्न-भिन्न होती हैं। किन्तु हरएक अनुभव इस बात का प्रमाण है कि जो उसका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषय है वह वास्तविक, सत्तावान् है। जिन वस्तुओं का हमें बौद्धिक ज्ञान होता है, जिन्हें हम किसी प्रकार के अनुभव का विषय बनाते हैं, जो हमारी इच्छाओं–अभिलाषाओं के विषय बन सकती हैं, वे सभी वस्तुएं हमारे मन की उपज नहीं वल्कि स्वतंत्र सत्ता रखती हैं। यदि इनकी स्वतंत्र सत्ता अस्वीकार कर दी जाय तो इन अनुभवों की व्याख्या नहीं हो पायगी। यदि मुझे नीले रंग का प्रत्यक्ष हो रहा है तो नीला रंग मेरे मन का प्रत्यय, या मानसिक क्रिया नहीं है। वह मन से स्वतंत्र एक पदार्थ है, जिसके बिना नीले रंग के प्रत्यक्ष की व्याख्या नहीं हो सकती। और यदि इस प्रकार के प्रत्यक्षों के विषयभूत रंगों का अस्तित्व न माना जाय तो नीले और लाल रंगों के प्रत्यक्षों में जो भेद है उसके लिए भी हम कोई कारण नहीं बता पाएंगे। इसी तरह, रागात्मक अनुभवों के विषयों को भी सत्तावान् मानना आवश्यक है। जब मुझे क्रोध का अनुभव होता है तो अवश्य ही कोई न कोई व्यक्ति या पदार्थ रहता है जिसके प्रति मैं क्रोध करता हूँ। यदि मैं जान जाऊँ कि वह व्यक्ति या पदार्थ नहीं है, तो मेरा क्रोध काफूर हो जायगा।

प्रो० चटर्जी का अनुभव का विश्लेषण इस बात को मानकर चलता है कि हरएक प्रकार के अनुभव में एक ऐसा संबंध स्थापित होता है जिसके द्वारा संबंधित दोनों पदों का वास्तविक होना आवश्यक है। किन्तु ऐसा मान लेना न्याय–संगत नहीं है। कभी–कभी ऐसा होता है कि प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ भी अवास्तविक होते हैं। भ्रम में यही होता है कि जिसे प्रत्यक्ष कहते हैं वह सत्तावान् नहीं रहता। इच्छाओं के साथ यह और भी स्पष्ट है कि जिस वस्तु को हम चाहते हैं उसका वास्तविक होना विलकुल अनिवार्य नहीं है। कोई नवयुवक चाह सकता है कि उसकी शादी उस लड़की से हो जिसमें सभी प्रकार की सुन्दरताएं विद्यमान हों। ऐसा वह तब भी चाह सकता है जबकि दुनियां में ऐसी कोई लड़की न हो। इसलिए यह कहना कि चाहने के अनुभव के विषयभूत पदार्थ अवश्य ही वास्तविक होते हैं, गलत है।

प्रो० चटर्जी उन सभी वस्तुओं को वास्तविक मानते हैं जिनके अस्तित्व का अनुभव होता है। इसलिए प्रत्ययवाद और भौतिकवाद दोनों को वे गलत समझते हैं। प्रत्ययवाद केवल मन और मनके प्रत्ययों को वास्तविक मानता है। उसके अनुसार संसार की सभी चीज़ें मानसिक या चेतन हैं। भौतिकवाद सभी चीज़ों को भौतिक मानता है। किन्तु, प्रो० चटर्जी कहते हैं जब हमें मानसिक और भौतिक दोनों प्रकार के पदार्थों का अनुभव होता है तो उनमें से किसी एक प्रकार के पदार्थों को ही वास्तविक मानना उचित नहीं है। अनुभव हमें बतलाता है कि दुनियाँ में अनेक भौतिक पदार्थ और अनेक मन विद्यमान हैं। दर्शन का यह एक बड़ा जटिल प्रश्न रहा है कि हमें यह ज्ञान कैसे होता है कि मुझसे भिन्न और भी कई मन या मानसिक पदार्थ दुनियाँ में हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रो० चटर्जी इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर देते हैं, कि यह ज्ञान भी अनुभव से होता है। वे यह नहीं बतलाते कि किस प्रकार यह कार्य अनुभव संपन्न करता है, न इस प्रश्न की पेचीदगियों में ही वे पड़ते हैं।

मूल्यों के विषय में प्रो० चटर्जी का मत है कि वे पदार्थों के वस्तुनिष्ठ गुण हैं, मानसिक, या मन पर आश्रित नहीं हैं। उनके वस्तुनिष्ठ होने का ज्ञान भी अनुभव से ही होता है। किन्तु प्रो० चटर्जी यह नहीं वतलाते कि मूल्य–ज्ञान देने वाला अनुभव अन्य अनुभवों से कैसे भिन्न है, न वे यही वतलाते हैं कि मूल्य पदार्थों के अन्य वस्तुनिष्ठ गुणों से कितने भिन्न और कितने समान हैं। ये दोनों प्रश्न वड़े महत्वपूर्ण हैं और मूल्य–शास्त्र में इनकी छान-बीन कई दृष्टियों से की गई है।

३. प्रो० निकुन्ज बिहारी बनर्जी:—

प्रो० बनर्जी का ज्ञान–शास्त्रीय सिद्धान्त बड़ा ही जटिल है। जिसका सारांश संक्षेप में देना कठिन है। वे वस्तुवादी हैं क्योंकि ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास करते हैं, उसे ज्ञाता पर आश्रित या ज्ञाता से अभिन्न नहीं मानते। शायद उन्हें पूर्णरूपेण अनुभववादी नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि उनके दर्शन में अनुभववादी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं।

विश्व की व्याख्या करना दर्शन और विज्ञान दोनों का अभीष्ट प्रो० वनर्जी मानते हैं, किन्तु उनका कहना है कि विश्व जिस रूप में है उसकी उसी रूप में व्याख्या विज्ञान ही देता है। दार्शनिक व्याख्या का ध्यान इस पर रहता है कि विश्व को किस प्रकार होना चाहिए। इसलिए दर्शन का ध्यान मूल्यों की ओर अधिक रहता है। विश्व के यर्थाथ रूप की व्याख्या विज्ञान देता है और वैज्ञानिक व्याख्या की आधारशिला है हमारा साधारण ज्ञान। विश्व को हम अपने साधारण अनुभव के द्वारा जानते हैं और जो चित्र हमारा अनुभव प्रस्तुत करता है उसीसे विज्ञान आरंभ करता है। अनुभव हमें बतलाता है कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों वास्तविक हैं और यह भी कि सभी ज्ञात वस्तुएँ मानसिक या मन पर आश्रित नहीं हैं। इसलिए प्रो० बनर्जी का वस्तुवाद एक तरह से उनके अनुभववाद पर ही आश्रित है।

वैज्ञानिक ज्ञान और हमारे साधारण ज्ञान में अन्तर है, किन्तु द्वैत या वास्तविक विरोध नहीं। हमारा साधारण ज्ञान अनेक अंधविश्वासों और पक्षपातों से भरा रहता है, उसमें कई तरह के आंतरिक विरोध भी मिलते हैं। वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा उसके दोषों को हटा कर उसे परिमार्जित और तर्क–संगत किया जाता है। इसलिए यह कहना कि वैज्ञानिक और साधारण ज्ञान दो प्रकार के हैं, गलत है, बल्कि यह कहना चाहिए कि वैज्ञानिक ज्ञान साधारण ज्ञान को परिमार्जित और क्रमबद्ध करता है।

विश्व को समझने के लिए अनुभव अनिवार्य है। प्रो० बनर्जी कहते हैं कि बिना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुभव का सहारा लिए प्रागनुभविक, केवल बुद्धिजन्य, धारणाओं द्वारा विश्व के यथार्थ रूप की व्याख्या संभव नहीं है, और जो दार्शनिक ऐसा संभव मानते हैं वे भ्रम में हैं। किन्तु कुछ चीज़ें ऐसी भी हैं जिनका हम अनुभव तो नहीं करते किन्तु उन्हें सत्य मानना आवश्यक है, क्योंकि बिना उनको स्वीकार किये अनुभव की व्याख्या नहीं दी जा सकती। इस प्रकार के पदार्थों में आत्मा, ज्ञाता, एक है। इसी तरह प्राकृतिक नियमों का अनुभव हमें नहीं होता, फिर भी उनको मानना आवश्यक है क्योंकि अनुभूत विश्व की व्याख्या के लिए वे अपेक्षित हैं।

४. प्रो० के. सच्चिदानन्द मूर्ति:—

प्रो० मूर्ति ने धर्म की अनुभववादी व्याख्या प्रस्तुत की है। धर्म-भावना की अनुभववादी आधार पर व्याख्या करना प्रो० मूर्ति के दार्शनिक अन्वेषण की विशेषता है। सम्भवतः दूसरे किसी समकालीन भारतीय दार्शनिक ने ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है।

धार्मिक अनुभूति भावना-प्रधान होती है या ज्ञान-प्रधान, इस प्रश्न पर दार्शनिकों में बड़ा वादविवाद हुआ है। अधिकांश दार्शनिक उसे भावना-प्रधान मानते हैं। किन्तु प्रो० मूर्ति का कहना है कि यद्यपि उसमें भावना का अंश रहता है फिर भी वह तत्वतः ज्ञान-प्रधान ही है। भावनाओं की देन भी महत्वपूर्ण है, वे हमें कुछ ऐसी चीज़ों की ओर उन्मुख करती हैं जिन्हें हम अन्यथा नहीं देखते। यह भी कहा जा सकता है कि जो ज्ञान हमें धार्मिक अनुभूति में होता है उसकी प्राप्ति में भावनाओं का हाथ रहता है। फिर भी धार्मिक अनुभूति ज्ञान–प्रधान ही होती है। यह ठीक है कि धार्मिक व्यक्ति अपने को किसी पर निर्भर या अवलम्बित पाता है या किसी की आराधना करता है। किन्तु इसका मतलब है कि उसे यह ज्ञान है कि कोई है, जिस पर वह अवलम्बित है या जो उसका आराध्य है। धार्मिक अनुभूति का लक्ष्य ज्ञान–ईश्वर का दर्शन–है, आचरण नहीं। नैतिक आचरण सम्यक् दर्शन का साधक हो सकता है, किन्तु उसे धर्माचरण से अभिन्न नहीं माना जा सकता। यह भी संभव है कि किसी सच्चे धार्मिक व्यक्ति का आचरण नैतिक दृष्टि से श्लाघ्य नहीं हो।

धार्मिक अनुभूति को ज्ञान-प्रधान मानते हुए भी प्रो० मूर्ति उस ज्ञान को वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न मानते हैं। यह ज्ञान उन रास्तों से नहीं आता जिससे वैज्ञानिक ज्ञान आता है। यह तो उस प्रकार का ज्ञान है जो अन्य व्यक्तियों के साहचर्य के अनुभव से उत्पन्न होता है या जो संगीत के आस्वादन से स्फुटित होता है। संगीत एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति पैदा करता है और कुछ ऐसे प्रत्ययों को पैदा करता है जो आपाततः अस्पष्ट या छायामय होते हैं। इसी तरह के प्रत्यय धार्मिक अनुभूति में विद्यमान रहते हैं। इनको भाषा में व्यक्त करना बड़ा कठिन होता है और लाख प्रयत्न करने पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी इनकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। यह आवश्यक भी नहीं कि हमारी सभी अनुभूतियाँ पूर्णरूपेण भाषाबद्ध की जा सकें—अनुभूतियों का दायरा भाषा से अधिक व्यापक है। भाषा अनुभूतियों का अनुसरण करती है, नकि अनुभूतियाँ भाषा का। धार्मिक अनुभूति की परिभाषा संभव नहीं, न उसका बिलकुल सही विवरण ही दिया जा सकता है। हम केवल उसकी तुलना और अनुभूतियों से कर सकते हैं और बतला सकते हैं कि वह किन-किन दृष्टियों से उनके समान है और किन-किन दृष्टियों से उनसे भिन्न है। यही कारण है कि धर्म की परिभाषा विचित्रता से भरी होती है।

धार्मिक अनुभूति में धार्मिक सत्ता—ईश्वर—का ज्ञान होता है इसलिए कि ईश्वर अपने का प्रकाशित, व्यक्त करता है। किसी भी तथ्य का ज्ञान तभी होता है जब वह अपने को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। ईश्वर सर्वान्तर्यामी है, इसलिए हम से बिलकुल अलग या भिन्न नहीं है। इसलिए वह खुद अपने को हमारी अनुभूति में व्यक्त करता है। ईश्वर की जो अभिव्यक्ति हमारे अन्दर होती है, या उसके विषय में जो ज्ञान धार्मिक अनुभूति में हम प्राप्त करते हैं, वह उसी प्रकार का है जैसा ज्ञान कलाकारों और चिन्तकों को होता है, जब उन्हें सृजनात्मक अनुभूति होती है। कलाकार देखते हैं कि एक न एक उन्हें कोई नई ज्योति मिल जाती है, कोई नई धारणा उनके अन्दर घर कर लेती है, जिसे बहुत परिश्रम करने पर भी वे न पा सके थे और जिसे पूर्वकालीन अनुभवों के आधार पर केवल अनुमान द्वारा भी नहीं पाया जा सकता था। फिर भी, धार्मिक अनुभूति कलात्मक अनभूति से अधिक समृद्ध होती है। धार्मिक व्यक्ति अपनी अनुभूति के फलस्वरूप अपने को समुन्नत, जाग्रत, पाता है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व परिवर्तित हो जाता है—उसे एक ऐसी सत्ता का भान होता है जिसके सम्पर्क में आने से वह अपने को बिलकुल बदला हुआ पाता है।

धार्मिक अनुभूति को बुद्धि के नियमों में जकड़ा नहीं जा सकता। कुछ लोग कहते हैं कि यदि धार्मिक विश्वास अबौद्धिक या बुद्धि के विरोधी भी हों तो कोई हर्ज नहीं। प्रो० मूर्ति का कहना है कि यदि वे वस्तुतः अबौद्धिक हैं तो उन्हें ग्राह्य नहीं कहा जा सकता। यदि बौद्धिक विश्लेषण उन्हें व्याघातों से पूर्ण बतलावे तो उन्हें नहीं स्वीकार करना चाहिए। इसलिए अद्वैत वेदान्त के कई धार्मिक सिद्धान्तों को वे स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हें वे बुद्धि-विरोधी पाते हैं। स्वीकार्य धार्मिक विश्वास, प्रो० मूर्ति के अनुसार, बुद्धि के विरोधी नहीं बल्कि बुद्धि की पहुँच से बाहर रहते हैं—बुद्धि उन पर निर्णय नहीं दे सकती, इसलिए उन्हें बुद्धि-विरोधी भी नहीं कहा जा सकता। बुद्धि के प्रयोग से उनकी परीक्षा नहीं हो सकती। बुद्धि धार्मिक अनुभूति को उत्पन्न नहीं कर सकती, वह उसकी व्याख्या या स्पष्टीकरण में केवल सहायक हो सकती है। बौद्धिक तर्क ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं कर सकते—ईश्वर की सत्ता में विश्वास तो बुद्धि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की एक मान्यता है। ईश्वर में विश्वास रखना इसलिए आवश्यक है क्योंकि हमारी सारी अनुभूतियाँ इस विश्वास के बिना सार्थक नहीं बनाई जा सकतीं। जो विश्वास या सिद्धान्त अनुभव द्वारा समर्थित नहीं उसे भी सत्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए अद्वैत वेदान्त के तत्वशास्त्र को प्रो० मूर्ति दोषपूर्ण बतलाते हैं।

प्रो० चौधरी न तो पूर्णरूपेण अनुभववाद का समर्थन करते हैं, न दर्शन को भाषा या धारणाओं का विश्लेषण मानते हैं, फिर भी उनके कतिपय विचारों की चर्चा यहाँ की जा रही है, क्योंकि उन्होंने आधुनिक वैश्लेषिक पद्धति का प्रयोग अपने दार्शनिक अन्वेषणों में किया है। यहां हम दो समस्यायों के विषय में उनके विचारों को प्रस्तुत करेंगे। वे हैं: प्रत्यक्ष द्वारा अगृहीत पदार्थों का अस्तित्व और द्रव्य का स्वरूप।

दर्शन के इतिहास में इस पर बड़ा वाद-विवाद हुआ है कि जिस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है उसे सत्तावान् कह सकते हैं या नहीं? कुछ विचारक मानते हैं कि उसे सत्तावान् नहीं कह सकते, जबकि दूसरे मानते हैं कि उसे सत्तावान कह सकते हैं। मैं अपनी जेब में एक रुपया डाल देता हूँ। डाल देने के बाद मैं रुपये को नहीं देख रहा हूँ। इसलिए प्रश्न है, क्या वह रुपया जेब में है या नहीं है? मैं गंभीरतापूर्वक उसके अस्तित्व में शंका नहीं करता—मुझे विश्वास है कि वह जेब में है। किन्तु प्रश्न है कि यह विश्वास कहां तक न्याय-संगत है? यह प्रश्न प्रो० चौधरी के अनुसार आनुभाविक या तथ्यात्मक नहीं है। यदि यह तथ्यात्मक होता तो इसका समाधान बहुत पहले ही हो गया रहता, क्योंकि जिन दार्शनिकों में इसके संबंध में मतभेद रहा है उनकी न तो अनुभव की शक्तियाँ दोषपूर्ण थीं, न उनमें ईमानदारी की कमी थी कि अनुभव द्वारा सही समाधान प्राप्त हो जाने पर भी वे आपस में झगड़ते रहते। और तथ्य-संबंधी प्रश्नों का उत्तर विज्ञान संभाव्य वाक्यों द्वारा देता है। इसलिए यह प्रश्न यदि तथ्यात्मक होता तो इसका उत्तर देना विज्ञानों का कर्त्तव्य होता, दर्शन का नहीं। जिस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है उसके अननुभूत रहते ही यह जानना कि वह सत्तावान् है या सत्ता-शून्य, असंभव है। इसलिए यदि कोई प्रश्न करे कि वह अननुभूत वस्तु है या नहीं है, तो इसका स्वीकारात्मक या नकारात्मक किसी प्रकार का उत्तर संभव नहीं है। अनुमान द्वारा भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनुमान भी भूतकालीन प्रत्यक्षों पर आश्रित रहता है। प्रो० चौधरी के अनुसार यह प्रश्न भाषीय है, हम इसे उठाते हैं इसीलिए कि 'वस्तु' और 'सत्ता' शब्दों की निश्चित परिभाषाएँ हमारे पास नहीं हैं, क्योंकि ये शब्द बहुत-कुछ अस्पष्ट या अनेकार्थक हैं। इसलिए आवश्यकता है परिभाषाओं द्वारा या विश्लेषण द्वारा इन शब्दों के अर्थों को स्पष्ट और निश्चित करने की।

द्रव्य के विषय में प्रो० चौधरी का मत है कि द्रव्य न तो वस्तु है न वस्तुओं के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भीतर विद्यमान कोई अननुभूत पदार्थ, न गुणों का संघात मात्र। वह तो एक नियम का संकेत करता है जिसके अनुसार साथ रहने वाले गुणों को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है। द्रव्य-नियम में कोई अवश्यंभाविता नहीं है। इसलिए द्रव्य को अक्षर या चिरंतन नहीं कहा जा सकता है, यदि इसे परंपरागत परिभाषा का रूप दे दिया जाय। द्रव्य विषयक तत्वशास्त्रीय सिद्धान्त तार्किक या भाषीय भूलों पर आश्रित हैं, यद्यपि द्रव्य के रूप को समझने के लिए केवल भाषा का ही नहीं वल्कि तथ्यों का विश्लेषण आवश्यक है।

६. प्रो० दयाकृष्ण

प्रो० दया कृष्ण वैश्लेषिक दार्शनिक हैं। वे मानते हैं कि दर्शन का लक्ष्य विश्लेषण है। वे कहते हैं कि दर्शन धारणाओं का विश्लेषण है। इस कथन से उनका मतलव है कि दर्शन को धारणाओं का ही विश्लेषण करना चाहिए। दार्शनिक विश्लेषण, उनके अनुसार, भौतिक या रासायनिक विश्लेषण नहीं है—दार्शनिक का लक्ष्य किसी भौतिक या रासायनिक तत्व का विश्लेषण करना नहीं है जैसाकि कोई भौतिक या रसायन शास्त्र का विशेषज्ञ करता है। दार्शनिक विश्लेषण साहित्यालोचन में किए गए विश्लेषण के समान भी नहीं है। वह भाषा विश्लेषण भी नहीं, क्योंकि दर्शन भाषा-विज्ञान नहीं है। दार्शनिक विश्लेषण धारणात्मक विश्लेषण है।

विश्लेषण को दार्शनिक पद्धति मानने पर प्रश्न होता है कि उसका विषय क्या है? वह किस चीज़ का विश्लेषण करता है? दया कृष्ण कहते हैं कि वह धारणा-सम्वन्धी समस्याओं का विश्लेषण करता है। इसका यह मतलब हुआ कि दार्शनिक अन्वेषण के विषय धारणाएं और उनसे उत्पन्न समस्याएं हैं। किन्तु धारणाओं का अध्ययन तो मनोविज्ञान भी करता है। इसलिए दर्शन और मनोविज्ञान के अंतर को बनाए रखने के लिए दोनों की प्रणालियों में अंतर मानना पड़ेगा। धारणाओं का विश्लेषण मनोविज्ञान भी करता है, इसलिए यह वतलाना आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दार्शनिक विश्लेषण से किस प्रकार भिन्न है। दया कृष्ण इस भिन्नता को संतोषजनक रूप में नहीं वतला पाए हैं। वे कहते हैं कि जब हम धारणाओं के विषय में चिन्तन करने लगते हैं तो दार्शनिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। ये समस्याएं विशेषकर तब पैदा होती हैं जब किसी धारणा को हम दुर्बोध पाते हैं या किसी दूसरी धारणा के साथ उसकी असंगति देखते हैं। इसलिए, दार्शनिक चिंतन का उदय वस्तुओं के स्वरूप को स्थिर करने की चेष्टा से नहीं वल्कि धारणाओं को समझने की चेष्टा से होता है। इससे स्पष्ट है कि परंपरागत अर्थ में जिसे तत्व-शास्त्र कहते हैं, जिसका लक्ष्य वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है, उसका महत्व दार्शनिक अन्वेषण में, दया कृष्ण के लिए, बहुत ज्यादा नहीं हो सकता। बल्कि, यदि तत्व-शास्त्र को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन के क्षेत्र से हटा दिया जाय तो विशेष हानि नहीं होगी।

दर्शन को दया कृष्ण बुद्धि–प्रधान मानते हैं, और कहते हैं कि वह रागात्मक या क्रियात्मक नहीं है। दर्शन ज्ञानात्मक है, ज्ञान का साधन है, आनन्दानुभूति या कर्म का नहीं। किन्तु दार्शनिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान नहीं है। विज्ञान की पद्धति में अभ्युपगम बनाए जाते हैं और उनको अनुभव और प्रयोग द्वार प्रमाणित कर लेने पर ही सत्य माना जाता है। दर्शन गणित और तर्कशास्त्र से भी भिन्न है। दार्शनिक ज्ञान प्रातिभ ज्ञान या प्रज्ञात्मक ज्ञान से भी भिन्न है। प्रज्ञात्मक ज्ञान प्राप्त करने वाला संत या कलाकार हो सकता है, किन्तु दार्शनिक नहीं। दार्शनिक अन्वेषण में प्रज्ञा सहायक हो सकती है, किन्तु दार्शनिक ज्ञान के मुख्य साधन के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

दार्शनिक प्रश्न वस्तु–विषयक नहीं होते यद्यपि वे वस्तु–विषयक लगते अवश्य हैं। दया कृष्ण का कहना है कि उनके लिए दिए गए उत्तरों को सत्य या असत्य मानने पर यह आवश्यक नहीं कि किसी प्रकार की स्थिति को वास्तविक या अवास्तविक मानना पड़े। इसी कारण उनका प्रमाणीकरण संभव नहीं है और उनको वस्तु–विषयक कहना उचित नहीं है। तार्किक अनुभववादियों का मत भी इस विषय में इसी प्रकार का है, किन्तु मुझे लगता है कि दर्शन के सभी परंपरागत प्रश्नों को ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनमें कुछ अवश्य ऐसे हैं जो वस्तु–विषयक हैं और जिनके लिए दिए गए उत्तरों के सत्य होने के लिए किसी न किसी स्थिति का वास्तविक होना आवश्यक हो जायगा। हां, मैं दया कृष्ण के साथ इस बात में सहमत हूँ कि दार्शनिक प्रश्नों को वस्तु-विषयक नहीं होना चाहिए, क्योंकि वस्तु-ज्ञान विज्ञान का लक्ष्य है, दर्शन का नहीं।

मैं मानता हूँ कि दर्शन भाषा-विश्लेषण है और इससे मेरा तात्पर्य है कि दार्शनिक अन्वेषण का विषय भाषा है और उसकी पद्धति विश्लेषण। भाषा का अन्वेषण कई तरीकों से किया जा सकता है, अन्वेषण करना उन तरीकों में एक है। इसी तरह, विश्लेषण के विषय अनेक पदार्थ हो सकते हैं; भाषा विश्लेषण विषयों में एक है। भाषीय विश्लेषण की क्रिया भी विभिन्न प्रकारों से सम्पन्न की जा सकती है। जब मैं कहता हूँ कि दर्शन भाषीय विश्लेषण है तो मेरा मतलब यह कदापि नहीं कि वे सभी लोग, जो दार्शनिक कहे जाते हैं, भाषा–विश्लेषक हैं, या वे सभी रचनाएं जो दार्शनिक समझी जाती हैं भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। 'दर्शन भाषा विश्लेषण है' वाक्य से मेरा मतलब है कि दार्शनिक अन्वेषण को भाषा–विश्लेषण का ही रूप धारण करना चाहिए, भले ही उसका प्राचीन या अबतक का रूप इससे भिन्न रहा हो।

मैं यह मानकर चलता हूँ कि दर्शन मानव ज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा है। इससे मेरा मतलब यह नहीं कि उसे ज्ञान की अन्य शाखाओं की बिलकुल अपेक्षा नहीं है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बल्कि यह कि 'दर्शन' शब्द जिस ज्ञान-शाखा का द्योतक है वह अन्य शाखाओं से तत्वतः भिन्न है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो 'दर्शन' शब्द अनावश्यक हो जायगा। मैं इसलिए भी उसे स्वतंत्र कहता हूँ कि मेरी दृष्टि में उसे महत्वपूर्ण बनाने के लिए विज्ञान, धर्म या किसी अन्य विद्या का उसे अनुगामी बनना या 'साहचर्य' प्राप्त करना आवश्यक नहीं है।

'भाषाविश्लेषण' शब्द शायद भ्रामक है। 'भाषा' से मेरा मतलब 'ऐतिहासिक या क्षेत्रीय भाषा' नहीं, बल्कि 'सामान्य भाषा' है। अपने विश्लेषण की प्रक्रिया में उदाहरण-स्वरूप कोई दार्शनिक किसी भी भाषा के वाक्यों या शब्दों का व्यवहार कर सकता है. किन्तु इसका परिणाम यह न होगा कि उसके निष्कर्ष केवल उसी भाषा के विषय में सत्य होंगे। जैसे, कोई दार्शनिक युक्तियों की परीक्षा कर यह स्थिर करता है कि तार्किक दोष क्या हैं और किन-किन हालतों में किसी युक्ति को बिलकुल दोष-रहित कहा जा सकता है। इसके लिए वह किसी भाषा के वाक्यों द्वारा व्यक्त युक्तियों को ले सकता है और ऐसा करने से उसका अन्वेषण सीमित न होगा। यदि कोई हिन्दी में व्यक्त युक्ति दोष-रहित है, तो उसका दोष-रहित होना उसके हिन्दी में व्यक्त होने के कारण नहीं है, यदि वह दोष-रहित है तो किसी भी भाषा में उसे व्यक्त क्यों न किया जाय वह दोष-रहित ही रहेगी। यदि कोई पत्नी कहे कि "सभी पति दूसरी स्त्रियों के प्रति अधिक आसानी से आकृष्ट हो जाते हैं किन्तु मेरा पति ऐसा नहीं है", तो उसका ऐसा कहना विरोधपूर्ण है, चाहे वह किसी भी भाषा का प्रयोग अपनी बात कहने के लिए क्यों न करे। उसका कहना विरोधपूर्ण है क्योंकि यह भाषा के (केवल हिन्दी भाषा के ही नहीं), 'सभी' शब्द (और विभिन्न भाषाओं में जो इसके पर्याय हो सकते हैं उन सभी शब्दों) के व्यवहार का, तार्किक नियम है कि जो बात किसी वर्ग के सभी सदस्यों के विषय में सत्य रहती है वह हरएक के विषय में भी सत्य होती है। यदि सभी पति दूसरी स्त्रियां पर आकृष्ट हो जाते हैं तो ऐसा कहने वाली स्त्री का पति भी अवश्य होता होगा, अन्यथा उस स्त्री का 'सभी' शब्द का प्रयोग गलत होगा। इस प्रकार यदि कोई तर्कशास्त्री 'सभी' शब्द के प्रयोगों के नियमों का स्पष्टी-करण करता है तो उसके निष्कर्ष हिन्दी भाषा तक ही सीमित न रहेंगे। ये नियम तार्किक या दार्शनिक नियम हैं, व्याकरण के नियम नहीं हैं। हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'राम सीता का पति है' शुद्ध वाक्य है जबकि अंग्रेज़ी व्याकरण के अनुसार 'राम हसबैंड आफ सीता इज़' शुद्ध वाक्य नहीं होगा क्योंकि दोनों व्याकरणों के वाक्य-रचना के नियम भिन्न हैं। किंन्तु यह सत्य है कि यदि राम सीता का पति है तो सीता राम का पति नहीं हो सकती, और 'पति' शब्द के प्रयोग के विषय में जो यह नियम है वह किसी भाषा विशेष का नियम नहीं है— यह तो 'पति' शब्द के प्रयोग का तार्किक नियम है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दार्शनिक ऐसे ही नियमों की खोज या व्याख्या करता है। इसलिए दर्शन भाषा-शास्त्र नहीं है। भाष-शास्त्र का संबंध विशिष्ट भाषाओं से रहता है, वह उनके ऐतिहासिक विकास, परिवर्तन, शब्द-निर्माण के नियमों, विभिन्न भाषाओं की रूपात्मक या ध्वन्यात्मक समानता, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध वाक्य-रचना के नियमों, आदि का अध्ययन करता है। दार्शनिक का संबंध इन चीजों से नहीं है। वह तो भाषा का तार्किक विश्लेषण करता है और उन नियमों की खोज करता है जिनका पालन किए विना भाषा का अर्थ-पूर्ण व्यवहार नहीं हो सकता। ऐसे भी वाक्य हो सकते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हों फिर भी किसी तार्किक नियम का उल्लंघन करने से अर्थहीन हों। 'दर्शनशास्त्र बड़ा प्रतिभाशाली है' वाक्य में कोई व्याकरण का दोष नहीं है, फिर भी यह अर्थवान नहीं है क्योंकि प्रतिभाशाली कोई व्यक्ति ही हो सकता है। भाषा के अर्थपूर्ण व्यवहार का यह नियम है कि 'प्रतिभा' शब्द का उचित प्रयोग किसी व्यक्ति के संबंध में ही किया जा सकता है, व्यक्तित्व-शून्य किसी भी पदार्थ के विषय में नहीं। दर्शन-शास्त्र उपयोगी या अनुपयोगी, व्यापक या संकीर्ण, सुबोध या दुर्बोध, आदि विशेषणों से युक्त किया जा सकता है, किन्तु उसे प्रतिभाशाली या प्रतिभाशून्य कहने का कोई अर्थ नहीं होगा।

दर्शनशास्त्र भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोग के विभिन्न नियमों की खोज करता है और उन नियमों के प्रति हमें जागरूक बनाता है। इस प्रकार वह हमारी तार्किक बुद्धि को पुष्ट करता है और भाषा के प्रति अधिक संवेदनशील बनाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषा एक तरह की साधन-समष्टि है जिसे हम सुखी जीवन के लिए आवश्यक पाते हैं। शब्द हमारे लिए विभिन्न प्रकार के यंत्र हैं जिन्हें प्रयोग कर हम अपने बौद्धिक, रागात्मक, सामाजिक, आदि, आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। यदि हम अपने यंत्रों को अच्छी तरह जान लें तो निस्सन्देह हमें अनेक सुविधाएं प्राप्त हो जांयगी। यदि कोई सैनिक जान ले कि उसकी बंदूक से निकली गोली कितनी दूर जा सकती है और किस प्रकार और कितने जोर से घोड़ा दबाने से वह बाहर दूसरे की ओर जायगी और कैसी भूल हो जाने से अपनी ही ओर भागेगी, तो यह ज्ञान उसके सैनिक-जीवन के लिए अवश्य ही असाधारण रूप से लाभप्रद होगा। दार्शनिक विश्लेषण, इसी तरह, भाषा के नियमों की जानकारी कराकर हमारी बुद्धि को बल देता है और हमारी बौद्धिक प्रौढ़ता और सौष्ठव को बढ़ाता है।

भाषा-विश्लेषण करने के लिए भाषा के वास्तविक व्यवहार की परीक्षा होनी चाहिए और इस परीक्षा में व्यवहार के सभी अंगों की आवश्यक छान-बीन करनी चाहिए। जब तक भाषा को हम वास्तविक परिस्थितियों में काम करते नहीं देखें तब-तक उसके स्वरूप का सच्चा चित्र हम नहीं बता सकते हैं। किसी मशीन को अच्छी तरह समझने के लिए उसे तभी देखना लाभकर हो सकता है जबकि मशीन चालू रहती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है। भाषा का प्रयोग मशीन के प्रयोग से जटिल है, इसलिए इसकी परीक्षा में अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। भाषा–प्रयोग के विभिन्न निर्णायक तत्त्वों में प्रयोग करने वाले के उद्देश्य या लक्ष्य को मैं सर्वाधिक महत्ता देता हूँ। इसलिए किसी भाषा या भाषा–खंड के स्वरूप को स्थिर करने के पहले मैं यह जानना चाहूँगा कि उसका प्रयोग उसका वक्ता या लेखक किस लिए, किस उद्देश्य से, करता है। किन्तु इस पक्षपात का समर्थन यहां मैं नहीं कर सकता, इसलिए इसे पक्षपात के ही रूप में छोड़ दूँगा।

सहायक ग्रंथों और पत्रिकाओं की सूची

Benerjee, N.V.	Concering Human Understanding, Allen and Unwin, 1958.
Bhattacharya, C. and Deshpande, D.Y. (ed.)	Journal of the Philosophical Association, Vols. VI and VII.
Krishna, Daya.	The Nature of Philosophy, Calcutta 1955.
Malkani, G.R. (ed.)	The Philosophical Quarterly, Vol. XXXII.
Malkani, G. R. and others (ed.)	Selected Papers: The Thirtythird Indian Philosophical Cogress, 1958.
Murty, K.S.	Revelation and Reason in Advaita Vedanta, Asia Publishing House, 1959.
Nikam, N. A. Simondon, G. and Prasad, R. (ed.)	Entretiens: International Institute of Philosophy and Indian Philosophical congress, Mysore University, 1959.
Radha Krishnan, S. and Muirhead, J. H.	Contimporary Indian Philosophy, Allen and Unvin, 1952.
Roy, M.N.	Matirialism, Renaissance, 1951. New Humanism, Do 1947. Science and Philosophy, Do 1947.
शल्य, यशदेव (सं).	अनुभववाद, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, १९६०
Thapar, R. (ed.)	Seminar, September, 1961.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

VI

श्री अरविन्द दर्शन

र. क. त्रिपाठी

[श्री अरविंद का जन्म १५ अगस्त १८७२, मैंचेस्टर में श्री ड्रीवेट के साथ १८७८-८४, सेंटपाल स्कूल लंदन में १८८४-९०, कैंब्रिज में १८९०-९२, भारत लौट कर बड़ौदा स्टेट सर्विस में १८९३-१९०६, अलीपुर जेल में १९०८-९, आध्यात्मिक अशांति १९०९ से, चंद्रनगर को तथा वहां से पांडीचेरी को १९१०, पांडीचेरी में मीरा रिचर्ड का समागम तथा 'आर्य' का प्रकाशन १९१४, अतिमानस तत्व की चर्चा अगस्त १९२३ से, अतिमानसतत्व का अवतरण तथा आश्रम की स्थापना २४ नवंबर १९२६, महासमाधि ५ नवम्बर १९५० ।]※

विशिष्ट कृतियां— Life Divine, Essays on the Gita, The synthesis of Yoga, The Ideal of Human Unity, The Human Cycle, A System of National Education, Foundation of Indian Culture, On the Veda, Savitri etc.

१. भूमिका

श्री अरविंद आधुनिक भारत के ही नहीं बल्कि आधुनिक संसार के गण्यमान्य विचारकों में से हैं। अनेक भाषाओं के अधिकारी विद्वान, स्वतंत्रता संग्राम के योद्धा, श्री अरविंद एक महान योगी, कवि तथा दार्शनिक हैं। कवि तो वे बाल-काल से ही थे। भारत लौटने पर भारत की दिव्य संस्कृति के प्रेम ने उनको पागल बना दिया। वे स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े और भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता ही नहीं बल्कि भारत के

※ श्री अरविंद के जीवन के लिये श्री दिवाकर की पुस्तक Mahayogi द्रष्टव्य है।
§ श्री अरविंद की समग्र पुस्तकों की सूची 'The Integral Philosophy of Shri Aurobindo' Ed. H. Chaudhuri & F. Spiegalberg, के अंत में दी है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की महत्वाकांक्षा ने कवि को कर्मयोगी बना दिया। परंतु कर्म-क्षेत्र में उतरने पर यह अनुभव हुआ कि पहले दिव्य शक्ति का योग प्राप्त करना अधिक आवश्यक है। अतः कर्मयोग का क्षेत्र छोड़ कर योगाभ्यास के लिये श्री अरविद पांडीचेरी चले गये। वहां पर श्री अरविंद ने योगाभ्यास तथा लेख लिखने का काम प्रारंभ किया, जिसे वे अंत तक करते रहे। अपने विषय में लिखते हुये उन्होंने कहा है, "पांडीचेरी आने के पहले मैं कवि तथा राजनीतिज्ञ था न कि दार्शनिक। .... मेरा सिद्धान्त था कि योगी किसी भी कार्य को करने की क्षमता रखता है, अतः जब रिचर्ड ने मुझ से दार्शनिक पत्रिका में सहयोग देने को कहा तो मैं न नहीं कर सका। जब वे मुझे अकेले छोड़ कर युद्ध में चले गये तो ६४ पन्ने के दार्शनिक लेख मुझे अकेले प्रतिमास लिखने पड़े। जो कुछ मुझे योगाभ्यास के द्वारा अनुभव हुआ उसे मैंने बौद्धिक भाषा में व्यक्त किया और इस प्रकार मेरे दर्शन की उत्पत्ति हुई।"* स्पष्ट है कि श्री अरविंद के दर्शन का घनिष्ट सम्बन्ध उनके योग से है। उन्होंने स्वयं अपने दर्शन को नहीं बल्कि अपने योग को ही मौलिक कहा है।‡

'आर्य' में ही नहीं बल्कि 'कर्मयोगी', 'वंदेमातरम्' आदि अनेक पत्रिकाओं में श्री अरविंद के लेख राजनीति,सामाजिक विकास,शिक्षा आदि विषयों पर प्रकाशित हुए हैं। परंतु उनके जो लेख वेद, उपनिषद् तथा भारतीय संस्कृति पर हैं उनका विशेष महत्व है। इन लेखों के द्वारा श्री अरविंद ने एक तरफ तो भारतीय संस्कृति के विषय में फैली हुई अनेक भ्रान्त धारणाओं को दूर किया और दूसरी तरफ उन्होंने वेद तथा उपनिषदों की एक मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने कोई भाष्य नहीं लिखा है, किंतु उनकी व्याख्याओं से जान पड़ता है कि कवि-हृदय के लिये वैदिक रहस्यों में प्रवेश करना कितना सरल है। उनका कहना है कि वेद ऋषियों द्वारा अनुभूत रहस्यों के संग्रह हैं। उनकी भाषा सांकेतिक या काव्य की भाषा है। उनके गुह्य अर्थ को केवल बुद्धि या शब्दार्थ के आधार पर नहीं समझा जा सकता है। ऋषियों की वाणी समझने के लिए ऋषि होना पड़ेगा। श्री अरविंद को योगाभ्यासी होने के कारण विशेष सुविधा प्राप्त थी। अपनी इसी सुविधा के कारण श्री अरविंद ने यूनानी संस्कृति का भी रहस्य समझा है। उनकी पुस्तक हेराक्लीटस (Heraclitus) इसका प्रमाण है। हेराक्लीटस एल्युसीनियन (Eleusinian) रहस्यवाद की परंपरा में पला था, अतः उसकी भाषा सांकेतिक है। श्री अरविंद उस सांकेतिक भाषा को समझ कर उसकी तुलना-वेद वचनों से करते हैं।§ नित्य तथा अनित्य अविभक्त रूप से संबंद्ध

* श्री दिवाकर Mahayogi पृ. १८४

‡ The Riddle of this Universe. Footnote P. 32

§ Heraclitus P. 5-8

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं, इस अन्यतम सिद्धान्त की पुष्टि श्री अरविंद को हेराक्लीटस में मिलती है।* इस प्रकार श्री अरविंद के दर्शन पर केवल वेद, उपनिषद्, गीता तथा यूनानी दर्शन का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त काश्मीर के शिवाद्वैत, तंत्र तथा आधुनिक विकासवाद और मानववाद का भी प्रभाव है, जो उनके दर्शन की व्याख्या से स्पष्ट हो जायगा।

२. सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण

श्री अरविंद के दर्शन में तीन प्रधान प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। विकासवाद, नवीन वेदान्त तथा मानववाद। पाश्चात्य देशों में प्रारंभ में विकासवाद का विरोध हुआ था। यदि मनुष्य की उत्पत्ति विकास का परिणाम है तो हम ईश्वर को स्रष्टा कैसे मानेंगे और उसके प्रति हममें भक्ति-भावना कैसे उत्पन्न होगी? परंतु अब विकासवाद इतना स्थिर हो चुका है कि ईसाई धर्मावलंबी भी एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करने को व्यग्र हैं जिसमें विकासवाद की मान्यता हो। बर्गसाँ आदि के प्रयत्न इस दिशा में हुए हैं, परंतु वे सफल नहीं हैं। श्री अरविंद भी विकासवाद को सत्य मानकर आगे बढ़ते हैं। वे इस सिद्धान्त की परीक्षा तक नहीं करते। इतना ही नहीं, वे इसे वेदों तथा उपनिषदों तक में पाते हैं। इसी से उनका दर्शन आज के वैज्ञानिक व्यक्ति के लिए रुचिकर है। इतना अवश्य है कि श्री अरविंद के हाथों में विकासवाद का रूप बदल जाता है। नवीन वेदान्त से हमारा तात्पर्य आज की उस वेदान्ती विचारधारा से है जिसमें जगत् की सत्यता स्वीकार करने की व्यग्रता दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य दार्शनिक जगत् की असत्यता को स्वीकार करना कठिन पाते हैं। जगत् की असत्यता स्वीकार करना मानो सर्वनाश को स्वीकार करना है। यही प्रवृत्ति नवीन वेदान्त की भी है। इसी प्रवृत्ति के कारण श्री अरविंद ने मायावाद का खंडन किया है। मायावाद के खण्डन का एक कारण संभवतः यह भी है कि इसका मेल पूर्णयोग से नहीं बैठता। श्री अरविंद ने अपनी पुस्तक "दि आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी" में अपने मानववाद का स्पष्टीकरण किया है। वे समाज की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान नहीं होने देना चाहते। वे मानव का कल्याण चाहते हैं, किंतु केवल लौकिक कल्याण मात्र नहीं, आध्यात्मिक कल्याण भी। इतना अवश्य है कि वह कल्याण किसी परलोक की वस्तु नहीं है बल्कि इस भूतल की वस्तु है। उनका लक्ष्य है पृथ्वी पर ही दिव्य जीवन की प्राप्ति। संसार की सारी समस्याओं का हल दिव्य चेतना को जाग्रत करने से ही होगा, बौद्धिक उपायों से नहीं।

श्री अरविंद के दर्शन का प्रारंभ पाश्चात्य जड़वाद तथा प्राच्य अद्वैतवाद की आलोचना से होता है।** वे पाश्चात्य दार्शनिक विकासवाद को तो मानते हैं किंतु विकास को सफल तथा संभव बनाने के लिए जिस तत्व की आवश्यकता है उसे स्वीकार नहीं

* Ibid P. 6.

** Life Divine (The Greystone Press) अ. २,३.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करते। जबतक जड़ सत्ता में चित्-शक्ति अंतर्व्याप्त न होगी तब तक विकास के लिए न कोई प्रेरणा होगी और न विकास का कोई लक्ष्य होगा। यदि बाह्य ज्ञानेन्द्रियां प्रामाणिक हैं और जड़ जगत् सत्य है तो हमारी अंतरानुभूति भी प्रामाणिक है और चित् सत्ता भी सत्य माननी होगी। केवल जड़तत्व को सत्य मानने से तो जीवन ही निरर्थक हो जायगा। योरुप ने जड़वाद को अपनाकर लौकिक वैभव तो प्राप्त किया किंतु दिव्य जीवन हाथ न लगा। वास्तव में जड़वाद एकांगी है। भारतवर्ष ने चित् सत्ता को अधिक महत्व दिया, जिससे उसे आध्यात्मिक जीवन तो प्राप्त हुआ लेकिन लौकिक वैभव न प्राप्त हो सका। श्री अरविंद की दृष्टि में सन्यासवाद से मानव का अधिक अहित हुआ है न कि जड़वाद से।* इतना ही नहीं, वे तो यहाँ तक कहते हैं कि जड़वाद से मानवता का हित हुआ है। जड़वाद एक तत्ववाद ही है परन्तु उससे दोष यह है वह जड़ के भीतर चित् का अस्तित्व नहीं देखता। जड़वाद का विरोध या खण्डन करने के लिए केवल इतना कहना पर्याप्त है कि जड़मात्र सत्य नहीं है। किंतु अद्वैतवाद या सन्यासवाद ने केवल इतना ही नहीं कहा। उसने तो जड़ को सर्वथा असत्य कहा। संभव है इस प्रकार का निवृत्तिपरक दृष्टिकोण बौद्धों के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुआ हो। उपनिषदों का अद्वैतवाद तो इससे सर्वथा भिन्न है। उपनिषदों ने स्पष्ट कहा है "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"। इतना ही नहीं, "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" भी कहा है। अद्वैतवादी के निवृत्तिपरक दृष्टिकोण का एक मनोवैज्ञानिक कारण यह भी हो सकता है कि जब मन एकाएक शुद्ध चित् के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो जड़ जगत् विरोधाभास के कारण उसे असत्य जान पड़ता है।‡ जो भी हो, यदि जड़वाद एकांतवादी है तो अद्वैतवाद भी एकांतवादी है। जड़वादी और सन्यासी दोनों के निषेध असत्य हैं। जड़वाद सृष्टि को असंभव बनाता है तो मायावाद उसे निरर्थक बनाता है।

ऐसा नहीं कि इन दोनों वादों के समन्वय का प्रयत्न भूतकाल में न हुआ हो, किन्तु वे प्रयत्न सफल न रहे। जड़ को अपनाया गया किंतु जड़ की हीनता ज्यों की त्यों बनी रही। जड़ भी स्वरूपतः चेतन है, अथवा जड़ को भी दिव्य बनाया जा सकता है, ऐसा दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया। जड़वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में सन्यासवाद की छाया सदा बनी रही।† जड़-चेतन का विरोध बना ही रहा। इसका कारण यह था कि द्वैतवाद की समस्या का हल केवल बौद्धिक तर्कों के सहारे किया जाता था। तर्क की दृष्टि से जड़ और चेतन में इतना विरोध है कि उनका समन्वय या एकीकरण कभी हो ही नहीं सकता।§ समस्या का हल केवल उच्चतर चेतना की प्राप्ति से ही हो सकता है।

* The Life Divine. P. 11
‡ Ibid P. 23
† The Life Divine. P. 23
§ Ibid P. 21

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चेतना के एक ऐसे स्तर पर पहुँचा जा सकता है जहां इन दोनों तत्वों में विरोध नहीं दिखाई पड़ता, जहां दोनों एक ही तत्व के दो पहलू के रूप में दिखाई पड़ते हैं। सच्चा अद्वैत वह है जो दोनों का समन्वय करे, नकि एक का त्याग कर दूसरे की स्थापना करे।ஃ श्री अरविंद का दृष्टिकोण त्याग का नहीं वल्कि ग्रहण, समन्वय तथा संपरिवर्तन का है। जिस प्रकार उनके ब्रह्म में सब प्रकार के द्वन्द्वों का समावेश तथा समन्वय है उसी प्रकार उनके योग में भी जीवन की सभी अवस्थाओं का समन्वय और संपरिवर्तन है। इसी से उनके दर्शन को पूर्णाद्वैतवाद तथा योग को पूर्ण योग कहते हैं। उनका दृष्टि-कोण समझौते का नहीं बल्कि समन्वय का है क्योंकि समझौते में विरोध बना रहता है, समन्वय में नहीं रहता। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार मौन-क्रिया में विरोध नहीं है उसी प्रकार शांत तथा सक्रिय ब्रह्म में विरोध नहीं है। शांत से शब्द तथा शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति है। उपनिषदों ने स्पष्टतः शांत (असत्) से सत् की उत्पत्ति मानी है।

३. सच्चिदानन्द का स्वरूप

दर्शन के क्षेत्र में जिस प्रकार जड़वाद तथा चैतन्यवाद का विरोध है उसी प्रकार एकवाद तथा अनेकवाद का विरोध भी प्रसिद्ध है। अनेकवादी एकत्व की माँग पूरी नहीं कर पाते और एकवादी एक से अनेक की उत्पत्ति बताने में असमर्थ हैं। श्री अरविंद के अनुसार यह समस्या बुद्धिजन्य है। जब हम अनंत विषयक प्रश्नों को सीमित बुद्धि के दृष्टिकोण से हल करना चाहते हैं तो ऐसी समस्यायें खड़ी होती हैं। बुद्धि को सभी रहस्य समझने के लिए सामर्थ्यवान मानना हमारा मूल अभिमान है। इन्द्रियों को अनेक तथा बुद्धि को एक की आकांक्षा है, और बुद्धि दोनों का मेल किसी प्रकार नहीं करा पाती। अतएव एक का ग्रहण और अनेक का त्याग किया जाता है। समस्या का हल प्राप्त करने के पहले हमको यह समझना होगा कि अनंत के क्षेत्र में बुद्धि के तर्क अप्रतिष्ठित हैं।* बुद्धि अनंत का दृष्टिकोण अपना ही नहीं सकती। इसी से श्री अरविंद ने कहा है कि अनंत का तर्क बुद्धि के लिए पहेलीमात्र है।§ उदाहरणार्थ, पूर्ण में से पूर्ण के निकाल लेने पर कैसे पूर्ण बना रहता है, यह बुद्धि को समझ में नहीं आ सकता। इसे समझने के लिए हमें मानसिक स्तर से उपर उठकर अतिमानसिक स्तर की दृष्टि अपनानी होगी। वास्तव में मानसतत्व ज्ञान का साधन नहीं बल्कि ज्ञान की ओर प्रवृत्त होने का साधन है। कांट और बर्गसाँ ने ही नहीं अपितु शंकर आदि आचार्यों ने भी परमतत्व को बुद्धि के परे माना है। परंतु विचित्र बात यह है कि ऐसा होने पर भी बुद्धि के तर्कों के आधार पर एक और अनेक को पृथक् कर अनेक को त्याज्य या असत्य कहा है। यदि

ஃ Ibid P. 31

* The Life Divine. P. 293

§ Ibid P. 298

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तत्व बुद्धि के परे हैं तो बुद्धि के इस निष्कर्ष को क्यों माना जाय कि एक और अनेक का समन्वय नहीं हो सकता ? अतः श्री अरविंद का मत है कि यदि ब्रह्म का स्वरूप अतिमानस की दृष्टि से समझा जाय तो एक और अनेक का विरोध मिट जायगा । स्पष्ट है कि श्री अरविंद के दर्शन का मापदंड बौद्धिक तर्क नहीं बल्कि अतिमानस का अनुभव है ।

मानसिक दृष्टि से जगत् में अनेक प्रकार के दोष दिखाई पड़ते हैं । परिवर्तनशीलता या क्षणिकता, अनेक प्रकार के दुःख तथा अनैतिकता ऐसे दोष जान पड़ते हैं जिन को आत्मा के स्वरूप में स्थान नहीं मिल सकता । अतः सांख्य ने इनको पृथक् कर प्रकृतिजन्य कहा तथा मायावाद ने इन्हें अज्ञानजन्य कहा । इन दोनों प्रकार के दार्शनिकों को यह न सूझा कि हमारी बुद्धि जिसे दोष या अपूर्णता कहती है वह पूर्णत्व का ही एक रूप हो सकता है । इनको त्यागने की आवश्यकता नहीं है बल्कि सच्चिदानंद के स्वरूप को समझने की आवश्यकता है । सांख्य तथा वेदांत की विशेषता यही है कि वे संवृति या परिवर्तनशील जगत् के भीतर स्थायी-अपरिवर्तनशील सत् को स्वीकार करते हैं, परंतु कुछ दार्शनिकों ने तो केवल संवृति या परिवर्तनशील जगत् को ही सत्य माना है, क्योंकि अपरिवर्तनशील पहलू इन्द्रियों को दिखाई नहीं पड़ता । परंतु यह उनकी अदूरदर्शिता है । सत् का नितांत अभाव या निषेध नहीं हो सकता । बिना सत् के असत् नहीं हो सकता ।* उपनिषदों ने असत् से सत् की उत्पत्ति बताई है§ किंतु वहां असत् का अर्थ अभाव या शून्य नहीं बल्कि अव्यक्त है । व्यक्त की दृष्टि से अव्यक्त असत् है । अव्यक्त सत्ता निरूप होने के कारण अतीन्द्रिय है परन्तु अज्ञेय नहीं है; उसका ज्ञान प्राप्त हो सकता है । साधारणतः व्यक्त और अव्यक्त दोनों को ब्रह्म का ही रूप कहने में विरोधाभास मालुम पड़ता है किन्तु दोनों में विरोध नहीं है । उपनिषदों ने भी तो ब्रह्म को "अणोरणीयान्महतो महीयान्" कहा है । दोनों का विरोध केवल मानसिक दृष्टि के कारण है ।† यदि हम मानसिक स्तर से ऊपर उठकर देखें तो विरोधाभास की जगह विरोधाभाव दिखाई देगा । सीमित बुद्धि सत् को काल्पनिक मानती है, इसी से जो पूर्ण की दृष्टि से तर्क-संगत है वह हमारी दृष्टि से मायाजाल मालूम पड़ता है ।‡ पूर्ण में अनेक प्रकार के संबंधों का अभाव नहीं बल्कि समन्वय है । पूर्ण की दृष्टि ज्ञान की दृष्टि है, हमारी दृष्टि अज्ञान की दृष्टि है । अतः एक-अनेक, सगुण-निर्गुण तथा तटस्थ क्रियावान् में वैसे ही विरोध नहीं है जैसे मौन तथा क्रिया में विरोध नहीं है ।

संवृति के परे जो शुद्ध सत् है वह जड़ नहीं हो सकता । क्योंकि जड़वाद या द्वैत-

* The Life Divine. P. 61

§ तै. उ. वल्ली २, अनुवाक ७

† The Life Divine. P. 74

‡ Ibid P. 298

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वाद कभी भी अंतिम सत्य नहीं हो सकता। जड़ से सृजन नहीं हो सकता। सत् का चित् होना आवश्यक है। परिवर्तनशील जगत् के पीछे शुद्ध सत् दिखाई नहीं पड़ता, किंतु उसे मानना आवश्यक होता है। उससे भी अधिक कठिन जड़ जगत् के भीतर चेतन की सत्ता स्वीकार करना मालूम पड़ता है। फिर भी जड़ में चित् का अस्तित्व है। जिस प्रकार सत् और असत् दोनों सत् के ही रूप हैं उसी प्रकार जड़ और चेतन दोनों ही चित् के रूप हैं। जड़ चित् का अभाव नहीं अभिव्यक्ति है। इतना अवश्य है कि जड़ के भीतर जो चेतन है वह मानसिक चेतन नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि चेतन सर्वदा मानसिक रूप में ही हो। चित् की एक विशेषता यह है कि वह शक्ति भी है। इस प्रकार संत् और चित् शक्ति अभिन्न ठहरती है। इस चित् शक्ति के कारण ही ब्रह्म कूटस्थ होते हुए भी क्रियावान् और क्रियावान् होते हुए भी कूटस्थ है। चित् शक्ति के तीन लक्षण हैं❀—रूप परिवर्तन, रूप परिमिति तथा आत्मलीनता। चित् शक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं है। वह एक ही समय अनेक रूप धारण कर सकती है। यही उसका रूप-परिवर्तन या वैचित्र्य है। देश-काल के भीतर अपने रूप को सीमित करना तथा व्यष्टि और समष्टि के रूप में प्रकट होना यह चित् शक्ति की रूप-परिमिति है। चित् शक्ति के इस स्वरूप से कोई विभाजन नहीं उत्पन्न होता। चित् शक्ति विभक्त होते हुए भी अविभक्त और अविभक्त होते हुए भी विभक्त है। दोनों का विरोध केवल मानसिक दृष्टि से है, पूर्ण की दृष्टि से नहीं। चित् शक्ति आत्मलीनता या आत्मसमाधि के द्वारा चैतन्य और अचैतन्य दोनों रूपों में प्रकट होती है।

श्री अरविंद ने सत् और चित् को एक मानकर भी उनके विकास को दो समानान्तर विकास–श्रृंखलाओं के रूप में प्रकट किया है। जिस प्रकार सत् या सामान्य सत्ता अपने को आत्मा, पुरुष और ईश्वर तीन रूपों में प्रकट करती है उसी प्रकार चित् शक्ति के तीन रूप माया, प्रकृति और शक्ति हैं। आत्मा–माया, पुरुष–प्रकृति तथा ईश्वर–शक्ति का योग है। माया का छेदन कर आत्मसाक्षात्कार करने से केवल व्यक्ति की मुक्ति होती है। श्री अरविंद माया को आत्मशक्ति कहते हैं। पुरुष को वे स्रष्टा और साक्षी कहते हैं। अतः पुरुष व्यक्तित्वहीन होते हुए भी व्यक्ति है और प्रकृति से पृथक् होते हुए भी प्रकृति से संबद्ध है, क्योंकि प्रकृति भी अन्ततः चेतन है। इस द्वैत में भी अद्वैत ही है और पुरुष के अनेकत्व में भी एकत्व ही है। ब्रह्म का तीसरा रूप है ईश्वर शक्ति। आत्मा माया का अधिष्ठान तथा पुरुष प्रकृति का चालक है। फिर भी इन दो रूपों में ब्रह्म का ऐश्वर्य या स्वामित्व प्रकट नहीं है। ईश्वर-शक्ति के रूप में ब्रह्म सर्वशक्तिमान है। यह ईश्वर सगुण ब्रह्म से भिन्न है, क्योंकि ईश्वर निर्गुण भी है।†

❀ Ibid P. 209–11

† The Life Divine. P. 318

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक ही सत्ता आत्मा के रूप में अधिष्ठान है, पुरुष के रूप में भोक्ता है, ईश्वर के रूप में शासक और स्वामी है।* स्पष्ट है कि श्री अरविंद की कल्पना तंत्र की शक्ति की कल्पना तथा काश्मीर के शिवाद्वैत की कल्पना से मिलती जुलती है। गीता में भी परा और अपरा प्रकृति की चर्चा आती है।‡

ब्रह्म का तीसरा पहलू है आनंद। सत्ता और शक्ति या शिवशक्ति का अभिन्नत्व दिखाकर श्री अरविन्द ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि एक से अनेक कैसे उत्पन्न होता है। अब दूसरा प्रश्न है कि सृष्टि होती ही क्यों है? पूर्ण अपूर्ण रूप धारणा क्यों करता है? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म का एक पहलू आनंद भी है। "जगत् शिव का आनन्दातिरेकी नृत्य है"।※ तैत्तरीय उपनिषद् ने स्पष्ट कहा है "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति।" जगत् के अणु अणु में आनन्द वर्तमान है। इस प्रसंग में श्री अरविन्द ने दर्शन के एक अति गंभीर प्रश्न का उत्तर दिया है। परिवर्तनशील जगत् के पीछे अपरिवर्तनशील सत्ता मानना कठिन है, फिर भी यह बुद्धिगम्य है, जड़ के भीतर चेतन की कल्पना कठिनतर है,फिर भी संभव है, किन्तु इस दुःखालय जगत् में सर्वत्र आनन्द की कल्पना तो सर्वथा असंभव और दुरूह जान पड़ती है। यदि जगत् में आनन्द ही आनन्द है तो दुःख और अनैतिकता कहाँ से है? इस समस्या का हल न तो जगत्-बाह्य ईश्वर की कल्पना से हो सकता है और न जगत् को असत्य कहने से। सर्वप्रथम हमें अपने को नैतिक दृष्टिकोण से मुक्त करना पड़ेगा, क्योंकि नैतिकता हमारी सीमित बुद्धि की कल्पना है, न कि सृष्टि का स्वरूप। सृष्टि के अनेक स्तरों में से एक नैतिक स्तर भी है।§ दूसरे, हमको यह समझना होगा कि आनन्द के इन्द्रिय सुख वा मानसिक सुख दो रूप हैं। अर्थात् मनोमय के पीछे आनंदमय छिपा हुआ है। सुख और दुख तो सापेक्ष अनुभव हैं, आनंद निरपेक्ष वस्तु है।※ जगत् आनन्दमय है, इसमें सन्देह सीमित बुद्धि के अनुभवों को अंतिम सत्य मानने से होता है। सृष्टि का एकमात्र प्रयोजन या कारण आनंदातिरेक है। जिस प्रकार सत् से जड़ तथा चित् से प्राण की उत्पत्ति है वैसे ही आनंद से चैतन्य पुरुष (Psyche) की उत्पत्ति है। इसके अतिरिक्त, हमारे भीतर जो मानसत्व है उसकी उत्पत्ति वे अतिमानस से मानते हैं, क्योंकि अतिमानस भी ब्रह्म का ही रूप है।

१ ब्रह्म का अवतरण (सृष्टि) और अतिमानसत्व

अद्वैतवादी की तरह श्री अरविंद भी सृष्टि अज्ञान से ही मानते हैं, परन्तु इनकी

* Ibid P. 322

‡ Essays on the Gita.

※ The Life Divine. P. 74

§ Ibid P. 91

※ Ibib P. 92

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अज्ञान की कल्पना सर्वथा भिन्न है। अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं वल्कि एक रूप है। ज्ञान-अज्ञान में केवल मात्रा का भेद है। सृष्टि अज्ञान के विना भी विद्यामाया द्वारा होती है; वह उच्चतर लोक की सृष्टि है। मानव लोक की सृष्टि अज्ञान या अविद्यामाया द्वारा होती है। शंकर के दर्शन में अज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, परन्तु श्री अरविंद का कहना है कि ऐसा करने से द्वैत बना रह जाता है। पूर्णाद्वैत के लिए आवश्यक है कि हम अज्ञान को दिव्य चेतना की स्वतंत्रतापूर्वक अपने को परिमित, तिरोहित तथा विभक्त करने की शक्ति समझें।§ वह शक्ति ही योग-माया या परा प्रकृति है। चेतना सर्वदा क्रियाशील होती है। चित् शक्ति का विकेन्द्रीकरण ही अज्ञान या सृष्टि है। अज्ञान का यह रूप मानने से सृष्टि के कारण ब्रह्म में कोई विकार नहीं आता। जगत् को असत्य मानने से ब्रह्म में विकार का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। ब्रह्म अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए परिवर्तनशील रूप धारण करता है। यही उसका अवतरण है। इस अवतरण के अनेक स्तर हैं जिनमें से कुछ तो मानसतत्व के ऊपर तथा कुछ नीचे हैं। जैसे मानस-तत्व के नीचे जड़ तथा जीवन तत्त्व है वैसे ही मानस तत्त्व तथा अतिमानस के बीच अनेक स्तर हैं। अवतरण की शृंखला में सबसे ऊपर अतिमानस और सबसे नीचे जड़ तत्त्व है।

श्री अरविंद के दर्शन में अतिमानस तत्व का अत्यधिक महत्व है। इसे हम सृष्टि का आदि और अन्त कह सकते हैं, क्योंकि देश-कालावच्छिन्न जगत् की सृष्टि ब्रह्म के अतिमानस रूप से ही होती है तथा विकास का अंतिम लक्ष्य अतिमानस की प्राप्ति है। सृष्टि के लिए एक विशेष प्रकार की चेतना की आवश्यकता है। इसे चयनात्मक ज्ञान शक्ति कहा गया है,† क्योंकि अतिमानस किसी नियम या सिद्धान्त के अनुसार काम करता है। यह तत्व न तो असीम शुद्ध चेतना मात्र है और न इसे अनंतमन या बुद्धि ही कहा जा सकता है। क्योंकि शुद्ध चेतना को ज्ञान नहीं कह सकते और मन या बुद्धि ज्ञान का वास्तविक साधन नहीं है। मन और अतिमानस में मौलिक भेद है; वास्तव में अतिमानस का रूप मानसिक नहीं है। अतिमानस ज्ञान है न कि ज्ञान का साधन।

श्री अरविंद की दृष्टि में सृष्टि की अन्य कल्पनाएँ त्रुटिपूर्ण हैं। रामानुज के दर्शन में परिवर्तन को सत्य माना गया है, परन्तु वह परिवर्तन ईश्वर में नहीं ईश्वर के शरीर में होता है। इस प्रकार ईश्वर को परिवर्तन से मुक्त रखा गया है। शांकर वेदांत में परिवर्तनशील जगत् को असत्य कहकर ईश्वर की पूर्णता अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न हुआ है। दोनों कल्पनाओं में ईश्वर और जगत् का संबंध असत्य है, किन्तु क्या असत्य

§ The Life Divine P. 531.

† Ibid P. 108.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संबंध से संबंधित ईश्वर सत्य हो सकता है ? श्री अरविंद ब्रह्म को तटस्थ और गतिमान दोनों मानते हैं, क्योंकि वे गति को अपूर्णता का लक्षण नहीं मानते। जगत् न तो ब्रह्म से पृथक् है और न असत्य। ईश्वर के पूर्णत्व की रक्षा के लिए ही ईसाई धर्म की कल्पना में जगत् और ईश्वर के बीच और भी अधिक भेद तथा दूरी रखी गई है। प्लेटो ने तो ईश्वर को केवल एक छपाई करने वाले कारीगर के समान माना है। ब्रैडले का ईश्वर तो स्पष्टतः सीमित चेतना है। श्री अरविंद को ये कल्पनाएँ कभी भी मान्य नहीं हो सकतीं। उनका अतिमानस स्रष्टा होते हुए ब्रह्म ही है। उसे वे कई नाम देते हैं– जैसे सत्तात्मक प्रत्यय (Real Idea), सृजनात्मक सत्य (Creative Idea), या ऋतचित्। अतिमानस ऋतचित् है क्योंकि वह सभी सत्यों, आदर्शों तथा नियमों का स्रोत है।† उसी की अन्तर्व्याप्ति से जगत् का नियमानुसार विकास होता है। ऋग्वेद का ऋतचित् यही अतिमानस तत्व है।

अतिमानस तत्व तथा स्थूल जगत् के बीच चेतना के कई स्तर हैं।‡ अर्थात् अतिमानस तत्व तत्काल नहीं बल्कि क्रमशः देशकालावच्छिन्न जगत् के रूप में प्रकट होता है। प्रथम स्तर (Poise) सर्वग्राही चेतना का वह स्तर है जहां अनेकता होते हुए भी विभाजन नहीं है। यह चेतना सर्वत्र समान है, इसका कोई केन्द्रविन्दु नहीं है। दूसरे स्तर पर चेतना प्रज्ञा का रूप धारण करती है। इसी स्तर पर पुरुष और प्रकृति का भेद प्रारंभ होता है। अखिल प्रकृति का आधार होते हुये भी पुरुष अपने को तटस्थ रखता हैं। जैसे कवि अपनी रचनाओं को अपने से बाहर देखता है वैसे ही पुरुष आत्मसृष्टि को साक्षी रूप से देखता है। इस स्तर पर चेतना असम हो जाती है, जिसके कारण जीवात्मा परमात्मा आदि का भेद आरंभ हो जाता है। तीसरा स्तर वह है जहाँ पुरुष केवल साक्षी नहीं रहता बल्कि प्रकृति की अनेकता के साथ तादात्म्य स्वीकार करता है। यही अविद्या का प्रारंभ है; इसी से पृथकत्व तथा अहंकार की उत्पत्ति है। मानसतत्व, जीवन तत्त्व तथा जड़तत्व इसी अविद्या के परिणाम हैं। ब्रह्म की अधोगति जड़तत्व से आगे नहीं होती। वहां पहुँचने के उपरांत ऊर्ध्वगति प्रारंभ हो जाती है।

सृष्टि यदि अतिमानस की अंतर्व्याप्ति है तो विकास उसकी अभिव्यक्ति। सृष्टि का जो क्रम है उसके विपरीत विकास का क्रम है।§ अतः ब्रह्म की अधोगति तथा उर्ध्वगति दोनों को ही सृष्टि कह सकते हैं। विकास का क्रम अवतक मानसतत्व तक पहुँचा है। जब तक अतिमानस का अवतरण जगत् में नहीं होता, विकास मानसतत्व

† The Life Divine P. 114

‡ Ibid P. 132

§ The Life Divine P. 759

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के ऊपर नहीं जा सकता। यह अवतरण अवतार मात्र नहीं है। अवतार धर्मसंस्थापन के लिए होता है, किन्तु उसका तात्पर्य यह भी प्रदर्शित करना है कि मानव भी ईश्वर हो सकता है। अवतार इसी का संकेत है और अतिमानस का अवतरण उसी संकेत को पूरा करता है। जगत् स्वाभाविक रूप से अतिमानस की ओर बढ़ रहा है, किन्तु किसी ने अतिमानस को नीचे उतारने का प्रयन्न नहीं किया। श्री अरविंद का योग अतिमानस को भूतल पर उतार कर नई मानवता की सृष्टि करने का साधन है।

५ विकास (ऊर्ध्वगमन)

श्री अरविंद का विकासवाद पाश्चात्य विकासवाद से पर्याप्त भिन्न है। केवल जड़तत्व से विकास नहीं हो सकता, और विकास केवल यंत्रात्मक नहीं होता। बर्गसाँ ने यंत्रात्मक विकासवाद के स्थान पर सृजनात्मक विकासवाद की कल्पना प्रस्तुत की है, किन्तु उन्होंने किसी आध्यात्मिक तत्व की अन्तर्व्याप्ति नहीं मानी है। अतः उनके दर्शन में विकास का कोई लक्ष्य नहीं जान पड़ता। हीगल ने आध्यात्मिक विकास को स्वीकार किया है. परन्तु उनके यहाँ विकास केवल मानसिक द्वन्द्वों के समन्वय तक ही सीमित है। आविर्भावात्मक विकासवाद (Emergent Evolution) ने नूतन सृष्टि के पहलू पर ज़ोर दिया है किन्तु संश्लेषण के सिद्धान्त का त्याग कर दिया है। श्री अरविंद के अनुसार विकास सृजनात्मक, संश्लेषणात्मक,आध्यात्मिक तथा उद्देश्यात्मक है। विकास ब्रह्म का है, ब्रह्म के द्वारा है और ब्रह्म के लिए है।

श्री अरविंद के अनुसार विकास की गति त्रिदिशात्मक है।† सर्वप्रथम विकास का अर्थ है अंतर्व्याप्त चिच्छक्ति का उर्ध्वगमन या पूर्णत्व की ओर अग्रसर होना। जड़तत्व से जीवनतत्व और जीवनतत्व से मानसतत्व का विकास ऊर्ध्वगमन है। ऊर्ध्वगमन या विकास का दूसरा पहलू विस्तार या व्यापकता है। व्यापकता और जटिलता का संबंध है। जड़ से अधिक जटिल जीवन तत्व और उससे भी अधिक जटिल मानसतत्व है। विकास का तीसरा पहलू है संश्लेषण। उच्चतर तत्व में निम्नतर तत्व का ग्रहण और संपरिवर्तन ही संश्लेषण है। विकास-क्रम में किसी स्तर का सर्वथा त्याग नहीं होता बल्कि परिवर्तन होता है। अतः अतिमानस के प्रादुर्भाव होने पर जड़, प्राण तथा मानस का त्याग न होगा। संश्लेषण में उच्चतर तत्व का अवतरण और निम्नतर का ऊर्ध्वगमन ये दोनों प्रक्रियायें समन्वित हैं। विकास अकेले किसी एक तत्व का नहीं होता है।

विकास समष्टि और व्यष्टि दोनों का होता है§ और दो तरह से होता है। उदाहरणार्थ व्यक्ति का विकास या सप्तविध अज्ञान से मुक्ति पुनर्जन्म के द्वारा होती है,

† The Life Divine P. 644-49
§ Ibid P. 763

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और योग या प्रयत्न के द्वारा भी। समष्टि के विषय में भी यही सत्य है। अंगुष्ठ मात्र पुरुष, जो सबके भीतर छिपा हुआ है, उसी के जाग्रत होने पर व्यापक पुरुष या ब्रह्म की प्राप्ति होती है। व्यक्ति के विकास के लिए श्री अरविंद ने तीन प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता बताई है। सर्वप्रथम जैव परिवर्तन होता है, क्योंकि जीव (Psyche) दैवी सत्ता का सर्वथा शुद्ध अंश है। यह जीव या चैत्य पुरुष ब्रह्म के आनंदांश का अप्रकट रूप है। बाह्य स्थित शरीर, प्राण तथा मानस के पीछे गुह्य स्थित चैत्य पुरुष है। चैत्य पुरुष के साथ साथ ऊपर से परमज्योति का अवतरण भी आवश्यक है। इस अवतरण के विना दिव्य जीवन स्थायी नहीं हो सकता। जैव परिवर्तन से हमारा आन्तरिक विकास होता है तो अतिमानस के अवतरण से हम ऊर्ध्वगामी होते हैं। इस ऊर्ध्वगति में कई सीढ़ियां हैं। उनका क्रम यों है— मानस के बाद उच्चतर मानस, प्रदीप्तमानस, बोधि (बुद्ध मानस) तथा अधिमानस। तीसरी या अंतिम सीढ़ी है अतिमानस की प्राप्ति। इसी से हम पूर्ण मानव हो सकते हैं, क्योंकि इस स्तर पर शरीर, प्राण तथा मन का दिव्य परिवर्तन हो जाता है। जब आनंद का अनुभव होता है तब सारी प्रकृति दिव्य मालूम पड़ती है। अतः पूर्ण मानव शंकर के जीवन्मुक्त या रामानुज के मुक्त पुरुष से भिन्न है। अतिमानस की प्राप्ति के बाद पतन असंभव है।

६. योग

श्री अरविंद की योग-विधि उनके दर्शन तथा आध्यात्मिक लक्ष्य के अनुरूप है। जैसे उनका ब्रह्म केवल शुद्ध सत्ता या शुद्ध चित् नहीं है वैसे ही उनका लक्ष्य केवल मुक्ति या सिद्धि की प्राप्ति नहीं है बल्कि पूर्णत्व की प्राप्ति है। इसी से उनके योग को पूर्ण योग, संश्लेषणात्मक योग या अतिमानस योग कहा गया है। इस योग की विशेषता यह है कि यह केवल वैयक्तिक सद्गति या मुक्ति के लिए ही नहीं है बल्कि मानवमात्र या प्रकृति मात्र के रूपान्तर के लिये है। अन्य सभी योगों की यह एक बड़ी अपूर्णता है कि उनमें संपूर्ण सृष्टि के रूपांतर का लक्ष्य सामने नहीं रखा गया है। उनमें केवल ऊर्ध्वगति है, पूर्ण योग में उर्ध्वगति के उपरान्त दिव्य चेतना को नीचे लाने का प्रयत्न होता है। साधारणतया विकास का क्रम स्वाभाविक गति से तो चल ही रहा है, योग के द्वारा उसमें योग देकर उसे तीव्रतर किया जाता है। इसी से श्री अरविंद का कहना है कि योग दिव्य के लिए है।‡ पूर्ण योग की दूसरी विशेषता यह है कि इसका लक्ष्य बंधन से मुक्ति प्राप्त करना, निर्वाण या लय या शक्ति या सिद्धि प्राप्त करना नहीं है। इसका उद्देश्य आत्मा के पूर्ण विकास या अभिव्यक्ति में योग देना है। अतः इस योग में जीवन के किसी अंश या पहलू के त्याग की बात नहीं है।† हमें जीवन के प्रत्येक स्तर

‡ Lights on Yoga P. 5

† The Synthesis of Yoga P. 26

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को पूर्ण करना है, क्योंकि प्रत्येक स्तर ब्रह्म का ही स्वरूप है। संपूर्ण जीवन ही योग है। शरीर, प्राण तथा मानस सभी का दिव्यीकरण तथा अतिमानस की प्राप्ति हमारा लक्ष्य है। इसी से इस योग को संश्लेषणात्मक कहा गया है। इस योग में व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों का, भिन्न भिन्न स्तरों का तथा व्यक्तित्व और जगत् का संश्लेषण होता है। इतना ही नहीं, इसमें अन्य सभी योगों के साधन तथा लक्ष्य का भी समन्वय है।§ पूर्ण योग दिव्य जगत् में पुनर्जन्म के समान है,* दिव्य जीवन की प्राप्ति और भोग है।

पूर्णयोग में सबसे अधिक महत्त्व आत्म-समर्पण को दिया गया है, क्योंकि इसका लक्ष्य संपरिवर्तन है, जो एक ऊंचतर शक्ति से ही हो सकता है※ अपनी शक्ति से नहीं। चित् शक्ति का आवाहन आवश्यक है। शक्ति के विना सफलता नहीं मिल सकती और उसके लिए चैत्य पुरुष को जाग्रत करना आवश्यक है। यहाँ पर पूर्ण योग और तांत्रिक साधना की समानता स्पष्ट है। दोनों में ऊपर तथा नीचे दोनों दिशाओं से शक्ति की प्रगति की वात कही गई है। दोनों में मुक्ति तथा भुक्ति का समन्वय है। परन्तु तांत्रिक साधना में इस भूतल पर अमरत्व प्राप्त कर दिव्य जीवन व्यतीत करने की वात नहीं पाई जाती है।

विकास के प्रसंग में कहा जा चुका है कि जबतक चैत्य पुरुष जाग्रत न हो तबतक हम दिव्य जीवन की ओर उन्मुख नहीं कहे जा सकते। इस जागरण के लिए सबसे प्रथम अभीप्सा की आवश्यकता है।† अभीप्सा का अर्थ न तो केवल इच्छामात्र है न अधैर्य ही, वल्कि आत्मा की एक पुकार है। इस पुकार के उठते ही मानव अधोगामी प्रवृत्तियों का त्याग कर सच्चिदानन्द के लिए उन्मुख होता है। साधन का दूसरा अंग है श्रद्धा, जिसके द्वारा मानव अपना संबंध परमतत्व से जोड़ता है तथा हृदय का द्वार खोलता है, हृदय–पद्म के खुलने पर ही प्रकाश तथा आनंद की प्राप्ति होती है। साधन के तीसरे अंग आत्मसमर्पण की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अन्य योगों में आत्मसमर्पण की बात साधन के अंत में आती है किन्तु पूर्ण योग में यह आधार–स्वरूप है। शरणागति स्वतंत्र और सचेष्ट होनी चाहिए, अर्थात् शरणागति में आनंद का अनुभव और प्रयत्न की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

पूर्णयोग में कायाशुद्धि का भी महत्व है, और कुछ हद तक हठयोग की उपयोगिता है, परंतु अधिक महत्व अष्टांग योग का है, क्योंकि उससे शरीर, प्राण, मन तीनों प्रभावित होते हैं। परन्तु इसमें शक्ति तथा शरीर, प्राण, मन के संश्लेषण का महत्व स्वीकार

§ H. Chaudhuri. Shri Aurobindo 58.

* Ibid P. 21

※ Bases of Yoga P. 118

† Lights on Yoga P. 4., Bases of Yoga P. 27

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं किया गया है और लक्ष्य केवल कैवल्य प्राप्ति है। पूर्णयोग में चक्रों का महत्व स्वीकार किया गया है, परंतु यह कहा गया है कि उद्देश्य केवल चक्रों को पार करना नहीं है बल्कि उनपर अधिकार प्राप्त कर उनका उपयोग करना है, क्योंकि पूर्णयोग का लक्ष्य दिव्य जीवन ही है। इसी प्रकार ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग के लिए भी पूर्णयोग में स्थान है,‡ परन्तु केवल साधन के रूप में, साध्य की तरह नहीं। साध्य तो अतिमानस की प्राप्ति है, जिसमें सर्वप्राप्ति है।

पूर्णयोग के अधिकारी सभी व्यक्ति हैं क्योंकि सभी को दिव्य मानवत्व या अति-पुरुषत्व प्राप्त करना है और सभी के भीतर अतिमानस तत्व काम कर रहा है। फिर भी किसी भी योग का अभ्यास या प्रारंभ करने के लिए चित्त की शांति अत्यंत आवश्यक है। अतः पूर्णयोग में भी अचंचलता, स्थिरता, शांति तथा नीरवता की आवश्यकता बताई गई है।* स्पष्ट है कि इस योग में अनेक प्रकार के बाह्य आडंबरों पर ज़ोर नहीं दिया गया है क्योंकि पूर्णयोग क्रिया मात्र ही नहीं, ज्ञान और भक्ति भी है। अन्य योगों की भाँति इसमें भी शास्त्र, उत्साह, गुरु तथा काल की महिमा है। काल की महिमा इसलिए बताना आवश्यक है कि कहीं साधक सफलता न मिलने पर अधीर होकर अश्रद्धालु न हो जाय। सफलता की चिंता छोड़कर उत्साहपूर्वक गुरु तथा शास्त्र में श्रद्धा रखते हुए योगाभ्यास करते रहना चाहिए।

६. सामाजिक तथा राजनैतिक विचार

आधुनिक ईसाई धर्म के पंडितों ने पाश्चात्य सभ्यता की असफलता पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि मानव की जो दुर्दशा आज हो रही है उसका कारण है शास्त्र का भरोसा छोड़कर एकमात्र अपनी बुद्धि-सामर्थ्य पर विश्वास करना। इसी प्रकार श्री अरविंद का भी यह कहना है कि सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं के हल के लिये जितने भी साधन आज मौजूद हैं वे सफल नहीं हो सकते क्योंकि उनका दृष्टिकोण बौद्धिक है और बुद्धि का स्वरूप ही ऐसा है कि उसके द्वारा प्रदत्त कोई भी उपाय दोषहीन नहीं हो सकता।† हमको बुद्धि या मन के ऊपर उठकर एक नई चेतना प्राप्त करनी होगी, तभी हमारी समस्याओं का स्थायी हल प्राप्त हो सकेगा। मानव ने अपने दिव्य स्वरूप को भूलकर मानवत्व को ही विकास की सबसे ऊँची शृंखला मान लिया है। यही नहीं, वह अपने को प्रकृति के बाहर अलग भी मान बैठा है, उसका ईश्वर भी प्रकृति के बाहर ही रहने वाला है। आवश्यकता इस बात की है कि हम जगत् के एकत्व को समझें और केवल मनुष्य ही नहीं सम्पूर्ण प्रकृति के दिव्यीकरण के लिए प्रयत्न करें।

‡ Synthesis of Yoga Ch. III.

* Bases of Yoga, P. 16-18.

† The Human Cycle, P. 136.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तभी मनुष्य मनुष्य का द्वंद्व, मनुष्य-प्रकृति का द्वंद्व तथा मनुष्य की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों का द्वंद्व मिट सकेगा। आजकल के उपलब्ध धर्म मनुष्य के अन्तर्द्वंद्व को नहीं मिटा पाते, क्योंकि उनमें आध्यात्मिक और सांसारिक का द्वंद्व वर्तमान है। आजकल की सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्थाएँ चाहे जनतांत्रिक हों या एकतांत्रिक, चाहे समाजवादी हों या वर्गवादी, मनुष्य मनुष्य का कलह नहीं मिटा पातीं, क्योंकि उनका आधार आध्यात्मिक एकता नहीं है। यांत्रिक साधनों से मनुष्य प्रकृति पर अधिकार नहीं कर पाता, क्योंकि उनमें प्रकृति को अदैवी और पृथक् मानने की प्रवृत्ति है। द्वंद्वों को मिटाने के लिए अखिल जगत् को ब्रह्म का स्वरूप मानकर नई चेतना के अवतरण के लिए प्रयत्न करना होगा।

आजकल जगत् में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ कार्य करती हुई पाई जाती हैं। एक तरफ एकत्व की प्रवृत्ति और दूसरी तरफ भेद और कलह की प्रवृत्ति। दोनों विकास के लक्षण हैं। भेद की प्रवृत्ति यदि नई जागृति की प्रसव वेदना है तो एकत्व की प्रवृत्ति जागृति का स्वरूप ही है। शीघ्र ही अतिमानव या दिव्य मानव का जन्म होने वाला है। शीघ्र ही हमारा जीवन दिव्य होगा। उस समय विज्ञान, कला तथा राजनीति का स्वरूप बदल जायगा। वे सभी दिव्य जीवन के साधन हो जाँयगे।‡ अतिमानस के अवतरण से शरीर, प्राण तथा मन का परिवर्तन होगा तथा सभी व्यक्ति एकत्व तथा आनन्द का अनुभव करेंगे। श्री अरविंद की यही रामराज्य की कल्पना है।

श्री अरविंद राष्ट्रीयतावादी हैं, किंतु उनकी राष्ट्रीयता मानव मात्र के लिए है। भारत उनके लिए एक चिन्मय तत्व है। यहीं से दिव्य जीवन का संदेश चतुर्दिक फैलेगा। अतः भारत का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय है। श्री अरविंद हर प्रकार की स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं, क्योंकि दिव्य-जीवन का विकास स्वतंत्रता के वातावरण में ही हो सकता है।§ व्यक्ति-स्वातंत्र्य और राष्ट्र-स्वातंत्र्य दोनों की आवश्यकता है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म की अभिव्यक्ति है वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र और समाज भी। श्री अरविंद अन्तर्राष्ट्रीय शासन के पक्षपाती नहीं हैं, स्वतंत्र सहयोग उनका आदर्श है।

८. शिक्षा सिद्धान्त※

आज की दुनियाँ भौतिक सुख के लिए दुखी है। इसी से समाज का महत्व व्यक्ति से अधिक हो गया है। आज की शिक्षा का उद्देश्य अच्छे नागरिक और कुशल वैज्ञानिक बनाने का है। उन्नति या भविष्य का अर्थ केवल भौतिक सुख-साधन की

‡ The Human Cycle, P. 282.

§ Ibid, P. 319.

※ See Education and the Aim of Human Life by P. B, Saint, Pondicherry 1961.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्राप्ति ही है। इसी से हमारे सभी उपाय या योजनाएँ असफल हो रही हैं। श्री अरविंद के अनुसार आज इस बात की आवश्यकता है कि हम व्यक्ति के महत्व को स्वीकार करें तथा उसके सामने भविष्य का एक स्पष्ट चित्र रखें। विविध धर्मों ने मनुष्य को भूतकाल की ओर प्रेरने की चेष्टा की है; उनका ध्यान जगत् की ओर नहीं वल्कि जगत् के कारण की ओर रहा है। मानव आजतक केवल ईश्वर या पूर्ण की उपासना करता था, अब उसे पूर्ण होने की अभिलाषा है। जनतंत्रवाद या एकतंत्रवाद एक पूर्ण समाज की कल्पना तो करते हैं परंतु उनके सामने पूर्ण मानव की कल्पना नहीं है। बिना पूर्ण मानव के पूर्ण समाज कैसे वन सकता है? पूर्ण मानव का जो आदर्श प्रकृति में विकास की प्रेरणा कर रहा है वही आदर्श आज हमें शिक्षा में अपनाना है। अतिमानस के अवतरण द्वारा शरीर, प्राण तथा मन सभी को दिव्य वनाना है, एक नई चेतना की प्राप्ति करनी है। केवल स्वस्थ शरीर, पर्याप्त शक्ति तथा विलक्षण मेधा की प्राप्ति मात्र से काम न चलेगा।§ हमको अपना आदर्श आध्यात्मिक वनाना होगा।

पूर्णयोग की तरह शिक्षा भी पूर्ण-शिक्षा होगी। अर्थात् शिक्षा केवल ज्ञान की प्राप्ति या कला का अभ्यास मात्र नहीं है; पूरे व्यक्तित्व का विकास शिक्षा का उद्देश्य है।† व्यक्ति केवल शरीर, प्राण या मन मात्र नहीं है। व्यक्ति-वैचित्र्य के सत्य को स्वीकार कर शिक्षा का वातावरण स्वतंत्रता का वातावरण होना चाहिए। श्री अरविंद का कहना तो यहां तक है कि वास्तविक शिक्षा का आधार यह है कि उसमें कोई शिक्षा लादी न जाय। व्यक्ति एक कली के समान है। उसे पुष्पित होने का वातावरण मिलना चाहिए; उसे न तो नियमों में जकड़ना है, न उस पर ज्ञान का बोझ लादना है। शिक्षक और शिक्षार्थी का संबंध आगे-पीछे चलते हुए यात्रियों के समान है। स्वतंत्रता या स्वाभाविकता के अतिरिक्त शिक्षा में व्यापकता होनी चाहिए। प्रत्येक साधन का आधार शरीर है, अतः इसे स्वस्थ, सुन्दर तथा सुयोग्य बनाना चाहिए। प्राण-शक्ति का उचित दिशा में निर्देशन करके चरित्र का निर्माण होना चाहिए। इसके लिए प्रत्यक्ष, दृष्टांत, स्वाध्याय तथा सत्संग की आवश्यकता है। बौद्धिक का अर्थ केवल ज्ञानार्जन ही नहीं है वल्कि बुद्धि को सुसंस्कृत बनाना भी है। इस प्रसंग में श्री अरविंद ने दक्षिणांगी तथा वामांगी गुणों की चर्चा की है। रचना तथा संश्लेषण दक्षिणांगी गुण हैं, विश्लेषण तथा स्वतंत्रता के साथ साथ शिक्षा में समन्वय भी होना चहिए। समन्वय किसी उद्देश्य के आधार पर होता है। हमारा उद्देश्य चैत्य पुरुष को जाग्रत करना है। इस गुह्य आत्मा को प्रकाश में लाने की चेष्टा का अभाव आज की शिक्षा का

§ The Human Cycle, P. 266.
† Ibid, P. 36-37.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

महान दोष है।‡ चैत्य पुरुष के जागरण से ही व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण होगा।

९. काव्य तथा सौन्दर्य-सिद्धान्त

श्री अरविंद तथा श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर दोनों कवियों ने अपने कवि-हृदय के द्वारा भारतीय संस्कृति के गुह्य तथा गहरे तत्वों को समझा तथा व्यक्त किया है। सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए काव्य और कला का माध्यम सफल जान पड़ता है, क्योंकि काव्य तथा कला में अनेकता में एकता देखने की प्रवृत्ति है। दर्शन तथा विज्ञान द्वारा स्थापित एकता कृत्रिम होती है, परंतु काव्य तथा कला में अनुभूत एकता सहज है। किंतु ऐसा तव होता है जब काव्य तथा कला में हमारा दृष्टिकोण दिव्यानुभूति का होता है।† सच्ची कविता सदा दिव्य की ओर संकेत करती है। काव्य और कला अपने आप दिव्य नहीं हो जाते, उनको दिव्य वनाना पड़ता है। केवल वाह्य या मानसिक जगत् का चित्र खींचने से कला या काव्य दिव्य नहीं हो सकते वल्कि वाह्यावरण के पीछे सत्यं,शिवं सुंदरं के दिग्दर्शन कराने से होते हैं।§ इस प्रकार सच्ची कविता या कला दिव्य तत्व की झांकी है। कला की सवसे वड़ी विशेषता यह है कि उसके लिए कोई वस्तु हेय नहीं है, उसमें सवका समन्वय और संश्लेषण होता है। यही पूर्णत्व का स्वरूप है। कला या कविता सदा सांकेतिक होती है। किसी भी माध्यम से परतत्व को अक्षरशः नहीं प्रकट कर सकते। रहस्य तक पहुँचते ही भाषा सांकेतिक हो जाती है। सांकेतिक भाषा के इस असाधारण सामर्थ्य के उपयोग का ही नाम कला या काव्य है। श्री अरविंद ने स्वयं कविता का एक महान दृष्टांत हमारे सामने रखा है। उनका महाकाव्य "सावित्री" मानव के अमरत्व की प्राप्ति की अमर इच्छा को सांकेतिक भाषा में व्यक्त करता है।

१०. मूल्यांकन

श्री अरविंद के दर्शन तथा योग में अनेक परंपराओं का योग मिलता है, फिर भी उनको संकलयिता (Eclectic) मात्र कहना ठीक नहीं है। दर्शन के क्षेत्र में श्री अरविंद उस मौलिकता का दावा नहीं करते जो अपने योग के विषय में करते हैं, फिर भी उनके दर्शन में जो विभिन्न विचारों का संश्लेषण है वह उनका अपना है। उनके दर्शन का आधार केवल वेद, उपनिषद् तथा गीता ही नहीं वल्कि उनका अपना अनुभव भी है। अतिमानस की कल्पना, जिसे उनके योग तथा दर्शन का स्तम्भ कहते

‡ The Human Cycle P. 36 "......the evocation of this real man within is the right object of education and indeed of all human life.

§ The Human Cycle P. 266.

† Ibid P. 36-37.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं, स्वयं श्री अरविंद के अनुसार वेद में मिलती है। कुछ लोग तो श्री अरविंद के योग में भी कोई नवीनता नहीं देखते,† क्योंकि उनके अवतरण की तथा संश्लेषणात्मक दिव्यीकरण की कल्पनाएँ पुरानी मालूम पड़ती हैं। श्री अरविंद के योग के अंगों पर अलग अलग विचार किया जाय तो संभवतः उसमें दो बातों को छोड़कर अन्य कोई नवीनता न मिलेगी। प्रथम तो यह कि योग का उद्देश्य शरीर, प्राण तथा मन से मुक्ति पाना नहीं है बल्कि उनका रूपांतर करना है। इसीसे उन्होंने शारीरिक अमरत्व की भी बात कही है। दूसरी विशेषता है अतिमानव की उत्पत्ति का प्रयास, अर्थात् योग का संबंध विकास की प्रक्रिया से करना। अतिमानस की कल्पना पुरानी है, फिर भी श्री अरविंद की कल्पना में नवीनता है।

पूर्णाद्वैतवाद तथा पूर्णयोग के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। श्री अरविंद के अनुयायियों की संख्या बढ़ रही है। इसका कारण संभवतः यह है कि आजकल का मानव विशेष रूप से प्रवृत्ति मार्गी है। उसे विज्ञानवाद तथा विकासवाद प्रिय हैं। वेदान्त के साथ इन सब प्रवृत्तियों का पुट देकर श्री अरविंद ने आधुनिक मानव को मनचाही वस्तु दी है। निग्रह और निवृत्ति पर विशेष ज़ोर न देने से प्रवृत्तिमार्गी पाश्चात्यों के रास्ते से भी कठिनाई दूर हो गई है। श्री अरविंद ने अनंत की मुक्ति के सिद्धान्त द्वारा बौद्धिक आलोचना का द्वार बंद कर दिया है। फिर भी यदि उनके दर्शन को केवल श्रद्धा-ग्राह्य न बनाकर बुद्धि-ग्राह्य बनाना है तो बौद्धिक दृष्टि से विचार करना ही होगा।

विकासवाद का सिद्धान्त एक विवादास्पद सिद्धान्त है। इसे श्री अरविंद ने निर्विवाद मान लिया है। संभवतः विकासवाद की रक्षा के लिये ही ब्रह्म को परिवर्तन-शील कहा गया है और परिवर्तनशील ब्रह्म की कल्पना को सुदृढ़ करने के लिए मायावाद की आलोचना की गई है। परंतु मायावाद का खण्डन वास्तव में एक प्रकार का मता-ग्रह मालूम पड़ता है। उसका सारांश यही है कि मायावाद से हमको संतोष नहीं है, क्योंकि सृष्टि का सप्रयोजन होना आवश्यक है। परन्तु सत्य के अनुसंधान में अपनी इच्छा का आरोपण नहीं होना चाहिए। सच्चिदानंद में सभी वस्तुओं का समावेश करने से संभवतः कुछ लोगों के लिए सच्चिदानंद अधिक आकर्षक बन जाय, परंतु सबके लिए ऐसा नहीं होता। श्री अरविंद की पूर्णता की कल्पना भी उनकी स्वमतासक्ति ही जान पड़ती है। श्री अरविंद का कहना है कि उनके दर्शन का विवेचन तर्क के आधार पर नहीं बल्कि आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर होना चाहिए। ऐसा करने से तो एक विकट स्थिति उत्पन्न हो जायगी, क्योंकि जगत् के अनेक सिद्ध अपने अनुभव को अनेक रूप में रखते हैं। श्री अरविंद के अनुसार पूर्णत्व की प्राप्ति एक प्रकार का परिवर्तन है।

† The Integral Philosophy of Sri Aurobindo. Ed. H. Chaudhuri and Frederic Spiegelberg. Pitirim A. Sorokin, P. 206, footnote 2.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परंतु जो कुछ परिवर्तन का परिणाम है वह परिवर्तनशील या क्षणिक होता है,स्थायी नहीं। यदि ब्रह्म का स्वरूप ही परिवर्तनशील है तो क्या निश्चय है कि अतिमानस की प्राप्ति के बाद अवतरण या बंधन की पुनरावृत्ति न होगी ? शांकर वेदान्त में पुनरावृत्ति की संभावना इसलिए नहीं है कि ज्ञान द्वारा अज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है, परंतु श्री अरविंद के दर्शन में यह बात नहीं है। शारीरिक अमरत्व की प्राप्ति तथा अतिमानव की उत्पत्ति के सिद्धान्त ऐसे हैं जिनके लिए पूर्ण प्रमाण नहीं मिलते। जबतक हमको उनकी प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक वे कल्पना के ही विषय रहेंगे। अद्वैत वेदांत की यह विशेषता कि ब्रह्म की प्राप्ति यहीं और इसी जीवन काल में हो सकती है, श्री अरविंद के दर्शन में नहीं पाई जाती क्योंकि अबतक न तो शारीरिक अमरत्व का दृष्टांत मिलता है और न अतिमानव का। संभवतः श्री अरविंद के दर्शन की सत्यता तर्क से नहीं, काल-क्रम में ही सिद्ध हो सकती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

VII

गान्धी दर्शन

सुरेन्द्र बार्लिंगे

विश्व के युग प्रवर्तक महापुरुषों में गांधी जी की गणना की जाती है। भारतीय क्रांति में अहिंसा का यशस्वी प्रयोग करके उन्होंने विश्व के इतिहास में एक नयी आशा की ज्योति जगायी है। "गांधी दर्शन" सामान्य अर्थ में तत्वज्ञान प्रणाली नहीं है, जैसाकि यथार्थवाद अथवा विज्ञानवाद है। कतिपय गांधीवादी इसे एक जीवन मार्ग (way of life) समझते हैं, क्योंकि गाँधी जी का जीवन विकासशील प्रयोग ही था। इस प्रयोग में तत्वों की अनेक वार परीक्षा हुई और इस मंथन से कुछ नवीन तत्व धीरे धीरे विकसित हुए। प्राचीन तत्वों को नया मूल्य दिया गया। पुराने तत्वों को नया अर्थ देकर ही गांधी जी ने उसे एक नवीन दर्शन के रूप में संसार के समक्ष रखा।

दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर भी गांधी दर्शन सांख्य, न्याय, अद्वैत, शून्यवाद अथवा विकासवाद के समान तत्वज्ञान नहीं है। सामान्य अर्थ से दर्शन में "विश्व का सत्य स्वरूप क्या है" इसका विवरण आता है। यद्यपि भारतीय दर्शनों का साध्य मोक्ष है, तथापि वह मोक्ष के साधन–संसार–के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही है। अतः दर्शन-शास्त्र में प्रायः विश्व के मूल स्वरूप का ही विवेचन आता है। लेकिन गांधी–दर्शन में विश्व के मूल स्वरूप पर विचार नहीं हुआ है। यद्यपि गांधी जी ने सत्य एवं ईश्वर तथा जीव–ब्रह्म ऐक्य इत्यादि पर विचार किया है,तथापि इन तत्वों की खोज करना उनका साध्य नहीं है। गांधी जी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। पदार्थ-निर्णय के लिए 'अंतःकरण प्रवृत्ति' (Intuition) उनका सबसे बड़ा साधन था। अतः सभी धर्मों में उन्हें जो अच्छा लगा, उनकी सत्यासत्य विवेक-बुद्धि को जो जँचा, उस को उन्होंने स्वीकार किया। इस प्रकार स्वीकार करते समय पुराने विचारों का कुछ नया संस्करण करके उन्होंने उसे नया अर्थ दिया। एक ही वस्तु अनेक दृष्टिकोणों से देखी जा सकती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अतः किसी भी मनुष्य को अपनी बुद्धि के द्वार बंद नहीं करने चाहिएं, यह उनकी शास्त्रीय दृष्टि थी। यद्यपि वे जैन नहीं थे तथापि उन पर जैन धर्म के तत्वों का प्रभाव पड़ा है। वे जैन लाजिक के 'स्याद्वाद' तथा 'अनेकांतवाद' से भी बहुत प्रभावित हुए हैं। उन्होंने प्रायः सभी दर्शनों से अच्छे एवं महत्वपूर्ण तत्व ग्रहण किये और उन्हीं तत्वों की भूमि पर अपने दर्शन की नींव डाली।

गांधी जी स्वयं लिखते हैं—"मैं अद्वैतवादी हूँ फिर भी मैं द्वैत का समर्थन कर सकता हूँ। यह विश्व प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है अतः असत्य है और उसका कोई चिरंतन अस्तित्व नहीं है। परंतु वह निरंतन परिवर्तनशील होने पर भी उसमें कुछ एक ऐसा स्थायी तत्व विद्यमान है जिसके कारण उसी मात्रा में वह सत्य भी है। अतः उसे सत्य और असत्य कहने में, और इस प्रकार अनेकांतवादी या स्याद्वादी कहलवाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किंतु मेरा स्याद्वाद विद्वानों के स्याद्वाद जैसा न होकर नितांत मेरा अपना ही है। मैं उनसे वाद-विवाद करना नहीं चाहता। यह मेरा अनुभव रहा है कि मैं सदा अपने दृष्टिकोण के अनुसार सत्य हूँ और मेरे ईमानदार आलोचकों की दृष्टि में गलत भी। मैं जानता हूं कि हम दोनों अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार ठीक हैं। और यह ज्ञान मुझे अपने प्रति-द्वंदियों या आलोचकों पर कुछ न कुछ आक्षेप आरोपित करने से बचाता है। वे सात अंधे, जिन्होंने हाथी का भिन्न-भिन्न रूप में वर्णन किया था, अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार ठीक थे और एक दूसरे की दृष्टि में गलत, तथा हाथी को जानने वाले मनुष्य की दृष्टि में ठीक भी थे और गलत भी। इस सत्य की विविधता के सिद्धान्त को मैं बहुत अधिक पसंद करता हूँ। इसी सिद्धान्त ने मुझे मुसलमानों और ईसाइयों को उन्हीं के दृष्टिकोणों से मूल्यांकन करना सिखाया है। इसके पूर्व मैं अपने प्रतिद्वंदियों के अज्ञान पर चिढ़ा करता था। आज मैं उनसे इसलिए प्रेम कर सकता हूं कि मुझे उस अंतर्दृष्टि का वरदान प्राप्त हुआ है जिससे मैं अपने को दूसरों की दृष्टि से देख सकता हूँ और दूसरों को अपनी दृष्टि से। मैं संपूर्ण विश्व को अपने प्रेमालिंगन में समेटना चाहता हूं। मेरा अनेकांतवाद सत्य और अहिंसा के द्विविध सिद्धान्त का परिणाम है।"

(यंग इंडिया २२-२-२६)

उपर्युक्त उद्धरण से निष्कर्ष निकलता है कि महात्मा गांधी जी ने सभी भारतीय दर्शनों के मूलतत्वों को समझकर अपने जीवन में चरितार्थ करने का सफल प्रयत्न किया था। अतः गांधी जी का दर्शन सच्चे अर्थ में एक जीवन-मार्ग था। उनका दर्शन इसी कारण जीवन से संबंधित एवं सामाजिक है। यद्यपि गांधी जी "ईश्वर", "सत्य" आदि दार्शनिक शब्दों का प्रयोग करते थे तथापि उनका उद्देश्य एक नये समाज का निर्माण करना था; और जिस को गांधी दर्शन कहते हैं या, कह सकते हैं, वह नये समाज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के निर्माण का ही सैद्धान्तिक स्वरूप है।

गांधी जी के इस सामाजिक दर्शन के सिद्धान्त ये हैं—१) अपने अतिरिक्त अन्य व्यक्ति का अस्तित्व मानना, और २) जो व्यक्ति अस्तित्व में हैं उन सभी को समान समझना। यदि प्रथम तत्व को स्वीकार न किया जाय तो सामाजिक तत्वज्ञान का निर्माण ही नहीं हो सकता, अथवा यदि निर्माण होता भी है तो वह केवल स्वार्थस्वात्म-वादी ही हो सकता है। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाय तो सामान्य-तत्वज्ञान की एक ही परिणति हो सकती है और वह है तानाशाही (Dictatorship)। ऐसे तत्वज्ञान में सच्चे प्रजातंत्र (Democracy) को कोई स्थान हो नहीं सकता। जिसके हाथ में अधिक बल होगा वही समाज का शासक बनेगा। अतः यदि न्याय और नैतिकता के आधार पर समाज की रचना करनी है तो इन दोनों ही तत्वों का सुखद-समन्वय (Blending) होना आवश्यक है। गांधी जी के दर्शन के लिए एक से अधिक व्यक्ति का अस्तित्व तथा सभी व्यक्तियों की समानता (उच्च-नीच भाव का अभाव) एक बुनियादी अभ्युपगम (Hypothesis) है। अद्वैत दर्शन से और वैष्णव दर्शन से उन्होंने इस तत्व को स्वीकार किया। किंतु यदि वे केवल एक ही दर्शन को लेकर चलते तो सामाजिक तत्वज्ञान का यह सुंदर समन्वय उपस्थित नहीं हो पाता। गुजरात के संत श्री नरसो दास का "वैष्णव जनतो तेने कहिये" गांधी जी का बड़ा प्यारा भजन था। गांधी जी के तत्व दर्शन का असली स्वरूप इस भजन से दिखायी देता है। यह भजन वैष्णव जन की परिभाषा है। इसकी प्रथम पंक्ति सैद्धांतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है—"वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीड़ पराई जाणे रे"—जो दूसरे मनुष्य का दुख जानता है, वही वैष्णव जन है। अपना दुख तो सभी जानते हैं, वैष्णव जन का कर्तव्य तो दूसरे को भी मनुष्य समझना और उसे अपने समान मानना है। यह केवल वैष्णव जन का ही कर्त्तव्य नहीं अपितु सामाजिक दर्शन की सारी नींव ही इस पर आधारित है। अद्वैत में भी सकल संसार को आत्म-स्वरूप माना गया है। "अहं ब्रह्मोस्मि" और "सर्वं खलु इदम् ब्रह्म' यह तो अद्वैतवाद के महावाक्य हैं।" अपनी आत्मा की मर्यादा बढ़ाते बढ़ाते उसमें सारा संसार अंतर्भूत करना, यही अद्वैत-वाद की शिक्षा है"। समाज में भी हमें यही दिखाई देता है। यहाँ मनुष्य की दृष्टि व्यापक होने लगती है। वह अपनी स्त्री, अपना कुटुंब, अपनी जाति, अपना देश—इन सब को भी अपनी आत्मा में अंतर्भूत कर लेता है।" उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुंबकं", इसी स्थिति को श्रीमद्भागवत् गीता में "ब्राह्मी स्थिति" कहा गया है, और यद्यपि यह आत्मा की अवस्था मानी गयी है तथापि मनुष्य को यह अवस्था जब प्राप्त होती है तब वह "निर्मम" और "निरहंकार" हो जाता है। "अपने और दूसरे के बीच कोई भी भेद नहीं" यह समझने के लिए अद्वैत का यह सिद्धान्त अत्यंत आवश्यक है। किंतु इसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साथ ही यदि अन्य आत्मा का अस्तित्व नहीं माना गया तो आत्मवाद का विपर्यास भी हो सकता है। जैसाकि पंचतंत्र की एक कहानी में कहा गया है—आपदर्थम् धनं रक्षेत् दारान् रक्षेत् धनैरपि, आत्मानं सततम् रक्षेत् दारैरपि धनैरपि।

अतः सामाजिक तत्वज्ञान के लिए अपने अतिरिक्त अन्य व्यक्ति का अस्तित्व मानना और सभी व्यक्तियों को समान समझना अत्यंत आवश्यक है। पाश्चात्य उपयोगितावादी (Utilitarian) दर्शनकारों ने भी यही सिद्धान्त माना है: "Every one to count for one and no one for more than one" यह तो बेंथम के नीतिशास्त्र का मूल सिद्धान्त है। फिर भी गांधी जी के दृष्टिकोण में और उपयोगितावादी (Utilitarian) दार्शनिकों के सिद्धान्त में भेद है। गांधी जी का सामाजिक दर्शन सब की भलाई चाहता है। "सर्वेऽपि सुखिनः संतु" यह गांधी जी के तत्वज्ञान की जड़ है, किंतु उपयोगितावादी दार्शनिक के दृष्टिकोण से अधिकाधिक लोगों की अधिकाधिक भलाई ही अंतिम उद्देश्य है। अतः स्वयं गांधी जी लिखते हैं, "कोई भी अहिंसावादी उपयोगितावादी दार्शनिकों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकता।" (यंग इंडिया ९-१२-२६) अर्थात् "बहुत बातों पर अहिंसावादी और उपयोगितावादी (Utilitarian) सहमत हो सकते हैं, किंतु ऐसा भी एक समय आता है जब केवल इनके कार्य की दिशा ही भिन्न नहीं होती है वरन् परस्पर विरोधी भी होती है। सच्चा उपयोगितावादी (Utilitarian) समाज के लिए कभी की आत्मार्पण नहीं कर सकता (किंतु समाज के लिए आत्मार्पण करना अहिंसावादी का ध्येय है)।" (यंग इंडिया ९–१२–२६)।

ऐसे सामाजिक दर्शन के लिए गांधी जी ने "सर्वोदय" नाम सुझाया है। 'सर्वोदय' में समाज के सभी वर्गों (Sections) का उदय अभिप्रेत है। गांधी जी पर रस्किन के Unto this lost नामक ग्रंथ का बहुत प्रभाव पड़ा। उसके सिद्धान्त को उन्होंने इस रूप में ग्रहण किया—

१) प्रत्येक व्यक्ति की भलाई सबकी भलाई में है।
२) कोई भी काम कभी दूसरों से अधिक मूल्यवान् नहीं होता। वकील के काम का वही मूल्य है जोकि नापित के काम का है। कारण, दोनों को ही अपने कार्य से जीवन व्यतीत करने का अधिकार है।
३) श्रम–व्यस्त जीवन, जैसाकि किसान और कर्मकार बिताते हैं, अधिक मूल्यवान् है।

"(रस्किन का) पहला सिद्धान्त मैंने पहले ही अपनाया था। दूसरा भी मैंने थोड़ी बहुत मात्रा में समझा था। किन्तु तीसरा तो मुझे कभी सूझा ही नहीं। दूसरा और तीसरा पहले सिद्धान्त में ही अंतर्भुत हैं, यह मुझको "Unto this lost" पढ़ने पर सूझा।" (आत्मचरित, अध्याय १८)

'Unto this lost' का प्रथम सिद्धांत, जो गांधी जी को प्रथम ही ज्ञात था,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

गांधी जी ने भारतीय दर्शनों से ही प्राप्त किया था, जैसाकि मैंने ऊपर लिखा है और जैसाकि, गांधी जी ने स्वयं लिखा है। इसी सिद्धान्त से उनका सारा सामाजिक तत्वज्ञान निर्धारित होता है।

गांधी जी और उनके सहकारियों ने इस तत्वज्ञान पर विचार करके उसे जीवन में लाने का प्रयत्न किया। उन के तत्वज्ञान का जैसा तात्विक अंग है वैसा ही आर्थिक और शिक्षणात्मक अंग भी है। यह प्रणाली केवल विचार प्रणाली ही नहीं है। बल्कि नव समाज का 'क्रमशिक्षण' (Discipline) होने के कारण इस में समाज के केवल धारणात्मक नियामक सिद्धान्त का ही नहीं अपितु ध्येयात्मक सिद्धांत (Normative Principle) तथा साधन पर भी विचार हुआ है। इस छोटे से लेख में इन सभी अंग एवं उपांगों का विवरण प्रस्तुत करना असाध्य है। इसलिए गांधी जी ने अपने दर्शन के विचार–दोहन से जो एकादशव्रत का विधान किया है उस से कुछ सिद्धान्तों पर इस लेख में विचार किया जायगा। गांधी जी के एकादश व्रत में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता निवारण, शारीरिक श्रम,सर्व-धर्म समभाव और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग आधारभूत हैं। किंचित् विचार के बाद ही इसका पता चलता है कि गांधी जी की विचारधारा का मूलतत्व "खुद की भलाई सब की भलाई में है" या और इसी का अधिक विस्तृत स्वरूप यह एकादशव्रत है। स्वयं गांधी जी ने कहा है कि "शारीरिक श्रम का तत्व प्रथम तत्व में ही अंतर्भूत है।" इस एकादशव्रत के सभी व्रत एक भूमि (Leval) पर नहीं हैं। सत्य और अहिंसा ही इस व्रत के चरम तत्व हैं। चूंकि सत्य और अहिंसा से ही बाकी सब व्रत उद्भूत हैं और उन्हीं तक सीमित हैं अतः सर्व प्रथम सत्य और अहिंसा पर ही विचार करना हमारे लिए आवश्यक है।

सत्य

गांधी–दर्शन में सत्य और सत्याग्रह इन दो शब्दों का प्रयोग बार बार हुआ है। अतः इन दो शब्दों को पृथक् पृथक् समझना आवश्यक है। सत्याग्रह धर्म है, (Prescribed action), और सत्य, यह तत्व. यानी संसार का स्वरूप, है। गांधी जी के भी ठीक यही विचार थे, ऐसा मुझे लगता है। सत्य प्रथम श्रेणी में और सत्याग्रह दूसरी श्रेणी में साधन रूप से आता है। कोई चीज केवल "है" इसलिए वह अच्छी या बुरी भी है, ऐसा तो हो नहीं सकता। किसी भी अस्तित्ववादी सिद्धांत से कोई भी नैतिक मूल्य वाला सिद्धान्त नहीं निकल सकता। इस दृष्टि से सत्य से अस्तित्व का बोध होता है और सत्याग्रह मूल्य का बोध कराने का साधन है।

यदि सत्याग्रह के नैतिक मूल्य का प्रश्न उठाया जाय तो उसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है, कि सत्य स्वयं मूल्यवान् है और सत्य को समझना धर्म है। यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्थिति वास्तव में प्राकृतिकतावादी नीति-शास्त्र (Naturalistic ethics) की है। इस प्राकृतिकतावादी नीतिशास्त्र को हटा कर मार्ग नहीं निकल सकता हो, ऐसा नहीं। जो सत्य है वह केवल सत्य है, इसलिए मूल्यवान् नहीं होगा। फिर भी जो सत्य है वह मूलयवान् हो सकता है; और वह मूलयवान् है या नहीं यह जानने के लिए आंतरिक प्रेरणा (Intuition) अथवा अन्य कोई कसौटी हो सकती है। बहुधा असत्य वस्तु मूल्यवान् नहीं हो सकती, यह गांधी जी की मान्यता थी; और इसी से केवल सत्य ही मूलयवान् हो सकता है, ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है। किंतु इस प्रकार प्राकृतिकतावादी नीतिशास्त्र को हटाकर ध्येयवादी नीतिशास्त्र बनाना उन के मन में स्पष्ट रूप से था, यह समझना कठिन है। इसी सम्प्रदाय पर निर्भर होकर गांधी जी सत्यं, शिवं एवं सुदरं में अभेद मानते थे, ऐसा समझना ही उचित होगा। संसार की वास्तविक स्थिति—उसका सत्स्वरूप हो—मूल्यवान् है। अतः मुमुक्षु मनुष्य को ब्रह्म को अथवा सत्य को जानने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इसी में अद्वैत की भी शिक्षा निहित है। प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों का यही संदेश है। 'विकृत', यही 'बुराई' का दूसरा नाम हो गया। 'प्राकृतिक स्थिति' और 'अच्छी स्थिति' यह तो समान अर्थ वाले शब्द बन गये हैं। बहुधा इसी कारण 'सत्' अथवा 'ब्रह्म' न केवल संसार के प्राकृतिक स्वरूप का बोध कराते हैं वरन् कारक अथवा मोक्ष के वाचक भी हैं। इसीलिए स्वातंत्र्य, समता एवं बंधु भाव को लेकर चलने वाले तत्वचिंतकों ने प्रकृति की ओर मुड़ो (Back to nature) का नारा भी लगाया था। प्रकृति की, संसार की, मूल अवस्था में स्वातंत्र्य, समता एवं बंधु भाव है ही, फिर भी मनुष्य निर्मित विकृति के कारण ही समाज में विषमता उत्पन्न होती है; अतः प्राकृतिक स्थिति न केवल सत्य की वाचक है बल्कि आकांक्षणीय भी है। इस प्रकार की गांधी जी की भी मनःप्रक्रिया थी, ऐसा मुझे लगता है।

गांधी जी के विचार में, इस संसार की सारी वस्तुएँ ईश्वर द्वारा निर्मित हैं, जैसाकि ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया है— 'ईशावास्यं इदं सर्वम् यत् किञ्चित् जगत्यां जगत्"। गांधी जी का ईश्वर तो दरिद्रनारायण है। अतः अर्थ-विकास से दुनियां की सारी संपत्ति समाज की है। दुनियां की सभी संपत्ति समाज की है, यह सत्य है। दुनियां की सारी संपत्ति समाज की होनी चाहिए, यह उसका मूल्यात्मक तत्व है। अतः यदि इस सत्य को (या मूल्यात्मक तत्व को) ठुकराया गया है तो प्राकृतिक स्थिति को एवं सत्य को प्राप्त कर लेना आवश्यक हो जाता है। गांधी जी इसी कर्मयोग को सत्याग्रह कहते हैं। सत्याग्रह सत्य को प्राप्त करने का एक प्रयत्न है, क्योंकि सत्य संसार का केवल स्वरूप ही नहीं आदर्श भी है। गांधी जी के नमक सत्याग्रह से यह स्पष्ट हो जाता है। नमक ईश्वर-निर्मित वस्तु है। अतः उस पर सब व्यक्तियों का समान अधिकार है। किसी भी शासन के माध्यम से उसे स्वयं बनाकर व्यक्तियों को उसके उपयोग करने से रोकना 'सत्य'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का अपमान है। अतः इस सत्य को फिर से स्थापित करना ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। इसीलिए, "नमक के प्रति मैं शासन का अधिकार नहीं मानूँगा। वह कायदा मैं तोड़ दूंगा। मेरा नमक मैं ले आऊँगा और सत्य की स्थापना करूँगा।" यह विचार-धारा और उसके अनुसार आचरण करने का नाम है सत्याग्रह। समाज में जो सत्य दिखायी देता है उसमें जो कुछ 'असत्य' का, 'माया' का अंश व्याप्त रहता है उस को हटाने, और सत्य इस प्रकार है, यह बता देने के लिए ही 'सत्याग्रह' शब्द में 'आग्रह' शब्द की योजना की गयी है। किंतु सत्य यदि संसार की असली स्थिति का नाम है तो सत्याग्रह से किसी नये सत्य का निर्माण नहीं होता। इसलिए यदि इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो सत्य और सत्याग्रह में भेद नहीं रहता। (Satyagraha in South Africa, Second Part, Hindi Edition P. 137)।

गांधी जी का 'सत्य' से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट कर देना यहाँ आवश्यक हो जाता है। संभवतः भाषा में 'सत्य' शब्द का जब प्रयोग किया जाता है तब उससे इस शब्द का बहुत ही सीमित अर्थ सामने आता है, जैसाकि 'सत्य बोलना' इस शब्द में है। इस अर्थ से 'सत्य' 'ज्ञान का गुण' हो जाता है। इस अर्थ में सत्य शब्द 'यथार्थ' शब्द के समानार्थी है, एवं जिस प्रकार 'ज्ञान' के 'यथार्थ' या 'अयथार्थ' विशेषण हो जाते हैं इसी अर्थ से 'सत्य' और 'असत्य' को हम 'भाषण' के साथ भी प्रयोग करते हैं और वे अंग्रेज़ी के 'true' और 'untrue' के पर्यायवाची होते हैं।

सत्य शब्द का यह अर्थ भी सामाजिक तत्वज्ञान के लिए आवश्यक है। इस अर्थ से किसी भी समाज की स्थापना 'असत्य' पर नहीं हो सकती। यदि समाज के सभी सदस्य असत्य भाषण का ही नियम करें तो समाज टिक नहीं सकता। असत्य असत्य के आश्रय से फूलता फलता नहीं। असत्य तो सत्य के ही आश्रय में फलता है। जब कोई भी मनुष्य असत्य का आश्रय लेता है तो वह यह चाहता है कि सभी मनुष्य सत्य का ही आश्रय लें। केवल उसी को असत्य का आश्रय ग्रहण करने का अधिकार रहे। एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से मिलाकर उनका समाज बनाने के लिए सत्य की आवश्यकता रहती है। इस दृष्टि से 'सत्य' समाज का एक नियामक तत्व है। दो व्यक्तियों को एक साथ लाने का यह एक प्रकार का सीमेंट है। इसीलिए एक अच्छे समाज के लिए वह आवश्यक भी हो जाता है। वह केवल धारणात्मक नियामक तत्व ही नहीं रहता किंतु एक नैतिक धर्म ("Normative Principle of Action") भी हो जाता है। इस दृष्टि से गांधी जी के सत्य की कांट के Principle of categorical Imperative से तुलना करनी उचित होगी।

इस तत्व से सत्य भाषण समाज के सभी सदस्यों के लिए आवश्यक हो जाता है, और असत्य भाषण समाज को हानि पहुँचाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यद्यपि 'ज्ञान का गुण' इस अर्थ से सत्य समाज की धारणा तथा नव समाज के निर्माण के लिए अत्यंत आवश्यक है तथापि सत्य का यह केवल सीमित अर्थ है। गांधी जी का सत्य शब्द इससे बहुत ही व्यापक है। ऊपर निर्दिष्ट सत्य का स्वरूप व्यापक सत्य का एक अंग है एवं व्यापक सत्य से उसकी सिद्धि होती है। गांधी जी का 'सत्य' 'सत्' का वाचक है। वह गुण नहीं, संसार का आश्रयभूत द्रव्य (Substance) है। यदि गांधी जी के सत्य का भावांतर अंग्रेजी में किया जाय तो उसका पर्यायवाची 'Truth' नहीं होगा, 'Reality' होगा। गांधी जी का सत्य संसार का सारभूत तत्व है, जैसाकि सांख्य की प्रकृति और पुरुष है। यह 'सत्य' शब्द 'ब्रह्म' का पर्यायवाची है। उपनिषदों में भी इसी अर्थ में सत्य का प्रयोग हुआ है। इसी कारण गांधी जी 'सत्य' और 'परमेश्वर' में भेद नहीं करते। यदि कोई परमेश्वर को न भी माने तो भी गांधी जी के सत्य को कोई चोट नहीं पहुँचती। क्योंकि कोई ईश्वर को माने या न माने, संसार का सारभूत तत्व (Stuff of the universe) मानना ही पड़ता है। इसी कारण श्री, रामचंद्र राव जैसे अनीश्वरवादी भी गांधीवादी हो सकते हैं। गांधी जी का परमेश्वर तो अनिर्वचनीय है। वह संसार का मूल द्रव्य अथवा तत्व है। इसीलिए गांधी जी सत्य को अहिंसा से भी अधिक महत्त्व देते हैं और इसी कारण सत्य आत्मसाक्षात्कार रूप (Self realisation) और ब्रह्म रूप ही होता है। स्वर्गीय जमनालाल जी बजाज को लिखे हुए एक पत्र में गांधी जी सूचित करते हैं कि मनुष्य को अपने अस्तित्व को भुला देना चाहिए। अपने अस्तित्व को भुलाकर जब वह खुद को संसार में विलीन कर देता है तो मनुष्य और संसार में कोई भेद नहीं रह जाता। मनुष्य संसार से भिन्न नहीं, यही ज्ञान आत्मसाक्षात्कार (Self realisation) है। मनुष्य और संसार का अद्वैत ही गांधी जी के लिए सत्य है।

सत्य का और भी एक महत्वपूर्ण पहलू है। संसार की स्थिति जैसी है उसे उसी रूप में समझना ही सत्य है। जिस शक्ति से मनुष्य उसे जान सकता है उसका नाम है वास्तविकता। यदि मनुष्य में वास्तविकता न रहे तो उसका सारा ज्ञान-विज्ञान निरर्थक एवं निरुपयोगी हो जायेगा। धर्म और तत्व के उपयोग का औचित्य दिखाना ही गांधी जी द्वारा प्रणीत सत्य का उद्देश्य है। यदि मनुष्य में नीरक्षीर विवेक द्वारा सत्य को असत्य से पृथक् करने का सामर्थ्य नहीं है तो उसकी विचारधारा केवल काल्पनिक हो जायगी और उसमें कोई भी तथ्य नहीं रहेगा। गांधी जी ने सत्य का यह पहलू बराबर अपनाया था। गांधी जी के जीवन से भी यह बात स्पष्ट हो सकती है। इस प्रकार गांधी जी जानते थे कि कब आंदोलन शुरू करना चाहिए। वे यह भी जानते थे कि आंदोलन को कब बंद कर देना चाहिए। उनके कई अपरिपक्व अनुयायी उनके द्वारा आंदोलन बंद किये जाने पर उनसे नाराज हो जाते थे। किंतु गांधी जी उचित समय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर आंदोलन वापिस लेने से ही अपनी शक्ति को सुरक्षित रख सके। अन्यथा भारतीय जनता की प्रतिकार-शक्ति इतनी कुचल दी जाती कि उसको ऊपर सिर उठा सकना भी कठिन हो जाता। जिस मनुष्य को चक्रव्यूह में प्रवेश करने का मार्ग ज्ञात हो और वहाँ से वापिस आने का मार्ग न ज्ञात हो तो उस की दशा अभिमन्यु की सी हो जायेगी। गांधी जी और अन्य लोगों में भेद यही था। राजनैतिक आंदोलन के इतिहास से उदाहरण देने की यहां आवश्यकता नहीं है किंतु "चौरी चौरा" हत्याकांड के वाद यदि गांधी जी आंदोलन वापिस नहीं लेते तो हमें आजादी इतनी शीघ्र प्राप्त नहीं होती थी। इस दृष्टि से देखा जाय तो औचित्य सत्य का ही दूसरा नाम है।

अहिंसा

सत्य और अहिंसा के पारस्परिक संवंध के विषय में गांधी जी ने कई स्थानों पर लिखा है। उसका सारांश यही है कि सत्य अन्तिम साध्य है और उसके साक्षात्कार का एकमात्र साधन अहिंसा है। बिना अहिंसा के सत्य की खोज असंभव है। किंतु यह सत्य अहिंसा के पारस्परिक संवंध का एक अंग है जिसमें अहिंसा का साधन-मूल्य अपेक्षित है। किंतु सत्य के समान अहिंसा के भी दो रूप हैं—एक अहिंसा तत्व और दूसरा अहिंसा धर्म। यदि अहिंसा तत्व पर विचार किया जाय तो गांधी जी की दृष्टि में अहिंसा और सत्य में कुछ भेद नहीं है। जव सत्य साध्य होता है तव अहिंसा साधन होती है। जव अहिंसा साध्य हो जाती है तव सत्य उसका साधन बनता है।

सामान्यतः जिस प्रकार 'सत्य' शब्द का अर्थ सच बोलना किया जाता है उसी प्रकार 'अहिंसा' शब्द का अर्थ भी हिंसा न करना, प्राणि मात्र को पीड़ा न पहुँचाना, पशु-पक्षी आदि के मांस का सेवन न करना, किया जाता है। यज्ञों में होनेवाली पशु-हिंसा देखकर हिंसा के प्रति घृणा की भावना से ही अहिंसा के प्रसार का प्रारंभ हुआ, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। आज भी कितने ही जैन भिक्षु अहिंसा-धर्म का आचरण करने के लिए अपनी नाक और मुख वस्त्र से ढँक लेते हैं। इस प्रकार करने का कारण यह है कि वे अपने श्वासोच्छ्वास से किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करना चाहते। इसी कारण से हिंदू धर्म में भी मांसाहार को निषिद्ध माना गया है। किंतु अहिंसा शब्द का यह अर्थ स्थूल है। इस अर्थ से अहिंसा को समाज का नियामक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है। कारण, संसार में एक जीव दूसरे जीव का भक्ष्य है—यह भी एक सत्य है। "जीवो जीवस्य भोजनम्" इस तत्व पर तो जीवन ही निर्भर है। यदि यह मान लिया जाय कि वनस्पतियों में भी जीवन है, जैसाकि विज्ञान मानता है, तो अहिंसा धर्म के अनुसार शाकाहार भी वंद करना पड़ेगा। किंतु जो वस्तु जीवों से संवंधित (Organised) नहीं है वह प्राणिमात्र के आहार के लिए कतई उपयोगी नहीं। ऐसे अहिंसा धर्म पर आचरण करना भी मुश्किल हो जायेगा। ऐसा अहिंसा सिद्धान्त संसार के लिए अपसिद्धान्त सिद्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होगा। बुद्ध जैसे अहिंसा धर्म के प्रवर्तकों को भी 'अहिंसा' शब्द से इस प्रकार का अहिंसा धर्म अपेक्षित था, यह समझना ठीक नहीं है। उन्होंने भी एक शिष्य के आग्रह से सूअर का मांस भक्षण किया था, ऐसा बौद्ध ग्रंथों में उल्लिखित है। अतः अहिंसा तत्त्व पर विचार करते समय अहिंसा शब्द का शाब्दिक और स्थूल अर्थ लेना उचित नहीं है। सूक्ष्म अर्थ में अहिंसा का संबंध किसी बाह्य वस्तु से न होकर मनोवृत्तियों से है और इसी अर्थ में अहिंसा (समाज धारणा का तत्त्व) दो व्यक्तियों को समाज में बद्ध करने का तत्त्व हो जाता है। मैंने ऊपर लिखा है कि प्राणिमात्र में या मनुष्य मात्र में एक अहंकार की भावना वर्तमान रहती है। इस भावना के कारण ही मैं आपसे और आप मुझ से स्वतंत्र हैं। इसी अहं के कारण मनुष्य ने कुटुम्ब, समाज, देश, धर्म आदि आवरणों में सब को लपेट लिया है। किन्तु जब मनुष्य 'मेरा' कुटुम्ब, 'मेरा' समाज, 'मेरा' देश, 'मेरा' धर्म आदि शब्दों का प्रयोग करता है तो उसमें केवल 'मेरा' शब्द ही ममत्व की भावना का द्योतक है, बाकी सब विकार के पुट हैं। यथार्थ में वास्तविक 'ममत्व' की भावना कुछ बुरी भावना की द्योतक नहीं। किंतु अंतिम लक्ष्य पर न पहुंचने के कारण ही उसमें बुराई आ जाती है। इसी बुराई के कारण एक मनुष्य समाज के दो तीन समाज बन जाते हैं। अनेकों का एक हो जाना, इसी का नाम अहिंसा है और अनेक हो जाना या अनेक रूपों में देखना, इसी का नाम हिंसा है। अतः 'हिंसा', 'अहिंसा' तत्व की मर्यादा का ही नाम है। जिस अंश में यह मर्यादा अहिंसा को खा लेती है उसी अंश में अहिंसा कम हो जाती है और हिंसा बढ़ती है। इसी अहिंसा के स्वरूप को संत ज्ञानेश्वर ने इस प्रकार वर्णन किया है—

"आणि जगाचिया सुखोदेशे
शरीर वाचा मानसे
शहरणें तें अहिंसे
रूप जाण"।

अहिंसा उसी तत्व का नाम है जिससे मनुष्य-संसार सुख के लिए, भलाई के लिए, काया, वाचा, मनसा प्रयत्न करता है।[1] गांधी जी के विचार में भी अहिंसा का यही अर्थ था। (हरिजन ५–६–३६)।

गांधी जी के अहिंसा पर लिखे गये लेखों का भावार्थ एक ही है। वह यह कि अहिंसा एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से बांधने की श्रृंखला है। 'अहिंसा' में अन्य व्यक्ति का अस्तित्व अभिप्रेत है। अन्यथा अहिंसा शब्द निरर्थक होगा। गांधी जी के लिए न केवल व्यक्ति सत्य है, न केवल समाज। यह व्यक्तियों से बना हुआ समाज ही गांधीजी के सत्य का सामाजिक रूप है। 'सत्य' की इस व्याख्या में व्यक्ति का व्यक्तित्व सुरक्षित रहता है, नष्ट नहीं होता। केवल अनेक व्यक्तियों का अस्तित्व कायम रहे, आदान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रदान न रहे तो वह केवल व्यक्तियों का बहुवचन ही होगा, समाज नहीं। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को कायम रखते हुए समाज के रूप में परिवर्तित होना हो तो उस की सिद्धि के लिए चाहिए कि एक व्यक्ति दूसरे से संबंद्ध हो। जिस श्रृंखला या गोंद से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़ता है उसका नाम अहिंसा है। सत्य का विचार करते समय मैंने यह कहा है कि "सत्य बोलना" इस अर्थ में सत्य समाज का नियामक तत्व होता है और वह समाज के व्यक्तियों के बीच का सीमेंट है। यदि ध्यान दिया जाय तो यह पता चलता है कि सत्य का वह मर्यादित स्वरूप अहिंसा के पूर्ण स्वरूप का केवल एक अंश है। दो व्यक्तियों के बीच का प्रेम एवं एक दूसरे को मदद करने की भावना, इसी को हम अहिंसा नाम दे सकते हैं। इन्हीं दो भावों का विकास आगे चलकर सत्य बोलने में होता है। इस दृष्टि से देखने लगें तो हमें लगता है कि सत्य-साधनात्मक सत्य और अहिंसा अभेदात्मक (tautologus) हो जाते हैं।

'अहिंसा' यह एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति को बांधने की श्रृंखला है, ऐसा मैंने कहा है। किंतु इस श्रृंखला से कोई भी व्यक्ति बलपूर्वक बांधा नहीं जाता। क्योंकि गांधी जी के विचार से बलप्रयोग हिंसा का ही दूसरा नाम है अतः अहिंसा में प्रेम और सहकार की भावना अंतर्भूत है। केवल 'अहिंसा' शब्द पर विचार करने से उक्त भाव स्पष्ट नहीं होता। अहिंसा शब्द का अर्थ ऊपरी दृष्टि से देखने वालों के लिए निषेधात्मक और अभावात्मक रूप में दिखायी पड़ता है। किंतु यदि हम अहिंसा शब्द का उचित अर्थ ग्रहण करना चाहें तो अनिवार्यरूप से अहिंसा को अभावात्मक अवस्था का द्योतक नहीं मानना है। वास्तव में उसका वास्तविक अर्थ भावात्मक व्यवस्था है। हिंसा की कल्पना हत्या या शारीरिक नाश से अधिक व्यापक है। अतः हत्या या शारीरिक नाश का भाव भी उसमें अंतर्भूत हो सकता है। यथार्थ रूप में गांधी जी की अहिंसा न तो निषेधात्मक है और न शस्त्र से संबंधित। शस्त्र के संदर्भ में जब अहिंसा शब्द का प्रयोग होता है तब हमको समझना चाहिए कि वह अहिंसा शब्द का 'साधन रूप' प्रयोग है। अतः वह अहिंसा धर्म का मर्यादित प्रयोग है, अहिंसा तत्व का प्रयोग नहीं।

यहां अहिंसा तत्व और अहिंसा धर्म का भेद स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है। अहिंसा तत्व समाज का धारणा (नियामक) तत्व है। अतः सुसंगठित समाज का निर्माण अहिंसा और सत्य के बिना हो नहीं सकता। किंतु आपका समाज तो ऐसा आदर्श समाज नहीं है। इसलिए जैसे आदर्श समाज की सिद्धि केलिए सत्याग्रह की आवश्यकता है वैसे ही अहिंसा की भी। इस अर्थ से अहिंसा कृतिरूप धारण कर लेती है। यह कृतिरूप 'अहिंसा' अहिंसातत्व का एवं सुगठित समाज अथवा सर्वोदयी समाज के निर्माण का साधन है। अहिंसक कृतियों से ही सर्वोदयी समाज का निर्माण हो सकता है, यह गांधी जी की धारणा थी। अतः कृतिरूप अहिंसा प्रत्येक मनुष्य का आचरण-धर्म हो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाता है। गांधी जी ने अपने लेखों में अहिंसा तत्व और अहिंसा धर्म का भेद स्पष्ट नहीं किया है। उनके लेखों में दोनों की कल्पना एक-दूसरी से मिली हुई दिखाई पड़ती है। इसी कारण "शस्त्र का उपयोग न करना", "मांस भक्षण न करना" इत्यादि, जो अहिंसा शब्द का मर्यादित अर्थ है, वही अहिंसा शब्द का यथार्थ अर्थ है, ऐसा समझा गया है। किंतु "मांस भक्षण करना या न करना" अथवा "शस्त्र का उपयोग करना या न करना", इस का मुख्य संबंध अहिंसा धर्म से है। शस्त्र का उपयोग किन परिस्थितियों में होना चाहिए, इसी पर हिंसा तत्व अथवा अहिंसा तत्व निर्भर रहता है। शस्त्र का उपयोग किया गया है इस लिए वहां हिंसा होगी, यह समझना ठीक नहीं है, यद्यपि अधिकांश स्थानों पर शस्त्र का प्रयोग हिंसा के लिए ही होता है। किंतु शस्त्र का प्रयोग अड़ी हुई औरत के 'ऑपरेशन' के लिए भी हो सकता है। यहां शस्त्र का यह प्रयोग हिंसा के लिए नहीं बल्कि अहिंसा के लिए किया जा रहा है। यद्यपि अहिंसा परम धर्म है फिर भी इस संसार में कभी कभी हिंसा का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। गांधी जी ने स्वयं हिंसा के ऐसे प्रयोगों के उदाहरण दिये हैं। उनकी अहिंसा कायरता नहीं थी। अतएव पातीव्रत्य के रक्षणार्थ उन्होंने महिला को शस्त्र का प्रयोग करने की अनुमति दी थी तथा जब एक गाय के बछड़े का बुखार उसको असह्य हो गया तो गांधी जी ने स्वयं उस पर गोली चलायी थी। गांधी जी के आलोचक (critic) इसे गांधी-दर्शन का दोष मानते हैं। अगर वह आलोचक धर्म और तत्व का भेद समझता हो तो ऐसा कभी नहीं कहता कि यह गांधी दर्शन का दोष है। दुखी बछड़े का वध करने से गांधी जी का अहिंसापरक विश्वास उड़ गया है, ऐसा समझना भूल है। अहिंसा का प्रयोग कब, कहां, क्यों एवं कितना करना चाहिए, यही तो वास्तव में देखने की वस्तु है। धर्म में प्रायः मर्यादा रहती है,-यह स्वयं गांधी जी ने बतलाया है। धर्म और तत्व के प्रयोग में औचित्य को दिखाना ही सामाजिक दार्शनिक के लिए आवश्यक है। मेरा कहने का आशय यह नहीं है कि अहिंसा तत्व को साकार करने के लिए हिंसा का प्रयोग करना आवश्यक है। सामान्यतः ऐसे प्रयोग से अहिंसातत्व की स्थापना नहीं होगी वरन् हिंसा का ही अधिकतर प्रकोप होगा। किंतु यह अनुभव की बात है (Contingent truth), नियम की बात (Necessary truth) नहीं है। इसीलिए जहां हिंसा और अहिंसा दोनों ही साधन दिखाई देते हैं वहां अहिंसातत्व की प्राप्ति के लिए अहिंसा मार्ग को स्वीकार करना ही अभीष्ट होगा। और जहां एक ही (शस्त्र प्रयोग का) मार्ग हो वहां शस्त्र का प्रयोग करना अहिंसा तत्व का विरोधी है --ऐसा समझना गलत होगा। इसी कारण "मांस भक्षण करना या न करना", औरत को बचाने के लिए शस्त्र का प्रयोग किया जाय या नहीं, ऐसे प्रश्न अहिंसातत्व की व्याख्या में उठते ही नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह

गांधी जी के सर्वोदयवादी दर्शन के ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह भी अत्यंत महत्वपूर्ण अंग हैं। ये तीनों ही धर्म हैं, केवल तत्व नहीं हैं। इन तीनों में भी साधारण धर्म है 'संयम'। ब्रह्मचर्य का मतलब है काम में संयम और अस्तेय एवं अपरिग्रह का मतलब है धन में संयम। मनुष्य को समाज में रहने के लिए संयम नितांत आवश्यक है। जब समाज से संयम नष्ट होता है तब समाज नष्ट हो जाता है। संयम को ही गांधी जी अनासक्ति योग कहते हैं। अरस्तू ने भी इसीलिए कहा है कि "Virtue lies in the middle"। ब्रह्मचर्य के विषय में विशिष्ट चर्चा करने का यह स्थान नहीं है। किंतु असंयम के कारण आचार-विचार का कोई भी क्षेत्र अच्छा नहीं बना रह सका। जन संख्या का प्रश्न, पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद आदि प्रश्न, असंयम से ही उत्पन्न होते हैं। यदि समाज का आयोजन (Planning) करना है तो वह संयम के बिना नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य का मतलब नियमित उत्पत्ति (Cantrolled Production) से है, फिर चाहे वह आर्थिक क्षेत्र में हो या जीव-वैज्ञानिक (Biological) क्षेत्र में। आधुनिक युग में कुटुंब-नियोजन (Family Planning) यंत्रों द्वारा एवं औषधियों द्वारा किया जा रहा है, पर उसके पीछे की मूल-भूत कल्पना संयम की ही है। संयम जब टूट जाता है तभी लालसा उत्पन्न होती है। इसी लालसा से या मोह से एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को गुलाम बनाता है और अपनी स्वार्थ, सिद्धि के लिए हिंसा भी करता है।

ब्रह्मचर्य का यह सामान्य स्वरूप जब सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में विशेष रूप धारण करता है तब अस्तेय एवं अपरिग्रह नामों से पुकारा जाता है। 'सबै भूमि गोपाल की', सारी संपत्ति परमेश्वर की, यह गांधी दर्शन का एक सिद्धांत है। अतः जीवन के लिए जितना आवश्यक है उससे अधिक लेने का अर्थ यही है कि समाज के अन्य सदस्यों को इस संपत्ति का कम हिस्सा प्राप्त हो। दूसरों की संपत्ति का स्वयं उपभोग करना, इसी का दूसरा नाम चोरी है। अतः अस्तेयता गांधी-दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाता है। गांधी जी के इस विचार से प्रूधां के विचार की याद आती है "अस्तेयता निषेधात्मक रूप है। उसका ही भावरूप है अपरिग्रह। मुझको अपने जीवन के लिए जितना धन आवश्यक है उतना ही मैं लूंगा। उससे अधिक धन मैं इकट्ठा नहीं करूंगा। "सबै भूमि गोपाल की" अर्थात् "ईशावास्यं इदम् सर्वम्", इस तत्व के परिपूरणार्थ अस्तेयता और अपरिग्रह व्रत हैं। इसका इतना ही अर्थ है कि समाजवाद के समान सर्वोदयवाद भी निजी संपत्ति (Private Property) पर अविश्वास करता है। इसी तत्व का विकास गांधी जी की ट्रस्टीशिप (Trusteeship) की कल्पना में हुआ है। गांधी जी आयुर्विभा के विरुद्ध क्यों थे इसका कारण अभी स्पष्ट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होगा। यदि सर्वोदयवादी समाज रचना रही, जहाँ कोई भी निजी संपत्ति संभव नहीं, तो समाज का प्रत्येक व्यक्ति जितना शरीर श्रम संभव है उतना करेंगे और जिसको जितना आवश्यक होगा वह सारा धन उसको समाज होगा। हर एक व्यक्ति का जीवन यहाँ सुरक्षित होगा। उसकी विकास की संभावना होगी। ऐसे समाज में स्वतंत्र आयुर्विभा की क्या आवश्यकता है? मनुष्य पैदा होते हैं, उनके पालन-पोषण की जिम्मेदारी समाज पर ही रहती है। यही उसकी विभा है। इसके लिए पुनः पैसे के रूप में हफ्ते का वेतन देने की चिंता नहीं। देखने में यह सब व्यवस्था कम्यूनिज़्म की व्यवस्था सी दिखाई देती है। किंतु उससे दो भेद अवश्य हैं—एक तो यहां व्यक्ति का जीवन सुरक्षित है, जोकि कम्यूनिज़्म में नहीं दिखाई देता है; और दूसरे यह समाज अहिंसक समाज है। अहिंसा के विषय में कम्यूनिज़्म ने तो सोचा नहीं है और जो सोचा है वह एकदम उलटा है।

इन्हीं मुख्य तत्वों पर गांधी जी के दर्शन के अन्य सिद्धान्त टिके है। अभय, अस्पृश्यता निवारण, शारीरिक श्रम, सर्वधर्म समभाव और स्वदेशी, गांधी दर्शन के उप–सिद्धान्त हैं। स्थानाभाव के कारण इन सभी सिद्धान्तों पर इस लेख में विचार नहीं हो सका। सारा तत्वज्ञान मानवता का, मानव समाज का,तत्वज्ञान है। वे सर्वोदय चाहते हैं। यह सर्वोदय सत्य,अहिंसा, ब्रह्मचर्य,अपरिग्रह, अस्तेय,ग्रामोद्योग आदि के पालन से प्राप्त हो सकता है, यह उनकी मान्यता है। उनका दर्शन यथोचित रूप में समझने के लिए सत्य और अहिंसा को तीन रूपों में देखना पड़ता है—(१) तत्व के रूप में (२) ध्येय के रूप में और (३) ध्येय के साधन के रूप में। सत्य और अहिंसा को तीन दृष्टिकोणों से देखने पर ही उनका सामाजिक दर्शन समझ में आता है। इसी से ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं ग्रामोद्योग आदि सिद्ध होते हैं। मानवता का सुख गांधी जी का साध्य था। किंतु उनके मत से इस साध्य को सिद्ध कर लेने का एक ही मार्ग था—संयम-धर्म और अनासक्ति योग। गांधी जी के सत्य, अहिंसा आदि तत्व या उनके एकादश व्रत अनासक्ति योग के के ही स्वरूप हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

VIII

सर्वपल्लि राधाकृष्णन् का दर्शन

ज. र. ल. स. नारायण मूर्ति

डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन् केटी., एम. ए., डी. लिट्., लिट्_डी., डी. जी. एल., लि. डी. एफ. बी. ए; भारतीय दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और शिक्षा विशेषज्ञ, दक्षिण भारत के तिरुत्तनी नामक स्थान पर १८८८ में उत्पन्न हुए। उन्होंने मद्रास क्रिश्चियन कालिज में शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् वे मद्रास प्रेसीडेंसी कालेज में दर्शन के अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। कुछ काल के लिए उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में पंचम-जार्ज प्रोफेसर के रूप में भी काम किया। १९२६ में वे मांचेस्टर कालेज आक्सफर्ड में अध्यापक हुए, १९२९-३० में हिबर्ड अध्यापक नियुक्त हुए और १९२६ में वे शिकागो विश्वविद्यालय में तुलनात्मक धर्म के हैस्कल अध्यापक हुए। १९३१ से ३६ तक के आंध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। १९३६ में वे आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में प्राच्य धर्मों तथा नीतिशास्त्र के आचार्य के रूप में नियुक्त हुए और इस पद पर वे १९५२ तक रहे। १९३९ से ४८ तक वे बनारस विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। १९३१ से ३९ तक वे लीग आफ नेशंज़ की अन्तर्राष्ट्रीय विचार-सहयोग समिति (इंटनैंश्ल इंटलेक्चुअल कोआपरेशन कमेटी) के सदस्य भी रहे। १९३९ में वे ब्रिटिश एकेडेमी के फैलो के रूप में नियुक्त किए गए। १९४६-४७ में वे यूनेस्को में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के नेता के रूप में भी गए। १९४८ में वे विश्वविद्यालय शिक्षा समिति के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। १९४९ से ५१ तक वे रूस में भारत के राजदूत रहे। १९५२ से अप्रैल १९६२ तक वे भारत के उपराष्ट्रपति पद पर आसीन रहे। १९५९ में उन्हें गोएथे मैडल प्रदान किया गया। मई १९६२ से वे भारत के राष्ट्रपति पद पर आसीन हैं।

उनकी प्रमुख कृतियां निम्न प्रकार से हैं:— दि फिलासफी आफ रवीन्द्र नाथ टैगोर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(१६१८), दि रेन आफ रिलीज्यन इन कांटेम्पोरेरी फिलासफी, २ भाग (१६२३-२७), दि हिन्दू व्यू आफ लाईफ (१६२६), एन आईडियलिस्टिक व्यू आफ लाईफ (१६३२), ईस्ट एंड वेस्ट इन रिलीज्यन (१६३३), फ्रीडम एंड कल्चर (१६३६), ईस्ट्रन रिलीज्य एंड वेस्ट्रन थाट (१६३६), महात्मा गांधी (१६३६), एजूकेशन, पोलीटिक्स एंड वार (१६४४), इज़ दिस पीस ? (१६४५), रिलीज्यन एंड सोसाइटी (१६४७), दि भागवत गीता (१६४८), दि धम्मपद (१६५०), दि प्रिंसीपल्ज़ आफ उपनिषद् (१६५३), ईस्ट एंड वेस्ट (१६५६), रिकवरी आफ फेथ (१६५६), ब्रह्म सूत्र (१६६०)।

प्रो० राधाकृष्णन् को "आधुनिक युग के प्रमुखतम रहस्यवादी दार्शनिकों में से एक स्वीकार किया जाता है।"[१] "उन्हें महानतम जीवित भारतीय दार्शनिक"[२] भी कहा गया है। ज्योर्ज पी. कोंजर के अनुसार "दर्शन के इतिहास में इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दार्शनिक नहीं उत्पन्न हुआ।"[३] "हमारे युग के दार्शनिकों में अन्य किसी ने इतने विभिन्न क्षेत्रों में इतनी अधिक उपलब्धियां नहीं की हैं जितनी भारत के सर्वपल्लि राधाकृष्णन् ने। पूर्व तथा पश्चिम से परिचित कराने में अन्य किसी को इतना श्रेय नहीं दिया जा सकता जितना राधाकृष्णन् को मिलना चाहिए।"[४] डब्लू. आर. इंगे अपने लेख "रिलीज्यन आफ दि स्पिरिट" में लिखते हैं कि "पूर्व तथा पश्चिम को परस्पर परिचित कराने में अन्य किसी ने इतना कार्य नहीं किया जितना राधाकृष्णन् ने।"[५] यही कारण है कि उन्हें दार्शनिक द्विभाषी[६], अन्तर्राष्ट्रीय सेतु-निर्माता[७], तथा पूर्व और पश्चिम के बीच सम्पर्क विधाता कहा जाता है। हम उन्हें संसार का ऐसा महानतम दार्शनिक कह सकते हैं जिसने पूर्व तथा पश्चिम के विचारों में समन्वय का प्रयत्न किया, विशेषतः दर्शन तथा धर्म के क्षेत्र में; तथा जिसने पूर्व तथा पश्चिम दोनों की संस्कृतियों से तत्व सँजोकर एक विश्व-दृष्टिकोण का निर्माण किया। भावी संततियां राधाकृष्णन् के इस दिशा में किए गए कार्य के लिए उनकी सदा ऋणी रहेंगी। वे इस कार्य के लिए अत्यन्त योग्य हैं क्योंकि वे पूर्व तथा पश्चिम की परम्पराओं से पूर्णतः परिचित हैं,

१. पी. एस. शिल्प द्वारा संपादित 'फिलासफी आफ सर्वपल्लि राधाकृष्णन्' में ई. एस. ब्राइटमैन द्वारा लिखित "राधाकृष्णन् एंड मिस्टिसिज़्म: पृ. ४१४ (प्रकाशक: ट्यूडर पब्लिशिंग कम्पनी न्यूयार्क, १६५२) आगे इस पुस्तक का नाम संक्षेप से फि. स. र. इस प्रकार लिखा जायगा)।

२. फि. स. र. में लारेंस हैज लिखित में "कंट्रीब्यूशन टू यूनिवर्सल रिलीजन"।

३. राधाकृष्णन्ज़ वर्ल्ड, फि. स. र.।

४. वहीं पृ. ८६।

५ फि. स. र. पृ. ३२५।

६. सी. ई. एम. जोड. काउंटर अटैक फ्राम दि ईस्ट. पृ. ५३।

७. वहीं ३८।

८. वहीं ५३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और वे पूर्व के विचार पश्चिम को पश्चिम की शब्दावली में, तथा पश्चिम के विचार पूर्व को पूर्व की शब्दावली में दे सकते हैं। वास्तव में उन्होंने एक सामान्य शब्दावली का विकास किया है जिसमें पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विचार सामान्यरूप से अनूदित किए जा सकें। लारेंस हाइड के अनुसार "......उन्होंने किसी भी अन्य एशियावासी से अधिक सफलता के साथ पूर्व तथा पश्चिम के विचार-समन्वय में योगदान दिया है"।[९] यह सब वे अपनी निजी हिन्दू परम्परा के प्रति श्रद्धान्वित रह कर भी कर सके, जिस परम्परा में कि वे उच्चतम दार्शनिक सत्य की अभिव्यक्ति देखते हैं। वे अपने साहित्य के सम्बन्ध में कहते हैं—"मेरी रुचि सर्वाधिक इस ओर रही है कि उन लाखों व्यक्तियों को, जो धार्मिक रूप से विस्थापित हो चुके हैं, पुनः आध्यात्मिक मूल्यों की चेतना से रस-रंजित किया जा सके।"[१०]

राधाकृष्णन के दर्शन का व्यवस्थित अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व हम उनके दर्शन पर विभिन्न प्रभावों को देखेंगे। राधाकृष्णन आद्यन्त हिन्दू हैं। वे शांकर अद्वैत वेदान्त परम्परा के अनुयायी हैं। जब वे मद्रास क्रिश्चियन कालेज में विद्यार्थी थे तो वे अपने मिशनरी अध्यापकों से वेदान्त की यह आलोचना सुन कर विस्मित थे कि वेदान्त संसार को भ्रम मानता है और उसकी कोई नीति-मीमांसा नहीं है। अपने हिन्दू विश्वासों की नींव इस प्रकार हिल जाने पर वे वेदान्त के अध्ययन में गंभीरता से प्रवृत्त हुए और एम. ए. के लिए "अद्वैत वेदान्त की नीतिमीमांसा" विषय पर थीसिस प्रस्तुत किया। तब से डा० राधाकृष्णन का मिशन और प्रयत्न पौर्वात्य दर्शन के सम्बन्ध में पाश्चात्यों के भ्रम का निवारण तथा पूर्व और पश्चिम में अन्तर को कम करना रहा है। इस उद्देश्य के लिए वे संसार की धार्मिक तथा दार्शनिक परम्पराओं का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहे हैं। उन्होंने पाश्चात्य दर्शन तथा ईसाई धर्म का भी गंभीर अध्ययन किया है, जिनके प्रति वे मानवीय व्यक्तित्व तथा व्यक्ति-स्वातंत्र्य के मूल्यों में विश्वास प्रदान करने के लिए ऋणी हैं। उन्हें पाश्चात्य दर्शन से न केवल अपने सार्वभौम आदर्शवादी विचारों के लिए प्रेरणा मिली प्रत्युत राज्य के प्रजातन्त्रवादी रूप में अडिग विश्वास भी मिला-"पाश्चात्य दार्शनिकों में प्लेटो, प्लाटिनस और कांट तथा ब्रैडले और बर्गसां के ग्रंथों ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। भारत में अपने समकालीन महान व्यक्तियों, गांधी तथा ठाकुर, से मेरे सम्बन्ध पिछले ३० वर्षों से अत्यधिक मैत्रीपूर्ण रहे थे और वे मेरे लिए जो सार्थकता रखते थे उसके अपने ऊपर आश्चर्यजनक प्रभाव को मैं पूर्णतः अनुभव करता हूँ।"[११] इस सब के अतिरिक्त,

९. वहीं ४३.

१०. फ्रेग्मेंटस आफ. ए. कान्फेशन, फि, स. रा. पृ १४

११. फ्रेग्मेंटस आफ. ए. कन्फेशन, फि. स. रा. पृ १०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राधाकृष्णन का एक सार्वभौम धर्म में गंभीर विश्वास है। वे कहते हैं कि यद्यपि उन्होंने सम्पूर्ण विश्व के महान विचारकों से बहुत कुछ सीखा है किन्तु वे किसी के भी पूर्णतः अनुयायी नहीं हैं। किन्तु वे अपने ऊपर उनके प्रभाव से इन्कार नहीं करते– "जबकि मैं उन सब के विचारों से, जिन्हें मैंने पढ़ा है, गंभीर रूप से प्रेरित हुआ हूँ मेरे विचार किसी भी परम्परा की सीमा में बद्ध नहीं हैं। यह (मेरी विचारधारा) आध्यात्मिक अनुभव से उत्पन्न होती है, तार्किक रूप से निर्धारित पूर्वप्रतिज्ञाओं से निगमित नहीं होती।"१२ वे आगे कहते हैं, "मैं यह नहीं कह सकता कि मैं किसी एक का, उसके विचारों को सम्पूर्णतः स्वीकार करने के अर्थ में, अनुयायी हूँ।"१३

डा० राधाकृष्णन ने अपनी सब कृतियों में तुलनात्मक विधि को अपनाया है। उनके 'इंडियन फिलासफी' ग्रंथ में भी, जिसमें कि उन्होंने भारतीय दर्शन तथा धर्म के सब सम्प्रदायों की व्यवस्थित अध्ययनालोचना प्रस्तुत की है, यही विधि अपनायी गयी है। उन्होंने अतीत काल के दर्शन–सम्प्रदायों को पाश्चात्य दर्शन की पदावलि के चोगे में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस प्रविधि के औचित्य के सम्बन्ध में उनका कथन है कि पूर्व तथा पश्चिम की प्रणालियों में प्रतीयमान अन्तर वास्तव में पूरक प्रकार का है, विरोधी प्रकार का नहीं।१४ तुलनात्मक विधि के औचित्य के सम्बन्ध में वे आगे कहते हैं, "तुलनात्मक विधि वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में, जबकि हम, यदि विश्व-दर्शन नहीं तो कम से कम विश्व दृष्टिकोण के विकास की दिशा में अग्रसर हैं, पूर्णतः उचित और आवश्यक है"।१५

डा० राधाकृष्णन अपनी कुछ आरम्भिक कृतियों, जैसे 'दि एथीक्स आफ वेदान्त' तथा 'दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ' में अपेक्षाकृत डीफेंसिव रहे हैं जबकि कुछ अन्य आरम्भिक कृतियों, जैसे 'दि रेन आफ रिलीज्यन इन कान्टेंपोरेरी फिलासफी' में, जो कि अन्तिम अध्याय के अतिरिक्त लगभग पूर्णतः ध्वंसात्मक है, उनका रवैया आक्रमणात्मक है। ये दोनों रवैये राधाकृष्णन के दर्शन की प्रथम तथा आरम्भिक स्थिति की विशेषताएं हैं। तत्पश्चात् उनकी वैचारिक स्थिति, जोकि उन की कृति 'एन आइडियलिस्टिक व्यू आफ लाइफ' में विशेष रूप से स्पष्ट है, अधिक संतुलित रूप में व्यक्त हुई है और वे अधिक मौलिक रूप से अपने दार्शनिक निर्माण में प्रवृत्त हुए हैं। उनकी कृतियों में इस ग्रंथ का सर्वाधिक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि यह एकमात्र ऐसी पुस्तक कही जाती है ('फ्रेगमेंट्स आफ ए कन्फेशन' के अतिरिक्त) जिसमें उनके अपने मौलिक विचार व्यक्त

१२. वहीं।

१३. वहीं।

१४. वहीं।

१५. दि रेन आफ रिलीज्यन इन कान्टेंपोरेरी फिलासफी पृ. २७५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हुए हैं। किन्तु इस पुस्तक में भी, कम से कम आंशिक रूप से, प्रकृतिवाद, वैज्ञानिकतावाद, व्यवहारवाद, भौतिकवाद तथा नास्तिकतावाद की आलोचना मिलती है। इस पुस्तक में राधाकृष्णन् का निजी दर्शन, जोकि पश्चिम के सार्वभौम आदर्शवाद तथा पूर्व के वेदान्त पर आधारित है और जिसमें उनके निजी विचार सम्मिलित हैं, रचित हुआ है। भावी संततियां राधाकृष्णन् को, उनके विश्वदर्शन की रचना की ओर प्रेरक और पथ-प्रदर्शक कार्य के लिए, तथा पूर्व और पश्चिम के बीच एक अमर सेतु-बन्ध (जो कि वर्तमान में अपेक्षित है) स्थापित कर सकने में अभूतपूर्व सफलता के लिए, सदा स्मरण करेंगी। यह कार्य वे पूर्व तथा पश्चिम के दर्शनों के अत्यन्त विस्तृत तथा विविध ज्ञान, तथा उस सब को, जो मूल्यवान है, देख सकने में समर्थ दृष्टि, तथा मनुष्य की अच्छाई और विश्व की दैवी प्रकृति में अगाध विश्वास के द्वारा कर सके।

राधाकृष्णन् के लिए 'दर्शन' 'धर्म-दर्शन' का पर्याय है। यह कथन कम से कम उनके 'एन आइडियलिस्टिक व्यू आफ लाइफ' ग्रंथ के लिए अवश्य सत्य है। यद्यपि उनके 'फ्रैगमेंट्स आफ ए कन्फेशन' ग्रंथ में दर्शन को अधिक स्वतंत्र स्थान प्राप्त हुआ प्रतीत होता है, किन्तु तब भी यह धर्म में ही मूलित है। "धर्म आत्यन्तिक यथार्थ का अनुभव अथवा उससे सजीव सम्पर्क है,"१६ "यह अखंड मानव का अखंड यथार्थ के साथ सम्बन्ध है।"१७ "यह आन्तरिक और व्यक्तिगत तत्व है जो सब मूल्यों को समन्वित करता है तथा सब अनुभवों को ग्रथित करता है।"१८ "दर्शन को आवश्यक रूप से धार्मिक अनुभव में मूलित होना चाहिए, इसे अनिवार्यतः धार्मिक अनुभव की वस्तु तथा परिणामों का व्यवस्थापक तथा विवेचक होना चाहिए। सब देशों और कालों के रहस्यवादियों ने अपने रहस्यानुभवों में आत्यन्तिक यथार्थ के साथ अपरोक्ष सम्पर्क का दावा किया है। रहस्यानुभव के वास्तव होने के पक्ष में इतने प्रमाण हैं कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जहां तक धार्मिक अनुभव के स्वरूप का प्रश्न है, इसके सम्बन्ध में डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं "इस अनुभव में विषय-विषयी का भेद स्पष्टतः नहीं किया जा सकता, यह एक अखंड, अविभाज्य चेतन-स्थिति है जिसमें न केवल मानव-प्रकृति का एक अथवा दूसरा पक्ष ही प्रत्युत सम्पूर्ण अस्तित्व ही अपनी उपलब्धि करता है।१९ यह अनुभव एक असंदिग्धता के बोध से युक्त होता है, यह स्वतः प्रमाण होता है।"२० इस स्थिति में "सामान्य जीवन का तनाव तिरोहित हो

१६. आ. व्यू. ला. ८८।
१७. वहीं।
१८, आ. व्यू. ला. पृ० ९१।
१९. वहीं ९५।
२०. वहीं ९२।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाता है और उसका स्थान आन्तरिक शान्ति, शक्ति तथा आनन्दभाव ले लेते हैं।"२१ "ऐसे अनुभव यत्नसाध्य नहीं होते, ये स्वतःप्रवाह होते हैं।"२२ जब तक यह अनुभव विद्यमान रहता है, व्यक्ति समाधि में अस्खलित-ध्यान वाला रहता है, किन्तु कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति में सदैव नहीं रह सकता"।२३ रहस्यानुभवी अनुभव करता है कि यह अनुभव अवाच्य है। किन्तु फिर भी वह मूक नहीं रह सकता। ज्यों ही वह इसके बाहर आता है, वह इसे प्रतीकों में व्यक्त करना चाहता है, "यद्यपि ऐन्द्रिय तथा वैचारिक साधन इसे उचितरूप से व्यक्त नहीं कर सकते"।२४ उपमाएं और उत्प्रेक्षाएं, जोकि परम्परया हमें प्राप्त होती हैं, इस के उदाहरण हैं। इनका कोई निश्चित अर्थ नहीं है, इनका अर्थ प्रसंग की आवश्यकतानुसार बदलता रहता है। ये प्रतीक उस परम्परा तथा संस्कृति से प्राप्त होते हैं जिनमें रहस्यानुभवी शिक्षित होता है। किन्तु हमें रहस्यानुभवी की उक्तियों का शब्दार्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए। हमें उसके अनुभव के वस्तुतत्व तथा उस वस्तुतत्व की रहस्यानुभवी द्वारा व्याख्या में सदैव अन्तर करना चाहिए। कि वह आत्मा अपने से भिन्न किसी महच्छक्तिमान आत्मा के सम्पर्क में है,यह एक तथ्य है, किन्तु इस शक्ति को किसी ऐतिहासिक व्यक्ति, जैसे बुद्ध अथवा ईसा कहना, अथवा सार्वभौम आत्मा के सरल अन्तरानुभव को बाह्यतः प्राप्त किसी क्रांतिकारी रहस्योद्घाटन के साथ घपलाना, व्याख्या है अथवा व्यक्तिगत निर्णय है; यह आवश्यक रूप से विषय-परक सत्य नहीं है। राधाकृष्णन् बुद्ध का उदाहरण देते हुए कहते हैं—"बुद्ध अपने अनुभव का विवरण देते हैं, उसकी व्याख्या नहीं देते, यद्यपि अन्ततः कोई भी अनुभव बिना व्याख्या के घटित नहीं होता। प्रश्न केवल मात्रा–भेद का है"।२५ यदि यह मान लिया जाय तो क्या यह निर्णय कठिन नहीं है कि केवल विवरण क्या है और केवल व्याख्या क्या है? यह कठिनाई तब विशेष रूप से कठिनतर हो जाती है जब हम बुद्ध जैसे व्यक्तियों के कथनों पर विचार करते हैं, क्योंकि राधाकृष्णन् यह स्वयं ही स्वीकार करते हैं कि "संसार के धर्म प्रवर्तकों में बुद्ध एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने आत्मानुभव के सत्य को तो स्वीकार किया किन्तु इसे स्वयं उस अनुभव से अतीत किसी तत्व का उद्घाटक स्वीकार करने से इन्कार किया"।२६ तब फिर राधाकृष्णन् यह कैसे कहते हैं कि "बुद्ध प्रदत्त अनुभय के

२१. वहीं ९३।
२२. वहीं ९४।
२३. वहीं ९५।
२४. वहीं ९७।
२५. वहीं १००।
२६. वहीं ११०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निकटतम हैं" ।२७

प्रतिभान मनुष्य में एक ऐसा गुण है जिसके द्वारा रहस्यानुभवी वास्तव ईश्वर अथवा विश्व के मूल तत्व के सम्पर्क में आते हैं। प्रतिभान से हमें एक ऐसा अखंड ज्ञान सुलभ होता है जो इन्द्रियानुभव अथवा विचारणा के द्वारा प्राप्त विश्लेषणात्मक ज्ञान से भिन्न तथा उत्कृष्टतर होता है। यह हमारे सफल मन का व्यापार है। यह केवल तभी सक्रिय होता है जब हमारा चेतन मन, जो केवल ऊपरी है, क्रियाहीन हो जाता है। विचारणा सृजनात्मक नहीं है। यह तर्कात्मक है और सम्वाद, प्रमाण और प्रतिपत्ति के लिए आवश्यक है। यह विषय तथा विषयी के द्वैध को उत्पन्न करती है। किन्तु प्रतिभान सृजनात्मक है। यह हमें निस्संशयात्मक ज्ञान प्रदान करती है, जो विषय-विषयी के द्वैधीभाव से रहित है।२८ इस में ज्ञान और ज्ञान-विषय-सत्ता एक हैं। यह फैकल्टी यद्यपि सब में विद्यमान रहती है, किन्तु बहुत कम व्यक्तियों, जैसे प्रतिभा-शाली वैज्ञानिकों, सृजनशील कलाकारों, नैतिक नेताओं तथा रहस्यानुभवियों, में ही अत्यधिक प्रबुद्ध रूप में व्यक्त होती है। किन्तु यह केवल रहस्यानुभवी में ही नहीं होती। यह वह फैकल्टी है जिस के द्वारा एक वैज्ञानिक प्रतिभा ठीक अभ्युपगम पर पहुँचती है, एक कलाकार विश्व का सौन्दर्य देखता है तथा एक कलाकृति का सृजन करता है, और नैतिक नेता परम्परा से विरुद्ध भी शिवत्व को देख पाने की अन्तर्दृष्टि प्राप्त करता है। यह वह फैकल्टी है जिसके द्वारा, उदाहरणार्थ, हम अपनी निजता से अवगत होते हैं। किन्तु "यद्यपि ये अनेक दिशोन्मुख गतियां मन के संघटित व्यापार की प्रदर्शक हैं, किन्तु यह व्यापार कुछ अवस्थाओं में ज्ञान की दिशा में और कुछ में आनन्द और सृजन की दिशा में उन्मुख होता है। हिन्दू दर्शन में 'प्रतिभा' शब्द मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति का वाचक है और 'आर्षज्ञान' पद ऋषियों के धार्मिक अनुभव के लिए प्रयुक्त किया जाता है।"२९ किन्तु हमारे जीवन का धार्मिक पक्ष अन्य सब पक्षों का समावेश करता है। और पुनः, हम केवल प्रतिभान के द्वारा ही विश्व तथा आत्मा सम्बन्धी निस्सन्दिग्ध और प्रागनुभविक सत्यों पर पहुँचते हैं जो अनुभव से अथवा तर्क से नहीं प्राप्त किए जा सकते और अतएव जो न उस से प्रमाणित किए जा सकते हैं। ये अनुभव की सफलता के सम्बन्ध में होते हैं। ऐसे सत्य सम्पूर्ण वैज्ञानिक परीक्षाओं के लिए तथा दार्शनिक कल्पनाओं के लिए आकाश प्रस्तुत करते हैं।

डा० राधाकृष्णन् का यह विश्वास है कि सब देशों और कालों के रहस्यानुभवी एक ही जीवन्त यथार्थ के सम्पर्क में आते हैं और उनके इस यथार्थ के अनुभव अनुरूप होते

२७. वहीं।

२८. वहीं . ४५।

२९. वहीं २००।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। वे कुछ अपरोक्षतः देखते हैं, किन्तु अचेतन रूप से इस प्रत्यक्षीकृत विषय की उस परम्परागत पदावली में व्याख्या कर ली जाती है जिस परम्परा में कि द्रष्टा का पालन-पोषण हुआ होता है। व्यक्ति द्वारा स्वीकृत व्याख्या का यह ढाँचा संस्कृति और उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता है।[३०] यद्यपि अनुभव वही होता है, किन्तु भाषा में इस की अभिव्यक्तियां एक सीमा तक ही सफल होती हैं।

जैसाकि यहां स्पष्ट है, राधाकृष्णन् उपर्युक्त प्रतिपादन में कुछ बातें बिना पर्याप्त आधार के मान कर चलते हैं; जैसे, अनुभव सर्वत्र एक है केवल इस की अभिव्यक्तियों में अन्तर है, कि अभिव्यक्तियों में भेद केवल परम्परा और संस्कृति के भेद के कारण होता है, कि इन सब अवस्थाओं में प्रतिभान सक्रिय होता है, कि इन में से कुछ अभिव्यक्तियां दूसरी अभिव्यक्तियों से अधिक सफल होती हैं (स्वभावतः यहां "सफलता" का निकष दार्शनिक है)। राधाकृष्णन् की यह भी धारणा है कि दर्शन का एकमात्र कार्य रहस्यानुभवियों की अभिव्यक्तियों का व्यवस्थापन होना चाहिए। किन्तु यदि यह मान लिया जाय, अर्थात् यदि उचित दार्शनिक विचार केवल धार्मिक अनुभव पर ही आधारित हों और यदि दर्शन को धार्मिक अनुभव पर स्थापित करना और किसी प्रकार सम्भव न हो, सिवाय उसकी अभिव्यक्तियों पर स्थापित करने के, तो यह स्पष्ट है कि यह निर्णय करने के लिए कि एक अभिव्यक्ति दूसरी से किस प्रकार अधिक सफल है। कोई बाह्य निकष उपलब्ध नहीं हो सकता हमारे विचार में डा० राधाकृष्णन् यहां वृत्त में तर्क कर रहे हैं। अथवा यह सम्भव है, जैसाकि वास्तव में प्रतीत होता है, कि राधाकृष्णन् के लिए दार्शनिक कल्पनाएं, जिन का आधार भी प्रतिभान ही है, स्वतन्त्र हैं, यद्यपि उन्हें आवश्यक रूप से रहस्यानुभवियों के प्रकथनों का प्रतिपोषक होना चाहिये। किन्तु दर्शन मनुष्य की विचारणात्मक मांगों की पूर्ति के लिए उन का अतिक्रमण भी कर सकता है। अन्यथा हम दार्शनिक के संस्थान-रचना (सिस्टम-बिल्डिंग) के व्यापार को क्या औचित्य दे सकते हैं! हम यहां यह भी देखते हैं कि राधाकृष्णन् के अनुसार दार्शनिक रचनाओं के मान्य होने के लिये यह आवश्यक शर्त है कि वे वैज्ञानिक और तार्किक परिणामों से अविरोधी हो। क्योंकि, जैसाकि राधाकृष्णन् स्वयं स्वीकार करते हैं, प्रतिभानात्मक अनुभव युक्त्यनुकूल होते हैं यद्यपि ये तर्कातीत होते हैं।[३१] 'युक्त्यनुकूल' और 'तर्कानुकूल' में क्या अन्तर है, हमारे लिये यह समझना कठिन है। विचारणा एकपक्षीय ज्ञान देती है किन्तु प्रतिभान से प्राप्त ज्ञान अविकल होता है, विचारणा प्रतिभान के लिये पथ-प्रशस्त करती है। किन्तु दूसरी ओर राधाकृष्णन् यह भी कहते हैं कि धार्मिक प्रतिभानात्मक ज्ञान का वैज्ञानिक ज्ञान के साथ अविरोध होना चाहिए। किन्तु यह

३०. वहीं ६६।

३१. वहीं १४७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्पष्ट है कि विरोध का अभाव प्रतिपोषकता को लागू नहीं करता। अतः प्रतिभानात्मक ज्ञान तथा वैज्ञानिक ज्ञान अविरोधी हो कर भी तर्कतः स्वतन्त्र हो सकते हैं। यहां हम पुनः राधाकृष्णन् के इस कथन में चक्रिकता देखते हैं कि दर्शन धार्मिक अनुभव पर आधारित होना चाहिए और धार्मिक प्रतिभान तथा वैज्ञानिक ज्ञान अथवा तर्कात्मक ज्ञान में सामंजस्य होना चाहिए। क्योंकि इन में से किसी के भी सम्भव होने के लिए क्या दोनों को परस्पर स्वतन्त्र नहीं होना चाहिए?

और फिर जहां तक प्रतिभान का प्रश्न है, उसकी सृजनशीलता और अखंडता को इस विषय-विषयी भेद से स्वतन्त्र न मानते हुए स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हमारे विचार में राधाकृष्णन् यहां अपने वेदान्तिक विश्वासों के भार से दबे हुए हैं, क्योंकि कम से कम अन्य क्षेत्रों में, जहां प्रतिभान सक्रिय होता है, विषय-विषयी भेद, यदि स्पष्ट रूप से न भी हो तो अन्तर्हितरूप में, विद्यमान रहता है, क्योंकि अन्यथा विचारणा किसी भेद के न रहते उसका किस प्रकार सृजन कर सकती है? (उनके अनुसार, विचारणा और प्रतिभान में भेद अंग-अंगी का है)। अथवा उन्हें कहना होगा कि धार्मिक अनुभव अन्य प्रतिभानात्मक अनुभवों से भिन्न प्रकार के होते हैं। किन्तु तब भी क्या उन के अनुसार व्यक्ति-आत्मा तथा ईश्वर रहस्यानुभवियों के प्रकथनों में भिन्न भिन्न अस्तित्व हैं? निश्चय ही यदि प्रतिभान में हमें कुछ अवगत होता है तो यह कम से कम तर्कतः उस से भिन्न अस्तित्ववान होता है जिसेकि यह अवगत है; और यदि यह आत्मा का ही ज्ञान है (जिसेकि राधाकृष्णन् प्रातिभ-ज्ञान के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं ३२) तो आवश्यक रूप से इस में आत्मा का एक भाग अपने ही दूसरे भाग को अवगत होता है नकि सम्पूर्ण आत्मा निज को अवगत होता है। यह सम्भव है कि राधाकृष्णन् आत्मा में भेद को स्वीकार नहीं करते, किन्तु तब फिर हम विषय-विषयी में सद्योत्पन्न भेद की व्याख्या किस प्रकार कर सकते हैं? यही आपत्ति प्रातिभ ज्ञान के अवधारणात्मक स्वभाव (कांसेप्चुअल नेचर) तथा असंवाद्यता के सम्बन्ध में की जा सकती है। एक दूसरा उत्तर, जो राधाकृष्णन् प्रस्तुत कर सकते हैं, वह यह है कि प्रतिभानात्मक ज्ञान के समय व्यक्ति को विषय-विषयी भेद की अनुभूति नहीं होती। किन्तु राधाकृष्णन् यह तर्क वास्तव में देते नहीं। किंतु उपर्युक्त तर्क इस प्रश्न को अनिर्णीत छोड़ देता है कि विषय-विषयी का भेद, अनुभूत होने या न होने से निरपेक्ष, वास्तव में होता है या नहीं? अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि प्रतिभान में ऐसा कोई भेद नहीं होता और अतएव प्रातिभ अनुभव को विचारणा की पदावली में अनूदित नहीं किया जा सकता। किन्तु यह निर्णय राधाकृष्णन् को शायद स्वीकार नहीं होगा।

३२. आ. वि. ला. १३९।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राधाकृष्णन् के अनुसार, प्रातिभ ज्ञान अप्रत्याख्येय होता है। किन्तु तब कुछ वैज्ञानिक अभ्युपगम, जो उनके अनुसार प्रतिभान द्वारा उपलब्ध होते हैं, प्रत्याख्यात क्यों होते हैं ? क्या वे यह कहेंगे कि केवल सत्य अभ्युपगम ही प्रातिभ होते हैं, अन्य नहीं ? किन्तु यह कथन उन के इस प्रतिपादन के विपरीत होगा कि प्रतिभान स्वतःप्रमाण होते हैं। और फिर, कोई यह कैसे जान सकता है कि अमुक अभ्युपगम सत्य है या असत्य है जबतक कि वह उसे अनुभव में प्रमाणित नहीं देखता ?

क्योंकि राधाकृष्णन् यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति समधिक मात्रा में प्रातिभ अनुभव करता है, और कि धार्मिक अनुभवों की तीव्रता में भी मात्रा-भेद हो सकता है, कि ये किसी व्यक्ति में स्थायी नहीं होते, और कि धार्मिक अनुभवों का मोक्ष-स्थिति से अभेद स्थापन आवश्यक है, तो इससे यह लागू नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कभी न कभी समधिक मुक्ति-लाभ करता है,और कि मोक्ष-स्थिति में भी मात्रा-भेद होता है ? यह परिणाम स्पष्टतः अत्यन्त विचित्र मालूम पड़ता है यद्यपि यह पूर्णतः उचित है।

प्रो. राधाकृष्णन् के विचार में, सब देशों और कालों में धार्मिक अनुभव कुछ विनिश्चय (Affirm) करता है। वे इस प्रकार के विनिश्चय के दो उदाहरण देते हैं। उनके अपने शब्दों में, "आध्यात्मिक यथार्थ के विनिश्चय के अतिरिक्त, जिस की अनेक प्रकार से व्याख्या की गयी है और जो मनुष्य के अन्तरतम आत्म के साथ समीकृत होता है, हम विश्व की अखंडता (Unity) का अनुभव भी पाते हैं" ।[३३] जहांतक इस आध्यात्मिक यथार्थ के वैयक्तित्व अथवा निर्वैयक्तित्व का प्रश्न है, उनका कथन है कि इस व्याख्या–भेद का कारण दृष्टिकोण–भेद है। वास्तव में, यथार्थ न वैयक्तिक है और न निर्वैयक्तिक है। वे यहां तक कहते हैं कि वैयक्तित्व केवल एक प्रतीक है। धार्मिक अनुभव दोनों में भेद नहीं करता।[३४] वे अन्यत्र कहते हैं कि "बुद्धिवादी तर्क–शास्त्र और रहस्यवादी चिन्तन दोनों सिद्धान्ततः प्रथम अवधारणा (सार्वभौम–एब्सोल्यूट) की पुष्टि करते हैं, जबकि नैतिक आस्तिकतावाद का झुकाव दूसरी (ईश्वर की) ओर है" ।[३५] पुनः "धार्मिक अनुभव के कुछ पहलू हैं, जैसे शान्ति और चरितार्थता, तथा अमृतत्व और पूर्णता, जो एक ऐसे अस्तित्व को पूर्वकल्पित करते हैं जिसका स्वरूप वैश्व प्रक्रिया में पूर्णतः निरूपित नहीं हो सकता। धार्मिक अनुभव का यह पहलू ईश्वर की निरपेक्ष सत्ता, सार्वभौम अस्तित्व के रूप में अवधारणा की अपेक्षा करता है। दूसरी ओर हमारे धार्मिक अनुभव के ऐसे पहलू हैं जो

३३. वहीं १०६

३४. वहीं १०६।

३५. दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ पृ. ३०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ईश्वर को आत्मनियामक तत्व के रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा करते हैं, जो तत्व-कालानुक्रम में ज्ञान, प्रेम तथा शिवत्व के गुणों में आत्माभिव्यक्ति करता है। इस दृष्टिकोण से ईश्वर व्यक्ति-अस्तित्व है, जिसके साथ हम व्यक्तिगत स्तर पर सम्पर्क में आते हैं।"३६ जहां तक आत्यन्तिक अस्तित्व की अन्तर्व्याप्ति तथा अतिक्रान्तित्व का प्रश्न है, राधाकृष्णन् का कथन है कि यह दोनों है। यथार्थ के नेतिपरक वर्णन के सम्बन्ध में उनका कथन है कि यह आत्यन्तिक अस्तित्व के पूर्ण अतिक्रमणशीलता के द्योतन के लिए है। धार्मिक अनुभव में "व्यक्ति-आत्म तथा आत्यन्तिक यथार्थ के बीच के अवरोध समाप्त हो जाते हैं"।३७ ईसाई, मुस्लिम तथा यहूदी तथा अन्य अनेक सम्प्रदाय इस विचार का विरोध करेंगे। वे इसके विपरीत मत का समर्थन करेंगे कि मनुष्य को ईश्वर साक्षात्कार एक ही प्रकार से हो सकता है, और कि ईश्वर तथा मनुष्य के बीच भेद कभी समाप्त नहीं होता। राधाकृष्णन् उनसे कभी सहमत नहीं हो सकते जो अपने सम्प्रदाय के अनुसार एक प्रकार के प्रत्यक्षीकरण को ही उचित समझते हैं। किन्तु यदि राधाकृष्णन् ने धार्मिक अनुभव को थोड़ा और निकट से देखा होता तो वे पाते कि विश्लेषणात्मक (Discursive) विचारणा की सब तत्वमीमांसात्मक कल्पनाएं भ्रामक हैं और दर्शन का उचित कार्य तत्वमीमांसात्मक सिद्धान्त रचना के बजाय यह देखना है कि तत्वमीमांसात्मक प्रश्न मनुष्य के मन में क्यों और किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, कौन से मनोवैज्ञानिक कारणों से उनका जन्म होता है और रहस्यानुभव की अवस्थाओं का क्या स्वरूप है। उदाहरणार्थ उपयुद्धृत कथनों में, जहां वे प्रतिपादित करते हैं कि "ईश्वर" तथा "ब्रह्म" के प्रत्यय केवल दृष्टिकोण भेद के परिणाम हैं, क्या वे अनजाने में दृष्टिकोण के नाम पर यथार्थ के स्तरों का प्रत्यय ही नहीं प्रतिपादित कर रहे हैं, यद्यपि वे स्वयं स्पष्टतः यह निषेध करते हैं कि इनमें भेद-प्रतीति और यथार्थ का भेद है? और फिर इन स्तरों का क्या उपयोग रह जाता है यदि परन्तम सत्य केवल एक है? वास्तव में तत्वमीमांसीय विचार-सरणियों में स्वाभाविक अनेक दोषों में से यह एक दोष का उदाहरण है। क्या यह हम बहुत देर से नहीं सीख रहे हैं कि तत्वमीमांसीय विचार सरणियों के माध्यम से कल्पनाएं करना निष्प्रयोजन है, चाहे यह वास्तविक धार्मिक अनुभवों पर ही आधारित क्यों न हो? क्योंकि धार्मिक अनुभव इस से अधिक और क्या स्थापित करता है कि इसमें व्यक्ति महत्तम आनन्द प्राप्त करता है, कि वह विश्व को सामान्य से भिन्न ढंग से देखना आरम्भ कर देता है, कि भिन्नता और द्वैत के जो अनुभव सामान्यरूप से मनुष्य अनुभव करता है वह अनुभव नहीं करता, और कि ऐसा अनुभव व्यक्ति के

३६. डा. राधाकृष्णन् तथा म्योंहेड द्वारा सम्पादित कांटेम्पोरेरी इंडियन फिलासफी में "दि स्पिरिट इन मैन." पृ. २८०।

३७. आ. व. ला, पृ. १०३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जीवन में पूर्णतः परिवर्तन ला देता है ? किन्तु इससे हमें अनुभव से आगे कुछ कहने का और अत्यानुभविक अस्तित्व की चर्चा का अधिकार किस प्रकार प्राप्त हो जाता है ? किन्तु राधाकृष्णन् समझते हैं कि पूर्ण प्रत्ययवादी (Absolutist Idealistic) तत्व-मीमांसा के प्रतिपादनों की पुष्टि धार्मिक अनुभवों के द्वारा हो सकती है। तब तो हमें यह कहना होगा कि महात्मा बुद्ध रहस्यानुभवी नहीं थे। राधाकृष्णन् रहस्यानुभवियों के निषेधात्मक कथनों की ओर ध्यान नहीं देते और रहस्यानुभव के सम्बन्ध में किसी प्रकार की तत्वमीमांसात्मक कल्पनाओं में न उलझने के लिए कहते हैं। वे धार्मिक रूप से विस्थापित लोगों के बौद्धिक संदेहों को सन्तुष्ट करने के लिए आवश्यकता से अधिक उत्सुक हैं।

राधाकृष्णन् के लिए मोक्ष आध्यात्मिक अनुभव की इस अवस्था में निरन्तर अवस्थान है।[३८] आन्तरिक जीवन के संस्कार द्वारा तन्मयता और नैतिक रूपान्तरण की उपलब्धि इस प्रकार के रहस्यानुभव को प्राप्त करने के साधन हैं।

संसार के सब धर्म उन धर्मों के प्रवर्तकों के एक ही प्रकार के अनुभवों की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। राधाकृष्णन् रहस्यानुभव के आधार पर एक विश्व-धर्म की स्थापना की सिफारिश करते हैं। किन्तु वे विद्यमान विभिन्न धर्मों को समाप्त करने के पक्ष में भी नहीं हैं। इसके विपरीत, वे धर्मों के विश्व संघ के पक्ष में हैं, जिसकी प्रतिष्ठा धर्मों के परस्पर समादर पर होनी चाहिए।

राधाकृष्णन् के अनुसार, दार्शनिक कल्पना यथार्थ के भी उपर्युक्त प्रकार के रूप को ही सम्भव स्वीकार करती है। निःसन्देह वे इससे बहुत अधिक समृद्धतर चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण उनका दर्शन हमारे लिए इतना आकर्षक है। वे अपना दर्शन इस प्रतिपादन के साथ आरम्भ करते हैं कि विचार तथा वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता अतिप्राकृतिक यथार्थ को पूर्वकल्पित करते हैं। "विश्व इतिहास की व्याख्या अन्तःसाक्ष्य से ही नहीं की जा सकती। ईश्वर के प्रतिपादक प्रसिद्ध प्रमाण इसी तथ्य को उद्घाटित करते हैं। ये प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को तर्कतः प्रतिष्ठित करने में चाहे सफल न भी हों किन्तु जब विश्वास अन्य आधारों पर उत्पन्न होता है तब ये उसकी युक्तिसम्मतता को प्रदर्शित करने में सहायक होते हैं।"[३९] यहां प्रसंगवश यह बताना भी अनुचित न होगा कि राधाकृष्णन् के लिए अस्तित्वमीमांसात्मक प्रमाण इसी लिए कुछ Validity रखता है क्योंकि, उनके अनुसार, यह मनुष्य के अन्तर्निहित धार्मिक अनुभव पर आधारित है।[४०] किन्तु वे यह स्वीकार करते हैं कि यह तार्किक

३८. आ. व्यू. ला. पृ. ११४,१२३।
३९. वहीं ३३१। ४०. वहीं २२०।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुमान के रूप में दोषपूर्ण है। हमारे विचार में इस सम्बन्ध में राधाकृष्णन् की स्थिति रहस्यवाद से लगभग उलट है। हमारे सामान्य प्रयोजनों के लिए, और वैज्ञानिक तथा दार्शनिक प्रयोजनों के लिए भी, प्रदत्त (तथ्य) की व्याख्या सदैव उस तथ्य से भिन्न कुछ के द्वारा होती है जिसके साथ कि हम व्याख्येय तथ्य को सम्बन्धित करते हैं, जबकि रहस्यानुभव में प्रदत्त का अर्थ निरपेक्षतया निरूपित होता है, अथवा कहें कि यहां इसकी व्याख्या आदि की समस्या ही समाप्त हो जाती है। अन्यथा इस प्रतिपादन को, कि रहस्यानुभव में ज्ञान और ज्ञानतत्व अभिन्न हैं, हम और क्या अर्थ दे सकते हैं? पुनः "स्वयं इस संसार का अस्तित्व ही परमसत्ता के अस्तित्व को लागू करता है, जिससे कि संसार अस्तित्व ग्रहण करता है। परम सत्ता संपूर्ण अस्तित्व का मूल है, यद्यपि यह स्वयं अस्तित्वमय नहीं है......यह अत्यन्त सार्वभौम और अत्यन्त व्यापक अवधारणा है..... यह विचार का विषय नहीं हो सकती। सत्ता में निरपेक्षरूप से अस्तित्वयुक्त रहने की सामर्थ्य है, यह अपने अस्तित्व के लिए किसी कारण और किसी औचित्य की अपेक्षा नहीं करती, अस्तित्व स्वयं इसके स्वभाव में निहित है। ऐसी सत्ता केवल एक ही हो सकती है और वह है अलौकिक आत्मा'।[४१] ईश्वर वह आत्मा है। "रहस्यवादियों द्वारा अनुभूत ईश्वर का याथार्थ्य वैज्ञानिक तथ्यों तथा उन पर आश्रित न्यायात्मक तर्क (लोजीकल रीज़निंग) से पूर्णतः संगत है"[४२] ईश्वर संसार की तार्किक पूर्वकल्पना है। ईश्वर एकत्व, चैतन्य तथा अस्तित्व का आधार है। यह सृजन-वासना तथा उद्देश्य है।

राधाकृष्णन् वैश्व–विकास के सिद्धान्त में तथा इसके माध्यम से ईश्वर की आत्म–चरितार्थन की प्रक्रिया में विश्वास करते हैं: "इस विश्व-विकास की प्रक्रिया का अन्त मानव की, टटोलने और भटकने के पथ से, निर्बन्ध पूर्णता प्रप्ति के साथ होता है"।[४३] "यह लक्ष्य स्वयं घटनाओं के ढांचे में क्रियाशील है।"[४४] राधाकृष्णन् नव्योत्क्रान्तिमय विकास में विश्वास करते हुए कहते हैं कि मन जीवन में से नव्योत्क्रान्त होता है, किन्तु मन की उत्क्रान्ति के साथ विकास-प्रक्रिया समाप्त नहीं होती, यह निश्चितरूप से प्रगसर होगी और अन्तिमसत्ताआत्मा अथवा आनन्द स्थिति में परिणत होगी, जोकि अन्य सब स्थितियों को समाविष्ट करती है। इतिहास चक्रिक प्रक्रिया नहीं है। काल आदि और अन्तमय है। किन्तु फिर भी राधाकृष्णन् कहते हैं कि जब यह नाटक समाप्त हो जायगा तो, जहां तक हम समझते हैं, यह प्रक्रिया पुनः आरम्भ हो सकती है। इस प्रश्न के

४१. फ्रेग्मेंट्स आफ ए कांफेशन, (फि. सा. रा. पृ ३८)

४२. आ. वि. ला. पृ. ३३१।

४३. वहीं ३३२।

४४. वहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उत्तर में, कि विकास प्रक्रिया ने यही रूप क्यों लिया कोई अन्य रूप क्यों नहीं लिया, वे कहते हैं-"क्योंकि ब्रह्म पूर्ण मुक्त है और उसने स्वच्छन्द रूप से इस सम्भावना के वास्तवीकरण की इच्छा की हैं। संसार माया है। परमसत्ता का निरपेक्ष, निर्गुण रूप ब्रह्म है, और यह सत्ता स्वतन्त्र क्रिया की स्थिति में ईश्वर है। वास्तव में राधाकृष्णन् परमसत्ता के चतुर्विध रूपों की कल्पना करते हैं। १. ब्रह्म-निरपेक्ष सत्ता, २. ईश्वर-स्वच्छन्द क्रिया, ३. हिरण्यगर्भ, प्रजा-पति, ब्रह्मा—अनाविल रूप में प्रकृति तथा, ४. विश्व-अपने स्थूल रूप में संसार। ईश्वर ज्ञान, करुणा और शिवत्व है। दर्शन के लिए वह मूल मन (Primordial Mind) है, नीति शास्त्र के लिए वह करुणामय है और धर्म के लिए वह विश्व का शिवत्वमय निर्णायक है"।[४५] एक ईश्वर ब्रह्मा रूप में उत्पन्न करता है, विष्णु रूप में पालन करता है और शिव रूप में निर्णय करता है। "ईश्वर संसार के साथ जीवन सत्ता है। काल वैश्व विकास प्रक्रिया का, जिसमें नैतिक जीवन भी सम्मिलित हैं, अवियोज्य रूप है, और यह ईश्वर के लिए भी अर्थवान् है।"[४६] "ईश्वर यद्यपि संसार में अन्तर्व्याप्त रहता है किन्तु यह इस के अन्तिम परिणाम से पूर्व इसके साथ अभिन्नरूप नहीं होता। प्रक्रिया के अन्त तक ईश्वर में कुछ अचरितार्थ शेष रहता है, किन्तु जब वह विकास अपने लक्ष्य पर पहुँचता है तो यह अचरितार्थ-भाव लुप्त हो जाता है। राज्य की एकछत्रता के साथ ही राजत्व का आविर्भाव होता है। जो ईश्वर इसके साथ सक्रिय होता है वह निरपेक्षता में अन्तर्हित हो जाता है। आदि और अन्त सीमात्मक अवधारणाएं हैं। संसार की महदभिरुचि आदि से अन्त की ओर संक्रमण की मध्यवर्ती प्रक्रिया में होती है"।[४७] जब ईश्वर संसार-प्रक्रिया में नवीन प्रबन्ध की इच्छा करता है तो यह अपने आप को अधिक उज्ज्वल रूपों में व्यक्त करता है और इन रूपों को हम अवतार कहते हैं। ईश्वर के लिए मानवीय प्रयत्न महत्वपूर्ण हैं क्योंकि संसार का चरितार्थन मानवीय सहयोग पर निर्भर करता है। राधाकृष्णन् यहां एक अन्तर्विरोध से अभिज्ञ हैं जब वे साथ ही यह कहते हैं कि "यह सिद्धांत कि, ईश्वर की करुणामयता इस योजना को सफल परिणाम की ओर ले जाएगी, 'पूर्ण पूर्व-निर्धारित लक्ष्य' के सिद्धांत के साथ नहीं घपलाना चाहिए, जिस की व्याख्या मानवीय मुक्ति के निरास और नैतिक प्रयत्नों की निष्फलता के रूप में भी हो सकती है।"[४८] राधाकृष्णन् 'कर्म' पद की एक नई व्याख्या उपस्थित करते हैं। वे प्रकृति के नियमों—भौतिक जैविक, मानसिक—को 'कर्म' की संज्ञा देते हैं।[४९] "प्रकृति के नियम दंड अथवा

४५. वहीं।
४६. वहीं ३३६।
४७. वहीं।
४८. वहीं ३४०। ४९. फि. स. रा. पृ. ४४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुरस्कार के लिए नहीं हैं। किसी कर्म का परिणाम दंड या पुरस्कार नहीं होता, केवल फल-परिणाम होता है। प्रकृति के नियम ईश्वरीय मन की अभिव्यक्तियां हैं। विश्व की अन्तर्निहित सोद्देश्यता विश्व में पाप, कुरूपता और दोष की विद्यमानता से विसंगत नहीं है......विश्व में शिवत्व की इतनी अधिक प्रधानता इस में नियम को पूर्वकल्पित करती है।"५० "कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त विश्व में पाप, दोष और कुरूपता के होने पर भी उसके मूल्य को कम नहीं होने देते। ये दोष क्रमशः अपने विपरीत गुणों में रूपान्तरित होते रहते हैं।"५१ ब्रह्म (एब्सोल्यूट) तथा ईश्वर के बीच सम्बन्ध की चर्चा करते हुए राधाकृष्णन् कहते हैं कि ईश्वर मानवीय लक्ष्य की दृष्टि से परिपूर्ण है। विश्व से निरपेक्ष रूप में हम परम सत्ता को ब्रह्म कहते हैं और विश्व की सापेक्षता में उसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर की यह अवधारणा राधाकृष्णन् की समन्वय की सामर्थ्य का उत्कृष्टतम उदाहरण है। इसमें क्रिश्चियानिटी, हिन्दू दर्शन, विशेषरूप से औपनिषदिक दर्शन, प्लेटो, अरस्तु, बर्गसां, ह्वाइटहेड, एलेग्ज़ेंडर तथा ल्लायडमोर्गन से गृहीत तत्वों को देखा जा सकता है। यह उदाहरण यह प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि राधाकृष्णन् विश्व दर्शन के निर्माण में पथप्रदर्शक दार्शनिक हैं।

इसके पश्चात् हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि व्यक्ति धार्मिक और नैतिक दिशा में क्यों प्रेरित होता है? राधाकृष्णन् इसका उत्तर बौद्ध, हिन्दू तथा अस्तित्ववादी दर्शनों से प्राप्त करते हैं। उनके अनुसार इसका कारण मनुष्य में वेदना, भय, अपनी तुच्छता का अनुभव, अभावानुभूति (जिसे कि वे भ्रामक रूप से बौद्धों के शून्य के प्रत्यय से मिलाते हैं), मृत्यु का भय, जीवन में अन्तर्निहित असंगतियां और स्थायित्व आदि की चेतना है।

जब प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष-लाभ कर लेता है तब यह वैश्व प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक प्रत्येक मुक्त व्यक्ति कर्म का केन्द्र रहता है, यद्यपि वह निष्काम होता है। "इस स्थिति में व्यक्ति वैश्व प्रक्रिया में एक तुच्छ और परिमित अहं के रूप में नहीं रहता प्रत्युत एक ऐसी स्वर्गीय तथा सार्वभौम चेतना के स्तर पर रहता है जो व्यक्ति प्रत्ययों को रूपान्तरित और लय करती चलती है।"५२ ऐसा व्यक्ति आत्म-मुक्ति-लाभ में दूसरों की सहायता करता है। किन्तु अगले ही वाक्य में राधाकृष्णन् कहते हैं कि "यदि मुक्त व्यक्ति वास्तव में ही वैश्व प्रक्रिया से बच जाते हैं तो संसार सदा के लिए आभा-रहित (Unredeemed) हो जाएगा।" किन्तु हम यह नहीं समझ पाए कि इस प्रतिपादन का क्या औचित्य है, सिवाय इसके कि कुछ

५०, आ. न्यू. ला. पृ० ६१।

५१. वहीं।

५२. वहीं ५२४।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हिन्दू और बौद्ध सम्प्रदाय ऐसा मानते हैं।

राधाकृष्णन् प्रायः बिना आलोचनात्मक विचार के कर्म तथा पुनर्जन्म के युग्म सिद्धांतों को लगभग उनके परम्परागत रूप में स्वीकार कर लेते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए वे तर्क देते हैं कि इस का सुदीर्घ तथा प्रभावशाली इतिहास है। "अहं के नव्योत्क्रान्तवादी दृष्टिकोण से पुनर्जन्म का अभ्युपगम (हाइपोथिसिस) तर्कसम्मत प्रतीत होता है—जबकि जीवविज्ञान के स्तर पर जाति संरक्षण (Perpetuation) ही उद्देश्य है, मानवीय स्तर पर विशिष्ट व्यक्तित्व का विकास उद्देश्य प्रतीत होता है।"५३ यहां हम राधाकृष्णन् की मानवीय व्यक्तित्व की अवधारणा की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे क्योंकि यह उनके पुनर्जन्म के सिद्धान्त को समझने में महत्वपूर्ण है। आत्मा एक अवयवी है। यह मानसिक अवस्थाओं का संकलन नहीं है अपितु यह संकलन मात्रात्मक है। "आत्मा एक लक्ष्योन्मुख समष्टि है जो कि स्थूल, सक्रिय, सजीव व्यक्तित्व में एकमात्र वस्तु है।"५४ प्रत्येक आत्मा का अपना जीवनोद्देश्य होता है। मनुष्य के सम्पूर्ण रूपान्तरणों में कुछ स्थायी और विशिष्ट गुण विद्यमान रहते हैं। आत्मा इनसे निर्मित है। "आत्मा की एकता उद्देश्य प्राप्ति की दिशा में क्रमशः अपनी चरितार्थता को अधिगत करती है"।५५ "हम किसी क्षण विशेष में जिसे एक व्यक्ति-विशेष कहते हैं वह एक संवर्द्धमान इकाई की अन्तर्वर्ती कड़ी है। हम किसी व्यक्ति को 'वही' उस अवस्था में कहते हैं जबकि निश्चित कालावधि के लिए निश्चित विशेषताएं उपलब्ध होती हैं। गुणों का समष्टीकरण एक निजी विशिष्टता रखता है जो कि व्यक्ति की अद्वितीयता का आधार है।"५६ किन्तु यह आत्म उस आत्म से भिन्न है जो विषयी है। विषयी आत्म "सम्पूर्ण ज्ञान, पहिचान तथा स्मृति का स्थायी आधाररूप होता है।"५७ वास्तव विषयी-आत्म अखंड, आत्मस्थ और निरपेक्ष तत्व है जोकि अपरोक्षतः विषय के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में उपर्युक्त तर्क पुनर्जन्म को सिद्ध नहीं करता, सिवाय 'प्रथम दृष्टि में प्यार होने' अथवा शिशु-कौतूहल आदि को प्रसंग में लाने के, और वह भी तब जबकि इनकी और कोई व्याख्या न की जा सकती हो। उनका तर्क यह भी लागू करता है कि व्यक्तित्व अहं-बोध से भिन्न कुछ है।

राधाकृष्णन् का दूसरा तर्क यह है कि पूर्व जन्म की अपेक्षा मनुष्यों के (नैतिक) स्वभावों में भेद नैतिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से पूर्व जन्म की अपेक्षा करता है। मृत्यु

५३. वहीं २७७।
५४. वहीं १५७।
५५. वहीं २६७।
५६. वहीं २६८। ५७. वहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"प्रकृति की निरन्तर पुनरावर्तनशील लय का भाग है, और व्यक्ति के इतिहास में यह एक संक्रान्ति का क्षण है। इस क्षण से आत्म अन्य नवीन परिस्थितियों को अपनाता है।"२८ ये सब तर्क यह पूर्वकल्पित करते हैं कि आत्म का शरीर के विना भी अस्तित्व हो सकता है। प्रो० राधाकृष्णन् भौतिक शरीर तथा आत्मा के बीच मध्यस्थभूत सूक्ष्म शरीर की परम्परागत कल्पना के लिए आधुनिक साइकिक के अनुसंधानों में समर्थन पाते हैं। आत्मा का अगले जन्म में शरीर-विशेष को प्राप्त करना पूर्व जन्म तक संकलित कर्म-फलों के अनुसार होता है। प्रो० राधाकृष्णन् पशु जीवन की ओर निवर्तन की संभावना को अस्वीकार नहीं करते, किन्तु उनके अनुसार "पशु रूप में पुनर्जन्म से द्वारा वास्तव में, आलंकारिक भाषा में, पशु स्वभाव के साथ पुनर्जन्म की बात कहना अभिप्रेत है"।२९ और हिन्दू परम्परा के अनुरूप हो वे समझते हैं कि आत्मा का जीवन अनादि है।

जहां तक पुनर्जन्म के स्वरूप का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में राधाकृष्णन् का सिद्धान्त परम्परागत हिन्दू सिद्धान्तों से भिन्न नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव के अनुकूल शरीर का चुनाव करता है। माता पिता नये शरीर के लिए उपादान प्रदान करते हैं। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त आनुवंशिकता (Heredity) के साथ संगत नहीं है, वे कहते हैं कि यह कठिनाई भौतिकवाद के अतिरिक्त सभी सिद्धान्तों में स्वाभाविक है। किन्तु इसका विकल्प (alternative) कि अतिप्राकृतिक आत्म-तत्व शरीर में एकदम और ऊपर से डाल दिया जाता है, इससे भी अधिक अस्वीकार्य है। किन्तु यहां हम उन्हें बताना चाहेंगे कि आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार यह कल्पित किया जा सकता है कि आत्मा शरीर के साथ विकसित होता है और इसके साथ शायद मर भी जाता है। मनुष्यों में व्यक्ति भेद की समस्या आत्मा के अनन्त अस्तित्व के सिद्धान्त द्वारा सुलझाई नहीं जा सकती। क्या वास्तव में यह कहना कि 'आत्मा अनादि है,' समस्या को सुसझाने के बजाए उससे बचना नहीं है? क्योंकि पूर्वजन्म यद्यपि व्यक्ति की इस जन्म की अवस्था की व्याख्या में सहायक हो सकता है, किन्तु जबतक हम आत्मादि का कोई आरंभ नहीं मानते तबतक हम उसकी वर्तमान स्थिति की व्याख्या कैसे कर सकते हैं? वास्तव में यदि डा. राधाकृष्णन् थोड़े कम श्रद्धालु होते तो पुनर्जन्म के विरुद्ध कितने ही और तर्क उनके मन में उत्पन्न हो जाते। यदि पुनर्जन्म का एक-मात्र लक्ष्य नैतिकता (संस्कार) की श्रृंखला को बनाए रखना है तो भौतिक काया का ही क्यों मरण और जन्म हो? यदि सूक्ष्म शरीर उतना ही प्रकृति से उपज है जितना स्थूल शरीर तो इसका तब तक एक भी वार अन्त क्यों नहीं होता जब तक कि आत्मा पूर्ण मुक्ति नहीं पा लेता? यदि स्मृति सूक्ष्म शरीर का अंग है तो यह सूक्ष्म शरीर के

२८. वहीं २६६।

२९. वहीं २०६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अन्य अंगों के साथ क्यों दूसरे जन्म में नीत नहीं होता ? जब व्यक्ति पशु-योनि में निवर्तित होता है तब उसके अहंभाव तथा अन्य विशिष्ट रूप से मानवीय गुणों का क्या होता है, और किस प्रकार वह इस अवस्था में कार्य के विभिन्न विकल्पों में चुनाव कर सकता है ? यदि हम यह कहें कि पशु–योनि केवल कर्म-फल से मुक्ति के लिए है और इस के पश्चात् व्यक्ति अपने शेष कर्मों के प्रभाव से मनुष्य योनि को पुनः प्राप्त करता है, तो पुनः यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि उन कर्मों के सिवाय, जिनसे व्यक्ति पशु योनि में आता है, शेष सब कर्मों का फल भोग लिया गया हो तो क्या होता है ? ऐसे प्रश्नों को और उलझाने तथा इनसे वचने के लिए ही परम्परावादियों ने आत्मा को अनादि कहा और इस सिद्धान्त को वहुत अस्पष्ट रखा ।

कर्म सिद्धान्त के सम्वन्ध में डा. राधाकृष्णन् कहते हैं कि व्यक्ति की वर्तमान स्थिति उसके अतीत कर्मों का फल है। अतीत के साथ हमारा सम्वन्ध कर्मों के द्वारा होता है। कर्म सिद्धान्त विश्व में एक नियम–व्यवस्था का वाचक है । "सव कर्म अपने फल को जन्म देते हैं, और ये फल शरीर तथा परिवेश दोनों का निर्धारण करते हैं । इनके भौतिक प्रभाव चाहे अचिरस्थायी हों किन्तु इनके नैतिक प्रभाव संस्कारों के रूप में व्यक्ति के चरित्र में अनुस्यूत हो जाते हैं ।"[६०] कर्म सिद्धान्त वास्तव में इतना पाप-फल (Retribution)का सिद्धान्त नहीं है जितना नैरन्तर्य का सिद्धान्त है । कर्म-सिद्धान्त स्वतन्त्रेच्छा का विरोधी नहीं है । हमारा भविष्य संस्कारों से निर्देशित(Condition)हो सकता है,किन्तु निर्धारित नहीं हो सकता,क्योंकि हम अपने आप को उनसे मुक्त कर सकते हैं और अपना भविष्य वदल सकते हैं । "जैसी किसी की भावना होती है वैसे ही उसके उद्देश्य होते हैं, जैसे उद्देश्य होते हैं वैसे ही उसके कर्म होते हैं, जैसे उसके कर्म होते हैं वैसे ही वह फल प्राप्त करता है ।"[६१] आत्मनिर्धारण–शक्यता ही स्वतंत्रता है और यह विभिन्न मात्राओं में उपलब्ध हो सकती है । राधाकृष्णन् ने कहीं यह स्पष्टतः नहीं लिखा है कि फलों का स्वरूप क्या होता है तथा वे किस प्रकार से व्यक्ति को वांधते हैं । यदि वे केवल मनोवैज्ञानिक प्रभाव हैं (जैसा कि डा. राधाकृष्णन् विश्वास करते प्रतीत होते हैं)तो पारम्परिक कर्म-सिद्धांत (Retributince) के पक्ष का क्या बनता है ? वे इस पर भी विचार नहीं करते कि व्यक्ति का निर्माण किस प्रकार होता है, अर्थात् किस प्रकार ब्रह्म अथवा परम आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में आता है, सिवाय इतना कहने के कि शरीर पूर्व कर्मों का फल है। वे इस व्याख्या से सन्तुष्ट प्रतीत होते हैं । यही बात पारम्परिक वर्णाश्रम के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । यद्यपि राधाकृष्णन् जाति–प्रथा के वर्तमान रूप की निन्दा करते हैं, किन्तु अपनी पुस्तक दिन्दू व्यु आफ लाइफ में उन्होंने इसके आदि रूपों को उचित

६०. वहीं २६२ ।

६१. वहीं २७९ ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

माना है। उनके विचार में, यद्यपि जाति प्रथा के अनेक बुरे परिणाम हम देखते हैं किन्तु इसके स्वरूप में कुछ ठोस सिद्धांत हैं, और वे इस आदि वर्णाश्रम प्रथा को सामाजिक संगठन के सिद्धान्त के रूप में तथा जातीय संघर्षों के सुलझाव के लिए अपनाने के लिए अन्य देशों से भी सिफारिश करते हैं। जैसाकि सब जानते हैं, जाति प्रथा में बुराई यह है कि कार्य-विभाजन सामाजिक अधिकार तथा पद के भेद के रूप में परिणत हो गया है। राधाकृष्णन् इस प्रथा का औचित्य इस प्रकार देते हैं–"हिन्दू विचार अल्प विकसितों, में जिनमें आत्मनिरीक्षण तथा आत्मनियोजन की शक्ति नहीं है, तथा अधिक विकसितो अथवा द्विजों में, जो तीन वर्गों में विभाजित थे, में भेद करता है।६२" वास्तव में इस दर्शन ने ही, जो कि तथ्य से पूर्णतः विमुख है, जाति प्रथा में सब कलुषों को जन्म दिया है। "विभिन्न वर्ण व्यक्तियों के आत्मचरितार्थन की दिशा में वैभिन्य के द्योतक हैं।"६३ किन्तु क्या हम निम्न वर्णों में सुविकसित आत्माओं को नहीं देखते ? ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह दर्शन उच्च स्थिति के लोगों का निम्न स्थिति के लोगों के शोषण पर अपनी उच्च स्थिति को स्थायी करने के लिए घड़ा हुआ प्रपंच हो, जोकि वास्तव में हिन्दू दर्शन की उस शेष परम्परा से भी असंगत प्रतीत होता है, जिस की राधाकृष्णन् अन्यत्र सराहना करते हैं। किन्तु यहां यह कह देना आवश्यक है कि राधाकृष्णन् जाति–प्रथा का उसके वर्तमान रूप में समर्थन नहीं करते, और वे शोषण के सदा विरोधी रहे हैं। हम यहां केवल यह दिखाना चाहते हैं कि जाति–प्रथा का आधारभूत दर्शन, जोकि कर्म तथा पुनर्जन्म के द्विमुखी सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है, स्वतः भ्रामक है।

राधाकृष्णन् का नीति दर्शन वेदान्त के, तथा सामान्य रूप से हिन्दू धर्म के, नीति–दर्शन से भिन्न नहीं है। वे इस आलोचना के उत्तर में कहते हैं कि "व्यक्ति तथा ब्रह्म में तात्विक अभेद के स्तर पर नैतिकता अपेक्षित ही नहीं है।"६४ वे आगे कहते हैं कि "कर्त्तव्याकर्त्तव्य के नियम तभी तक प्रासंगिक हैं जबतक कि हम आत्मोत्कर्ष की ओर तथा अपने भीतर के श्रेष्ठतम को चरितार्थ करने की ओर प्रयत्नशील होते हैं"।६५ किन्तु "आत्मस्थ मनुष्य नीति के परम्परागत नियमो में नहीं बँधता।"६६ यह ठीक है कि उन्मुक्त आत्मा नैतिकता की सीमाओं से ऊपर होता है, किन्तु इस का अभिप्राय यह नहीं कि वह नैतिक श्रेष्ठताओं का परित्याग कर देता है।

प्रो० हुमायूं कबीर राधाकृष्णन् के राजनीति दर्शन को "प्रबुद्ध मानवता"६७ कहते

६२, हिन्दू व्यू. आ. ला. पृ० १२०। ६३. वहीं।

६४. वहीं १२१।

६५. इंडियन फिलासफी भाग २. पृ. ६११।

६६. वहीं पृ. ६२० तथा आगे।

६७. फि. स. र. में राधाकृष्णन् का राजनीति दर्शन पृ. ७०७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। राधाकृष्णन् के लिए राजनीति व्यावहारिक धर्म है। "यद्यपि ईश्वर का प्रातिभ-ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का प्रथम लक्ष्य है, किन्तु ठीक यह है कि सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के कुछ रूप व्यक्ति विकास में अपेक्षाकृत अधिक बाधक होते हैं। हमारा यह कर्तव्य है कि हम सामाजिक संगठन के ऐसे रूपों का सृजन तथा संवर्द्धन करें जो आदर्श मानव जीवन के विकास में कम से कम बाधक हों।"६८ व्यक्ति-जीवन के मूल्य में अपना विश्वास व्यक्त करते हुए वे कहते हैं—"प्रत्येक मनुष्य मूलतः पवित्र है। मानव व्यक्ति स्वयं को एक पूर्ण चरितार्थ्य उद्देश्य समझने का दावा कर सकता है और अतएव जीवन, स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा उसके मौलिक अधिकार हैं।"६९ वे व्यक्ति स्वातंत्र्य के समर्थक हैं तथा सब प्रकार के एकतंत्रवाद के विरोधी हैं। ये केवल व्यक्तियों में सम्बन्धों के नियमन के लिए हैं। राधाकृष्णन् लोकतंत्र को राज्य का सर्वोत्तम रूप मानते हैं, तथा वे अहिंसा को इस तंत्र का साधन समझते हैं। स्पष्टतः वे राजनीति में उदार परम्परा तथा महात्मा गांधी के अनुयायी हैं। वे बल और हिंसा में भेद करते हैं। बल किसी भी राज्य में अनिवार्य है। पूंजीवाद और प्रजातंत्रवाद परस्पर तर्कतः असंगत हैं। कम्यूनिज़्म से बचने के लिए सामाजिक तथा आर्थिक न्याय का होना आवश्यक शर्तें हैं। राधाकृष्णन् व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के परस्पर सहयोग, जातियों के परस्पर भ्रातृत्व तथा मानव की एकता में विश्वास रखते हैं। संसार क्रमशः राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ की ओर प्रगसर हो रहा है। ऐसे संसार में सहनशीलता परस्पर सम्बन्ध के लिए आधारभूत सिद्धान्त होना चाहिए। सहनशीलता अपने विश्वासों में, दूसरों के विश्वासों के प्रति उचित आदर के साथ, आस्था है। समाज का आधार व्यक्ति की निःस्वार्थपरता तथा आत्मनियंत्रण होना चाहिए। विश्वासों के निपटारे का एकमात्र साधन युक्ति और तर्क-प्रतिष्ठित अनुरोध होना चाहिए। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतंत्रता, सहनशीलता तथा अनुरोध राधाकृष्णन् के राजनीतिक विचार के आधार-स्तम्भ हैं।

परिपूर्ण उत्कर्ष के लिए व्यक्ति-स्वतन्त्रता आवश्यक है। यह केवल लोकतान्त्रिक समाज में ही सम्भव है। किन्तु स्वतन्त्रता संयम को पूर्वकल्पित करती है, क्योंकि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता केवल तभी सम्भव है यदि व्यक्तियों में एक-दूसरे के विचारों के लिए सहानुभूति है। इसका परिणाम कानून का अनुशासन होता है। साम्य और न्याय केवल कानून के अनुशासन में ही सम्भव हैं, और यह अनुशासन केवल प्रजातन्त्र में ही सम्भव है। प्रजातंत्र की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को केवल राजनैतिक अधिकार ही नहीं चाहियें प्रत्युत आर्थिक और सामाजिक अधिकार

६८. फ्रेग्मेंट्स आफ ए कान्फेशन; फि. स. र. पृ. ६६।

६९. वही।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी होने चाहिएं, और वैयक्तिक स्वार्थ सर्वहित की भावना से नियंत्रित होने चाहियें। इसी प्रकार वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार सामाजिक न्याय से निर्धारित होना चाहिये। "जो नियम व्यक्तियों के लिए पालनीय हैं वही समाजों और राष्ट्रों की लिए भी पालनीय हैं।"७० संसार का संगठन एक अन्तर्राष्ट्रीय राज्य के रूप में होना चाहिए जिसमें भिन्नताओं को परस्पर मिलाना आवश्यक नहीं है, किन्तु उनका संघर्ष का कारण बनना अनावश्यक है।

राधाकृष्णन् उस शिक्षा के विरोधी हैं जो मन को केवल उकसाती है किन्तु संतुष्ट नहीं करती। वे अशृंखलित तथा एकांगी ज्ञान के भी विरुद्ध हैं। शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को आत्मज्ञान प्रदान करना है। शिक्षा व्यक्ति के विभिन्न अंगों का सन्तुलित विकास करने में समर्थ होनी चाहिये। इसे व्यक्ति को समुचित प्रकार से जीवन व्यतीत करने में समर्थ करना चाहिये। इसके द्वारा व्यक्ति में विद्यमान विभिन्न विरोधी तत्वों में एकलयता आनी चाहिए। विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे एक ऐसे जीवन की अवधारणा का विकास करें जो शाश्वत मूल्यों पर प्रतिष्ठित हो तथा ऐतिहासिक घटनाओं के प्रति जागरूक हो। उन्हें अनिवार्यतः आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि वे, चाहे अल्प संख्या में ही क्यों न हो, कुछ सृजनप्राण व्यक्तियों को आश्रय दें।

७०. हुमायूं कबीर, फि. स. र. ७०६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

IX

समकालीन भारतीय राजनैतिक दर्शन

चन्द्र शेखर राव

१६वीं शताब्दी में दो तत्वों ने भारतीय राजनैतिक चेतना को जाग्रत किया: (१) जागरण की लहर जो, धार्मिक सुधार आन्दोलनों के पीछे आई और जिसने भारत में पाश्चात्य उदार मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया तथा (२) सन् १८५७ का विप्लव, जिसने गौरवपूर्ण प्राचीन स्मृतियों को जगाकर विदेशी सत्ता को निर्मूल करने के लिए प्रेरित किया। सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसने यूरोपीय उदारवादी विचारों से प्रभावित होकर भारत में कुछेक हल्के सुधार लाने का उपक्रम किया। १६वीं शताब्दी के अन्त में इनके साथ ही साथ एक आतंक-वादी राष्ट्रीयता का भी उद्‌भव हुआ। बंगाल के विभाजन के कारण जन-भावना पर प्रहार हुआ और सन् १६०५ ई० में रूस पर जापान की विजय ने एशिया में आत्म-गौरव का एक भाव भर दिया, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना और भी सशक्त हो गई।

२०वीं शताब्दी में इस राष्ट्रीयता की विशेषता थी ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध नाराज़गी, और इसकी माँग थी सरकार के गठन में परिवर्तन लाना। परन्तु इस भावना की पृष्ठ-भूमि में कोई राजनैतिक सिद्धान्त का अधिष्ठान नहीं था और न ही सरकार के परिवर्तन के विषय में कोइ स्पष्ट योजना थी। फिर भी, इस राष्ट्रीयता का प्रकटीकरण पूँजीवादी सत्ता के विरुद्ध मोर्चा लेने की विशिष्ट विधियों या प्रवृत्तियों में हुआ था। मैं सर्वप्रथम इन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालूँगा और फिर समकालीन भारत में प्रचलित राजनैतिक एवं सामाजिक विचारों पर।

राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख मनोवृत्तियाँ

समकालीन भारतीय परिस्थितियों में राजनैतिक जागरण ने एक असंतोष की भावना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को जन्म दिया जिससे प्रेरित हो उन्होंने एक परिवर्त्तन की आकांक्षा की। परन्तु "परिवर्त्तन कैसा होना चाहिए?" और "किस माध्यम से लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए?" सदृश प्रश्नों ने आन्दोलनकर्त्ताओं को अलग-अलग रास्तों पर खड़ा कर दिया। मोटे तौर पर राष्ट्रीय आन्दोलन ने चार विचारों को जन्म दिया—(१) आंतककारी दल, (२) नर्म दल, (३) उग्र दल और (४) अहिंसात्मक प्रतिरोधवादी दल।

१. आंतककारी राष्ट्रीयतावाद

बम्बई और बंगाल में कुछेक व्यक्तियों ने, या गुप्त परिषदों के कुछ सदस्यों ने, अंग्रेज़ पदाधिकारियों की हत्या की और सरकारी सम्पत्ति का नाश किया जिससे कि अंग्रेज़ों में आतंक छा जाए और वे भारत छोड़ दें। कानून की दृष्टि से ये सारे कारनामे हत्या या डकैती के नाम से पुकारे जा सकते हैं, पर निस्सन्देह आंतकवादी राष्ट्रीयता की भावना ही इन कार्यों की प्रेरक–प्रवृत्ति थी।

काफी हद तक राष्ट्रीयता की यह भावना हिन्दू धर्म पर आश्रित थी। बम्बई प्रान्त में शिवाजी के हिन्दू पुनरुत्थान की यशोगाथा ज्ञान गीत का रूप ले चुकी थी, और जैसा कि स्पष्ट है, शिवाजी की सैनिक विजयों ने उन्हें बलात् राज्य सत्ता छीन लेने का आदर्श प्रदान किया। ये भी शिवाजी की तरह भवानी की पूजा कर शक्ति के माध्यम से रक्त–दान दे राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना चाहते थे। बंगाल में क्रान्तिकारियों के लिये धर्म एक दूसरी तरह से उपयोगी रहा। श्री रामकृष्ण और उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द के अथक प्रचार के फलस्वरूप हिन्दू विचार एवं अर्चना को पुनः आदर का स्थान प्राप्त हुआ। इसके साथ ही, परम पुरुष की अभिव्यक्ति स्वरूपा "मां काली" की पूजा जनप्रिय हो गई। "देवता के आह्वान पर भक्त अपनी वैयक्तिक सत्ता की आहुति चढ़ा देता है और, "दैवी-माँ सर्वोपरि होती है", सदृश विचार लेकर क्रान्तिकारियों ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया। क्रान्तिकारियों ने देश की वन्दना मां के रूप में की और इसके हाथों में पड़ी विदेशी सत्ता की ज़ंजीरों को काटने के लिए अपने जीवन को मात्र वैयक्तिक निधि नहीं समझा। लक्ष्य की शुभता ने इनके कार्यों को औचित्य प्रदान किया।

ऐसे क्रान्तिकारियों में विनायक दामोदर सावरकर का नाम सर्वोपरि है। एक हिन्दू राष्ट्र की स्थापना ही उनका लक्ष्य था और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्त करना अत्यावश्यक समझते थे। उनका यह परम विश्वास था कि इन विदेशियों को देश से निकालने का एकमात्र साधन है—सशस्त्र क्रान्ति। सन् १८५७ ई० के विप्लव को ये भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम मानते थे और उसकी शृंखला को बनाए रखने के लिए देशभक्तों से इनका विशेष आग्रह था। इस राष्ट्रीयता का स्रोत संकीर्ण जातीय दृष्टिकोण था। परन्तु इसमें सत्य इतना ही है कि एक हिन्दू राष्ट्र की स्थापना इनका उद्देश्य था, पर इनका उद्देश्य अन्य धर्मों के अस्तित्व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को मिटा देना कतई नहीं था। शिवाजी का युग एवं शासन व्यवस्था इस बात के ज्वलंत उदाहरण हैं।

धार्मिक अनुबन्ध से पृथक्, इस आतंकारी राष्ट्रीयता को यूरोपीय राष्ट्रीयता से भी पूरी प्रेरणा मिली। मैजिनी और गैरिवाल्डी इसी परम्परा के दो वीर सेनानी हैं। सावरकर के अनुयायियों ने इनकी तुलना गैरिवाल्डी से की थी। 'भारतीय आतंक-वादियों' ने अपनी हिंसात्मक कार्यवाहियों के औचित्य की सिद्धि के लिए फ्रान्सिसी क्रान्ति का गुणगान किया। इससे यह मालूम होता है कि यूरोपीय क्रान्ति की परम्परा का प्रभाव भारतीय राष्ट्रीयता पर भी पड़ा था। परन्तु दोनों में एक भेद है। जबकि यूरोपीय क्रान्ति-परम्परा धर्म-निरपेक्ष थी, भारतीय क्रान्तिकारियों के सम्मुख हिन्दू राष्ट्र का पुनरुत्थान एक विशिष्ट प्रेरणा थी।

यद्यपि समय की प्रगति के साथ ही इस परम्परा का भी लोप हो गया पर सन् १६५० ई० के पास जापान की सहायता से एक सेना एकत्रित कर अंग्रेज़ों को भारत से भगाने का सुभाष चन्द्र बोस का प्रयास इसी परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में माना जा सकता है। आज भी इसी परम्परा के धार्मिक आदर्श भारतीय जनसंघ सदृश राज-नौतिक दलों के कार्यक्रम के मूल में हैं।

२. नर्म दल

यह कहा जा सकता है कि नर्म दल, गर्म दल और अहिंसात्मक प्रतिरोधक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तीन विभिन्न पक्षों के द्योतक हैं जोकि जन्म के समय से ही १६वीं शताब्दी की उदार प्रजातंत्रात्मक परम्परा से परिचालित थी। कांग्रेस की नीति तत्कालीन परिस्थितियों से नियंत्रित होती रही है। प्रारम्भ में गोखले सदृश नर्म विचारकों का बाहुल्य था, फलस्वरूप कांग्रेस की माँगों में सहिष्णुता थी; पर तिलक और लाजपत राय जैसे गर्म विचारकों के कार्यक्षेत्र में आते ही उस क्रान्तिकारी विचारधारा की लहर चली, ये आमूल परिवर्तन की माँग करने लगे। अन्त में गांधी जी के पदार्पण के साथ ही कांग्रेस का कार्यक्रम एक बार फिर बदला; साधन पर विशेष बल दिया गया, अहिंसात्मक प्रणाली से लक्ष्य को प्राप्त करना ही कांग्रेस का नारा हो गया।

नर्म दल के सबसे बड़े प्रतिनिधि गोपाल कृष्ण गोखले थे। इस परम्परा में विश्वास करने वाले और भी कई देशभक्त थे, जिनमें सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, दादा भाई नैरोजी और महामान्य श्री निवास शास्त्री का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है।

इनका लक्ष्य था...भारत को एक औपनिवेशिक स्वतंत्र राज्य के रूप में स्वीकृत कराना। इस मांग पर ब्रिटिश पदाधिकारियों से बिना कोई समझौता किए ये भारत की शासन व्यवस्था के क्रमिक विकास की आवश्यकता को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत थे। इनके लिए एक उत्तरदायी स्वायत्त शासन व्यवस्था का निर्माण करना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जितना महत्वपूर्ण था उतना ही महत्वपूर्ण था अंग्रेज़ों से मैत्री सम्बन्ध बनाए रखना। भारत और इंग्लैंड के राजनैतिक सम्बन्ध में इन्होंने एक चतुर और सहृदय अदृष्ट का अनुग्रह समझा। ये स्वीकृत कानूनी कार्यवाहियों के सहारे वैधानिक परिवर्तन कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। वैधानिक आन्दोलन की परिभाषा देते हुए गोखले स्वयं कहते हैं कि 'यहां उन्हीं साधनों को स्वीकार किया जाता है जिनके सहारे उचित पदाधिकारियों की सहायता से हम अभीष्ट परिवर्तनों की मांग करने के अधिकारी हैं।'

जब नर्म दल का प्रभाव क्षीण होने लगा तो उसका स्थान उदार दल ने ले लिया, जिसकी स्थापना १८१६ ई० के बाद हुई थी। गोखले के राजनैतिक विचार आंग्ल उदार विचारधारा के अनुरूप थे, इसलिए यह उचित ही था कि उदार दल इनके विचारों को आत्मसात् कर लेता। इस ओर जॉन मौर्ले से इनकी मित्रता पर्याप्त सहायक थी। उनकी मांगें उतनी नर्म नहीं थीं, किन्तु उनके स्वीकृत साधन अत्यधिक नर्म और जनप्रिय थे। इस बात की स्वीकृति कि, सैद्धान्तिक उदार पंथ में व्यावहारिक आवश्यकता को भी ध्यान में रखना चाहिए, अर्थात् उदार राजनैतिक विचारों का व्यावहारिक प्रयोगात्मक अध्ययन, आंग्ल उदार विचारों से गोखले के सम्पर्क को स्पष्ट करता है।

परन्तु राजनैतिक आन्दोलन के साथ ही साथ सामाजिक और राजनैतिक जीवन में गोखले निष्कलुषता के महत्व को समझते थे। ये उन कुछ एक व्यक्तियों में से थे जो देश को प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था के अनुरूप सुधारने की आवश्यकता पर विशेष बल देते थे। देश-भक्ति को उचित एवं फलप्रद मार्ग निर्देशन मिलना ही चाहिए। गोखले की अदम्य इच्छा थी कि 'शिक्षा का यथेष्ट प्रसार हो तथा जनभावना जाग्रत हो।' इन्होंने Servants of India Society (भारतीय सेवक संघ) की स्थापना कर 'राजनीति को एक आध्यात्मिक स्तर' देने का सफल प्रयत्न किया था। नर्मदलीय विचारक एवं पं० मदन मोहन मालवीय देश की राजनैतिक स्वतंत्रता नहीं चाहते थे, वरन् ये देश की सर्वांगीण प्रगति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते थे।

गोखले के राजनैतिक विचार धर्म निरपेक्ष थे। अपने यौवन में वे अज्ञेयवादी (Agnostic) थे, यद्यपि आगे चलकर ये आस्तिक हो गए होंगे; परन्तु उनके लिए धर्म वैयक्तिक उद्यम था, जिससे इनके राजनैतिक विचार कभी भी प्रभावित नहीं हुए। यह भी आंग्ल उदार परम्परा के अनुरूप ही था।

सन् १९१५ से १९१८ ई० में एक छोटी अवधि के लिए कांग्रेस, मुस्लिम लीग और नर्म दल के अनुयायी देशभक्तों ने राजनैतिक परिवर्तनों के लिए संवैधानिक माध्यम को सम्मिलित रूप से स्वीकार किया। नर्म दल वालों के समान ही कुछ समय के लिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कांग्रेस-सदस्य भी ब्रिटिश शासन से अनुबन्ध के पक्ष में थे। उस समय भी जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति अपने उत्कर्ष पर थी, कांग्रेस मात्र अधिराज्य-स्तर (Dominion Status) की माँग कर रही थी। युवक नेहरू ने Independence League संगठित की और तभी से कांग्रेस-सदस्य भी पूर्ण स्वतंत्रता की माँग ज़ोर से करने लगे। कांग्रेस का एक दल मान्ट फोर्ड सुधार को स्वीकार करने के पक्ष में भी था और साथ ही नव-निर्मित परिषदों की सहायता से संविधान को नष्ट करवाना भी चाहता था— इसे तो एक विचित्र स्थिति ही कहना चाहिए।

३. उग्र दल

आतंककारियों से भिन्न तथा नर्म दल के सर्वथा विपरीत महात्मा गांधी के कार्य-क्षेत्र में आने के पूर्व एक दल कार्यरत हो चुका था जिसका प्रतिनिधित्व बाल गंगाधर तिलक कर रहे थे। तिलक राष्ट्रीय चेतना के मूलभूत प्रतिष्ठान में विश्वास करते थे। राजनैतिक चित्रपटल पर वे भारत को एक पाश्चात्य सत्ता के दास के रूप में देख रहे थे और इससे मुक्ति पाने का साधन पूर्ण स्वतंत्रता के अतिरिक्त और वे कुछ नहीं मानते थे। उनके लिए पूर्ण राष्ट्रत्व को प्राप्त करने का अर्थ था अंग्रेज़ों से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना। भारत राष्ट्र की स्थापना करना तिलक के लिए एक पुनीत कर्त्तव्य था। इस कर्त्तव्यपूर्त्ति के लिए निःस्वार्थभाव से क्रियाशील होना चरम आदर्श था; और वे इस लक्ष्य की पृष्ठभूमि में "साधन" के औचित्य की विवेचना निरर्थक मानते थे। इसीलिए आतंकारी राष्ट्रीयता के औचित्य को भी सिद्ध करने का प्रयास इन्होंने किया था। तिलक के राजनैतिक विचारों पर इनके धार्मिक दृष्टिकोण एवं विश्वास की स्पष्ट छाप है। राष्ट्रीयता का अर्थ था सच्चे अर्थ में प्राचीन गौरवपूर्ण भारत की स्थापना करना। राजनैतिक कार्यों की महत्ता को बताने के लिए तिलक ने इनकी तुलना गीता के निष्काम कर्म से की। और इसी लक्ष्य की पृष्ठभूमि में साधन की गौणता के आधार पर आतंककारियों की क्रियाओं के औचित्य को सिद्ध किया।

परन्तु यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि आतंककारियों की ओर से सबल तर्क देने के बाद भी तिलक के राष्ट्रीय विचार उस प्रकार के नहीं थे। वे उग्रदलीय थे, न कि आतंककारी। हिन्दू राष्ट्र की पुनर्स्थापना के निमित्त विदेशी शासन का अन्त करना परम आवश्यक था, फलतः मात्र संवैधानिक स्तर पर अंग्रेज़ों से युद्ध करते रहने का प्रश्न इनके लिए नहीं उठता था। राष्ट्रीयता एवं स्वतंत्रता-आन्दोलन मात्र राजनैतिक वैधानिक लक्ष्य न होकर नैतिक और धार्मिक इष्ट के रूप में स्वीकृत हो गये थे। महात्मा गाँधी ने तिलक से ही यह सीखा कि राष्ट्रीयता तथाकथित वैधानिकता से प्राथमिक महत्व रखती है। फिर भी, मूल रूप से 'साधना के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर बना ही रहा। यद्यपि दोनों ही सीधी कार्यवाही (Direct Action) में विश्वास करते थे, पर जबकि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तिलक के लिए 'हिंसात्मक' और 'अहिंसात्मक' कार्यवाहियों में कोई अन्तर नहीं था, महात्मा गाँधी ने इस अन्तर पर स्पष्ट बल डालकर क्रान्तिकारी कार्यवाहियों को एक आध्यात्मिक अर्थ दिया।

४. अहिंसात्मक प्रतिरोधवादी दल:

सन् १६१८ ई० के बाद की प्रगतियों के कारण जब कांग्रेस और सरकार के बीच शान्तिपूर्ण संतुलित सम्बन्ध नहीं बना रह सका और बाद में जब कांग्रेस और लीग का सम्बन्ध भी टूटने लगा तो कांग्रेस ने गांधी के नेतृत्व में सरकार के प्रति अहिंसात्मक असहयोग की नीति को अपना लिया।

गाँधी जी के मूल विचार थे कि अवगुणों का दमन सद्गुणों से करना चाहिए। परन्तु ये यह भी मानते थे कि नैतिक शुभ की प्राप्ति में लौकिक-वैधानिक परम्परा को व्यवधान नहीं मानना चाहिए। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आदर्श को प्राप्त करने में जो कार्य सहायक हों, अवैधानिक होने पर भी उन्हें पूर्णतया उचित ही कहा जाएगा। निस्सन्देह, इसे राजनीति का नैतिक-धार्मिक दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन पर वैष्णव हिन्दू मनोवृत्ति के प्रभाव के कारण अहिंसात्मक नैतिकता पर अधिक आग्रह हो गया। पर गाँधी जी के लिये वैष्णव भावना 'शाश्वत दर्शन' है।

गाँधी जी के लिए अहिंसा एक नैतिक निर्देश था, जिसे सीमाबद्ध नहीं माना जा सकता। प्रो० सच्चिदानन्द मूर्ति ने अपनी पुस्तक "स्टडीज़ इन प्रॉब्लेम्स ऑफ पीस" में दिखलाया है—"गाँधी जी अहिंसा का प्रचार और व्यवहार करते समय दो तत्वों का आश्रय लेते हैं: (क) यह जीवन का नियम और मूलभूत नैतिक गुण है, और (ख) स्वभावतया सभी मानवों में देवत्व का अंश है, इसलिए सभी समान हैं।"

गाँधी जी का केवल मनोवैज्ञानिक अध्ययन ही अत्यधिक स्थूल नहीं था, प्रत्युत अहिंसा के सिद्धान्त का सामान्यीकरण भी अव्यावहारिक था। प्रो० मूर्ति ने अहिंसा के लक्ष्य-रूप और साध्य-रूप की दुर्बलता को दिखलाते हुए व्यावहारिक आवेष्टन सम्बन्धी विभिन्न दुर्बलताओं के अनेक उदाहरण दिये हैं।

फिर भी,उनके राजनैतिक एवं आर्थिक विचारों की पृष्ठभूमि में यह अवश्य ही प्रतीत होता है कि अपने अहिंसात्मक विचारधारा में संगति एवं क्रमबद्धता लाने के लिए इन्होंने उसके निगूढ़ पक्षों पर यथेष्ट ध्यान दिया है। जैसे, प्रो० मूर्ति ने अपनी पुस्तक में यह कहा है कि गाँधी जी को "सिर्फ विदेशी मामलों में ही अवगुणों के प्रति अप्रतिरोध की नीति नहीं अपनानी चाहिए थी प्रत्युत यह देशीय मामलों में भी अपनानी चाहिये थी। गाँधी जी ने इस असंगति को स्वयं ही स्वीकार किया है और इसका उत्तरदायी सैन्य शक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित आधुनिक शासन पद्धति को ठहराया है। परन्तु शक्ति-संयोजित सभी राजनैतिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यवस्थाओं को निमूल कर देने का पाठ पढ़ाने में गांधी जी कभी नहीं हिचके। ग्रामीण व्यवस्थाओं में उनकी अटूट आस्था थी, जिसमें समाज संचालन का आधार होगा 'आन्तरिक वाणी,' नकि बाह्य शक्ति का दवाव। उनका औद्योगिक समाज-स्थापना का विरोध यह बताता है कि वे आधुनिक सभ्यता और अहिंसात्मक प्रवृत्ति के असंतुलित सम्बन्ध को अच्छी तरह जानते थे। परन्तु प्रो० मूर्ति सदृश आलोचक पूछते हैं—"क्या अहिंसा की नीति को अपनाने के लिए राष्ट्र के लिए औद्योगिकता, कल-कारखाने, केन्द्रीय शासन व्यवस्था एवं विधान को छोड़ सैंकड़ों साल पीछे चला जाना उचित होगा?" इस आलोचना का निश्चित रूप से स्वीकारात्मक उत्तर गाँधी जी दे देते। निस्संदेह, गाँधी विचारधारा में पूर्णतया वैसे आदर्शों की स्थापना का आग्रह है जो विज्ञानजनित मूल्यों एवं लक्ष्यों का विरोध करते हैं—क्योंकि उनकी दृष्टि में विज्ञान अपनी उपयोगिता की सीमा लांघ चुका है और विज्ञान-जनित दुष्परिणामों से रक्षा कर सकने की क्षमता उनके आदर्शों में ही है। देखिए, महामान्या (डेम) कैथलीन लान्स्डेल और कमान्डर स्टीफेन किंगहाल आणविक प्रहारों का भी अहिंसात्मक प्रतिरोध करने की बात करते हैं। अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धान्त को नैतिक तथा हितकारी आधारों पर एक सफल मन्त्र के रूप में स्वीकार करना निश्चय ही गाँधी जी को अव्यावहारिकता के दोष से मुक्त कर देता है।

कांग्रेस का गांधी जी के अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ सम्पूर्ण गाँधी विचारधारा को ही स्वीकार कर लेना नहीं समझना चाहिए। अधिकतर कांग्रेस सदस्यों ने अहिंसा को साधन के रूप में स्वीकार किया, नकि लक्ष्य के रूप में, जैसाकि गाँधी जी का विशेष आग्रह था।

स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रति भारतीय मनोवृत्ति का विवेचन करने के पश्चात् अब हम देखेंगे कि ये विभिन्न राष्ट्रभक्त किन-किन राजनैतिक सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं।

(क) उदार प्रजातन्त्रात्मक विचार

भारतीय राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं पर उदार परम्परा का एकमात्र विशिष्ट प्रभाव रहा है। भारतीय राष्ट्रीयता का उद्भव इसी परम्परा से हुआ है।

राज्य के स्वरूप एवं सरकार के कर्तव्य के प्रति भारतीय राष्ट्रीय विचार, कांग्रेस के मुख्य विचार भी, उदार मनोवृत्तियों से प्रभावित थे। इस शताब्दी के दूसरे शतक के अन्त में समाजवादी सिद्धान्तों के कुछ समर्थक सामने आए, परन्तु इस सिद्धान्त को महत्वपूर्ण सामाजिक स्वीकृति चतुर्थ शतक के पास ही मिल सकी। भारतीय राजनैतिक विचारधारा को उदारवादी विचार अपनी विभिन्न परम्पराओं से प्रभावित करता रहे हैं।

पर, उदारवाद है क्या? उदारवाद के अर्थ के विषय में पाश्चात्य मत भी अस्पष्ट है, और भारत में प्रयोग होने पर इसमें और भी परिवर्तन आ गए। यूरोपीय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उदारवाद के मुख्य नियामक तत्व हैं—व्यक्ति की प्रतिष्ठा, राजनैतिक प्रजातंत्र के साथ ही राजनैतिक अधिकार एवं प्रतिनिधि व्यवस्थाएँ, आर्थिक व्यवस्थाओं पर न्यूनतम राज्य नियंत्रण और धर्म-निरपेक्ष राजनैतिक दृष्टिकोण। यद्यपि कांग्रेस के बहुत से सदस्य उदारवादी संवैधानिक आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे, फिर भी वे यह मानते थे कि स्वतंत्र होने पर भारत में उदार प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थापना होगी। चूँकि कांग्रेस का नेतृत्व उन व्यक्तियों के हाथ में था जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों से उच्चवर्ग के थे, और पूँजीपतियों से आन्दोलन में यथेष्ट सहायता मिल रही थी इसलिए इन आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अधिकतर कांग्रेस सदस्य इससे अधिक नहीं सोच सके कि स्वतंत्र भारत की बागडोर उच्च वर्ग के ही हाथ में रहेगी। कम-से-कम एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है: कांग्रेस ने कभी भी गम्भीर रूप से जनता को ऊपर उठाने की सम्भावनाओं पर विचार नहीं किया,उन्हें भी राजनैतिक शक्ति के भागीदार के रूप में प्रतिष्ठा नहीं दी। गांधी जी राजनैतिक आन्दोलन के साथ ग्रामीण समाज सुधार का आन्दोलन भी संचालित करना चाहते थे, परन्तु इस बात पर नीचे के नेताओं ने अत्यधिक महत्त्व नहीं दिया। ये आधुनिक विश्व में भारत को भी एक उन्नत वैज्ञानिक एवं औद्योगिक राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित कराना चाहते थे। फलतः समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की कोई भी परिकल्पना कर सकना इनके लिए दुरूह कार्य था। भारतीय विधान सभा (I. Const. Assembly) की मनोवृत्ति इसी तथ्य की परिचायक है। यद्यपि संविधान की प्रस्तावना में समाजवादी गणतंत्र की स्थापना लक्ष्य रूप में स्वीकृत थी, फिर भी सम्पत्ति पर मौलिक अधिकार पर हुए वाद-विवाद अधिकतर सदस्यों के व्यक्ति-वादी पक्षपात को परिलक्षित करते हैं। इस पक्षपात से अन्त में अत्यन्त अनिच्छा से ही ये लोग अपने को पृथक् कर सके।

समाजवाद को स्वीकार कर लेने की पंडित नेहरू की तर्क प्रणाली सिद्धान्तवादी नहीं थी, वह तो एक इच्छा थी कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर जन-समुदाय के हितों को भुलाया नहीं जाएगा। उन्हें भय था कि यदि राजनैतिक आन्दोलन को जन-हित आन्दोलन का रूप नहीं दिया गया तो समाज का मध्य वर्ग नेतृत्व अपने हाथ में ले लेगा, जैसाकि चीन में चाँग-काई-शेक के आधीन हुआ। और पं० नेहरू अच्छी तरह जानते थे कि अधिकतर काँग्रेस सदस्य मध्यवर्गीय मनोवृत्ति के ही हैं।

इस प्रकार कुछेक सच्चे गांधीवादी एवं उत्साही समाजवादियों को छोड़ सामान्य कांग्रेस सदस्यों के समक्ष स्वतंत्रता के पश्चात् कोई निश्चित समाज व्यवस्था की परि-कल्पना नहीं थी। स्वतंत्र भारत का अर्थ उनके लिए था राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ ही साथ प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली और औद्योगिक समाज, जहाँ आर्थिक विनिमय की पूरी स्वतन्त्रता होगी। ऐसे विचार, जिन्हें परंपरावादी (Conservative) कहा जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सकता है, सिद्धान्त के रूप में स्वतन्त्र पार्टी द्वारा स्वीकृत कर लिए गए हैं।

तिलक जैसे उग्रवादियों के विचार यद्यपि सर्वथा भिन्न नाम से पुकारे जाते हैं, फिर भी, कम–से–कम अपने आर्थिक दृष्टिकोण में, इस उदार प्रजातंत्रात्मक दृष्टि से अत्यधिक भिन्न नहीं कहे जा सकते। यह सत्य है कि तिलक उपयोगितावाद और विचारों को भारतीय आध्यात्मिक परम्परा के लिए घातक समझते थे। राणडे और गोखले प्राचीन समाज व्यवस्था में सुधार लाना चाहते थे, पर तिलक का विरोध उनकी मान्यता को स्पष्ट कर देता है। कुछेक लेखकों का मत है कि तिलक ने भारतीय राजनैतिक विचारधारा को पुनर्जीवित किया, जहां धर्म–पालित नैतिक निर्देश ही सामाजिक और राजनैतिक कार्यों के आदर्श माने जाते हैं। यदि इस मत को मान भी लें, तब भी कहा जा सकता है कि तिलक के सामाजिक और राजनैतिक विचार सनातन पंथी ही थे। १८वीं शताब्दी में प्राकृतिक नियम व प्राकृतिक स्वत्व को जो आदर मिला था वही आदर तिलक ने अपने 'निर्देशों' को भी दिया। पाश्चात्य पद्धति पर भारत के औद्योगीकरण के विरुद्ध वे नहीं थे। परन्तु वे कम्यूनिस्टों की तरह सामूहिक मत के विरुद्ध थे। इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तिलक का आर्थिक दृष्टिकोण पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थक था। परन्तु एक बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि तिलक के राजनैतिक विचार उनकी सनातन धर्म में आस्था और दासता की बेड़ियों से भारत को स्वतंत्र कराने की व्यावहारिक इच्छा के परिणाम थे। इसलिए उनके विचार की धार्मिकता को समझ सकना आसान है, पर उनके आर्थिक दृष्टिकोण को समझ कर यह आसानी से नहीं कहा जा सकता कि वे व्यक्तिवादी हैं। फिर भी, तिलक का जाति–व्यवस्था का कट्टर समर्थन तथा समाज सुधार का विरोध समाजवादी समानता के सिद्धान्त पर कठोर प्रहार करते हैं।

तिलक के प्रमुख राजनैतिक विचार जनसंघ की नीति में रूपान्तरित हो गए हैं और यह ध्यान देने की बात है कि यह संघ अपने सामाजिक और आर्थिक सिद्धान्तों में अति सनातन-पंथी है। यह कहना कठिन है कि सनातन पंथी विचारधारा का जन्म संघ के धार्मिक दृष्टिकोण के कारण है या संघ के मध्यम वर्ग और उच्च जाति के लोगों से संयुक्त होने के कारण।

(ख) समाजवादी विचार:

भारत में समाजवादी विचार का अभ्युदय अभी हाल ही में हुआ है। इसके देर में पनपने के कई कारण हैं। कांग्रेस, जो भारत की काफी देर तक एकमात्र राजनैतिक संस्था के रूप में रही है, अपने नेताओं द्वारा मध्यवर्गीय उदार विचारधारा से निर्देशित हो रही थी। तिलक सदृश उग्रवादी नेता समाजवाद के समतावादी और भौतिकवादी झुकाव के प्रति संदेहशील थे, और फिर यूरोप में भी समाजवाद अपने को प्रतिष्ठित करने का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रयत्न ही कर रहा था। रूसी क्रान्ति ने सारे विश्व में समाजवादी आस्था एवं अपेक्षा को जगा दिया, यद्यपि उस समय भी विकासवादी समाजवाद और मार्क्सवाद में अन्तर स्पष्ट होने लगा था।

इस प्रकार भारत में कम्यूनिस्ट विचारों का प्रसरण समाजवादी विचारों के प्रसरण से पूर्व ही हो गया। फिर भी यहां हम समाजवादी विचारों का विवेचन करेंगे।

एक प्रकार से कांग्रेस में आई गाँधीवादी क्रान्ति ने सारी संस्था को ही गाँधीवादी बना दिया, और इसमें ग्रामीण जनता के हितों पर अधिक ध्यान दिया गया था। फलस्वरूप कांग्रेस ने ज़मींदारी उन्मूलन और खेती संबंधी सुधारों की नीति अपनायी, जिनसे पता चलता है कि कांग्रेस समाजवादी विचारों की ओर झुक रही थी। फिर भी, गांधीवाद को स्वप्निल समाजवाद (Utopian Socialism) के नाम से ही पुकारा जा सकता है। जबकि कांग्रेस के बहुत से सदस्य गाँधीवादी नैतिकता को ही अपनाए थे, इसी संस्था के युवक-वर्ग ने पाश्चात्य समाजवादी विचारों को पूर्णतया अपना लिया। इनका औद्योगीकरण और राष्ट्रीयकरण उद्देश्य था, विज्ञान और उद्योग के माध्यम से प्रगति में विश्वास था और रूढ़ीवादी परम्परा और रीति-रिवाज़ में पूरा अविश्वास था।

जवाहर लाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, अच्युत पटवर्द्धन और अशोक मेहता ने यूरोपीय समाजवाद को अच्छी तरह अपनाया। इनका विश्वास जितना प्रजातांत्रिक व्यवस्था की हितकारिता में था उतना ही समाजवादी व्यवस्था में भी। सन् १९३५ ई० में 'समाजवाद क्यों?' शीर्षक पुस्तक में जय प्रकाश नारायण ने गाँधी जी के विचारों का बुरी तरह खण्डन किया। मार्क्सवाद के आधार पर समाजवादी प्रजातंत्र की स्थापना करना इनका उद्देश्य था।

अन्य सिद्धान्तवादी समाजवादियों के समान भारतीय समाजवादी भी राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में कृषि और उद्योग के बीच अभियोजन स्थापित करने की समस्या पर विचार करते थे। सभी सैद्धान्तिक समाजवादियों की तरह ही ये भी कृषक-प्रधान दृष्टि को हेय समझते थे, क्योंकि उससे केवल ग्रामीण वर्ग के ही पनपने का भय था। इस विषय पर नरेन्द्र देव कहते हैं—"यह दृष्टिकोण सिर्फ किसानों के हित की ही सीमित एवं संकीर्ण दृष्टि से सारी समस्याओं का अवलोकन करता है। यह मत इस विचार से प्रेरित होता है कि आर्थिक व्यवस्था एवं राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन के हर चरण में कृषकों के विशिष्ट स्तर को बनाए रखना ही होगा।........ ऐसा दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है और एक छोटे समुदाय को अत्यधिक महत्व प्रदान करने की मनोवृत्ति का परिचायक है।" इस उक्ति से समाजवादियों और गाँधीवादियों का विरोध स्पष्ट हो जाता है।

कृषक-प्रधान दृष्टिकोण की इतनी कटु आलोचना इस बात की द्योतक है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विकासोन्मुख औद्योगिक व्यवस्था की उपयोगिता में इन्हें अटूट आस्था थी। इन्होंने सामाजिक व्यवस्था के आमूल परिवर्तन पर बल दिया और रूढ़ीवादी रीति-रिवाज़ और परम्परा का खंडन किया और धर्म के स्थान पर विज्ञान की स्थापना लक्ष्य रखा। यह ध्यान देने की बात है कि पिछले पच्चीस वर्षों से लगातार भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल समाजवादी सिद्धान्तों को रूपान्तरित करने का प्रयास करने के बाद भी यहाँ के समाजवादी भारतीय ग्रामीण प्रवृत्ति, परम्परा और व्यवस्था के लाभ को कतई नहीं मानते। अशोक मेहता कहते हैं—"पुरानी प्रवृत्तियों को फिर से स्थापित नहीं किया जा सकता। वे कुछेक सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक वातावरण के परिणाम थे। दोनों ही बदल गए हैं, फलतः वे प्रवृत्तियाँ भी समाप्त हो गई हैं।"

समाजवादी सिद्धान्त को भारतीय समाजवादियों की सबसे बड़ी देन यह स्वीकृति है कि सिद्धान्तों के प्रणयन के समय भारतीय परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना होगा। इसलिए कृषि और उसकी समस्याओं को पहले सुलझाना होगा। वे इस बात को भी मानते हैं कि काफी दिनों तक समाजवाद कल–कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों की समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त नहीं होगा, वरन् कृषकों के अधिकार की समस्याओं के सुलझाव में ही प्रवृत्त होगा।

अनुकूल परिस्थितियों के सृजन में परम्परागत नैतिक मूल्यों के यथोचित महत्त्व को स्वीकार कर लेना यहां के समाजवादियों की मौलिकता प्रदर्शित करता है। समाजवाद के पनपने के लिए एक सांस्कृतिक वातावरण की आवश्यकता होती है और भारतीय परम्परा में ऐसे वातावरण की सृष्टि कर सकने की क्षमता है। इसीलिए मिल्टन सिंगर के कथन का अनुमोदन करते हुए अशोक मेहता उन्हें उद्धृत करते हैं—"भारतीय समाजवाद पर लिखी पुस्तक का उचित शीर्षक होगा 'हिन्दू आचार शास्त्र और समाजवाद के तत्व'। मैंने सिर्फ यही दिखलाना चाहा है कि त्याग और सन्यास की बात करता हुआ परम्परागत भारतीय दर्शन आर्थिक विकास में कभी भी एक बड़ा व्यवधान नहीं माना जा सकता, सारे समय भारतीय जीवन के भौतिक पक्ष से भी यह सम्बन्धित रहा है। पिछले सौ वर्षों में धार्मिक–सामाजिक सुधारकों द्वारा मुख्यतया गांधी द्वारा, जैसी व्याख्या प्रस्तुत की गई है उस से पता चलता है कि यह आधुनिक औद्योगिक समाज के लोगों में भी आध्यात्मिक प्रेरणा और अनुशासन का भाव भर सकने में सक्षम है।"

पीछे प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का उद्भव, जिसमें सोशलिस्ट पार्टी और कृषक–मज़दूर पार्टी भी मिल गए, इस बात का प्रमाण है कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल ही समाजवादी नीति में भी यथोचित परिवर्तन किए गए।

मुख्यतया नेहरू की ही प्रेरणा से कांग्रेस ने समाजवाद को अपनाया था। सन् १९२८

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रयत्न ही कर रहा था। रूसी क्रान्ति ने सारे विश्व में समाजवादी आस्था एवं अपेक्षा को जगा दिया, यद्यपि उस समय भी विकासवादी समाजवाद और मार्क्सवाद में अन्तर स्पष्ट होने लगा था।

इस प्रकार भारत में कम्यूनिस्ट विचारों का प्रसरण समाजवादी विचारों के प्रसरण से पूर्व ही हो गया। फिर भी यहां हम समाजवादी विचारों का विवेचन करेंगे।

एक प्रकार से कांग्रेस में आई गाँधीवादी क्रान्ति ने सारी संस्था को ही गाँधीवादी बना दिया, और इसमें ग्रामीण जनता के हितों पर अधिक ध्यान दिया गया था। फलस्वरूप कांग्रेस ने ज़मींदारी उन्मूलन और खेती संबंधी सुधारों की नीति अपनायी, जिनसे पता चलता है कि कांग्रेस समाजवादी विचारों की ओर झुक रही थी। फिर भी, गांधीवाद को स्वप्निल समाजवाद (Utopian Socialism) के नाम से ही पुकारा जा सकता है। जबकि कांग्रेस के बहुत से सदस्य गाँधीवादी नैतिकता को ही अपनाए थे, इसी संस्था के युवक-वर्ग ने पाश्चात्य समाजवादी विचारों को पूर्णतया अपना लिया। इनका औद्योगीकरण और राष्ट्रीयकरण उद्देश्य था, विज्ञान और उद्योग के माध्यम से प्रगति में विश्वास था और रूढ़ीवादी परम्परा और रीति-रिवाज़ में पूरा अविश्वास था।

जवाहर लाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, अच्युत पटवर्द्धन और अशोक मेहता ने यूरोपीय समाजवाद को अच्छी तरह अपनाया। इनका विश्वास जितना प्रजातांत्रिक व्यवस्था की हितकारिता में था उतना ही समाजवादी व्यवस्था में भी। सन् १९३५ ई० में 'समाजवाद क्यों?' शीर्षक पुस्तक में जय प्रकाश नारायण ने गाँधी जी के विचारों का बुरी तरह खण्डन किया। मार्क्सवाद के आधार पर समाजवादी प्रजातंत्र की स्थापना करना इनका उद्देश्य था।

अन्य सिद्धान्तवादी समाजवादियों के समान भारतीय समाजवादी भी राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में कृषि और उद्योग के बीच अभियोजन स्थापित करने की समस्या पर विचार करते थे। सभी सैद्धान्तिक समाजवादियों की तरह ही ये भी कृषक-प्रधान दृष्टि को हेय समझते थे, क्योंकि उससे केवल ग्रामीण वर्ग के ही पनपने का भय था। इस विषय पर नरेन्द्र देव कहते हैं—"यह दृष्टिकोण सिर्फ किसानों के हित की ही सीमित एवं संकीर्ण दृष्टि से सारी समस्याओं का आवलोकन करता है। यह मत इस विचार से प्रेरित होता है कि आर्थिक व्यवस्था एवं राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन के हर चरण में कृषकों के विशिष्ट स्तर को बनाए रखना ही होगा।······ ऐसा दृष्टिकोण अवैज्ञानिक है और एक छोटे समुदाय को अत्यधिक महत्व प्रदान करने की मनोवृत्ति का परिचायक है।" इस उक्ति से समाजवादियों और गाँधीवादियों का विरोध स्पष्ट हो जाता है।

कृषक-प्रधान दृष्टिकोण की इतनी कटु आलोचना इस बात की द्योतक है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विकासोन्मुख औद्योगिक व्यवस्था की उपयोगिता में इन्हें अटूट आस्था थी। इन्होंने सामाजिक व्यवस्था के आमूल परिवर्तन पर बल दिया और रूढ़ीवादी रीति-रिवाज़ और परम्परा का खंडन किया और धर्म के स्थान पर विज्ञान की स्थापना लक्ष्य रखा। यह ध्यान देने की बात है कि पिछले पच्चीस वर्षों से लगातार भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल समाजवादी सिद्धान्तों को रूपान्तरित करने का प्रयास करने के बाद भी यहाँ के समाजवादी भारतीय ग्रामीण प्रवृत्ति, परम्परा और व्यवस्था के लाभ को कतई नहीं मानते। अशोक मेहता कहते हैं—"पुरानी प्रवृत्तियों को फिर से स्थापित नहीं किया जा सकता। वे कुछेक सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक वातावरण के परिणाम थे। दोनों ही बदल गए हैं, फलतः वे प्रवृत्तियाँ भी समाप्त हो गई हैं।"

समाजवादी सिद्धान्त को भारतीय समाजवादियों की सबसे बड़ी देन यह स्वीकृति है कि सिद्धान्तों के प्रणयन के समय भारतीय परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना होगा। इसलिए कृषि और उसकी समस्याओं को पहले सुलझाना होगा। वे इस बात को भी मानते हैं कि काफी दिनों तक समाजवाद कल-कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों की समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त नहीं होगा, वरन् कृषकों के अधिकार की समस्याओं के सुलझाव में ही प्रवृत्त होगा।

अनुकूल परिस्थितियों के सृजन में परम्परागत नैतिक मूल्यों के यथोचित महत्त्व को स्वीकार कर लेना यहां के समाजवादियों की मौलिकता प्रदर्शित करता है। समाजवाद के पनपने के लिए एक सांस्कृतिक वातावरण की आवश्यकता होती है और भारतीय परम्परा में ऐसे वातावरण की सृष्टि कर सकने की क्षमता है। इसीलिए मिल्टन सिंगर के कथन का अनुमोदन करते हुए अशोक मेहता उन्हें उद्धृत करते हैं—"भारतीय समाजवाद पर लिखी पुस्तक का उचित शीर्षक होगा 'हिन्दू आचार शास्त्र और समाजवाद के तत्व'। मैंने सिर्फ यही दिखलाना चाहा है कि त्याग और सन्यास की बात करता हुआ परम्परागत भारतीय दर्शन आर्थिक विकास में कभी भी एक बड़ा व्यवधान नहीं माना जा सकता, सारे समय भारतीय जीवन के भौतिक पक्ष से भी यह सम्बन्धित रहा है। पिछले सौ वर्षों में धार्मिक-सामाजिक सुधारकों द्वारा मुख्यतया गांधी द्वारा, जैसी व्याख्या प्रस्तुत की गई है उस से पता चलता है कि यह आधुनिक औद्योगिक समाज के लोगों में भी आध्यात्मिक प्रेरणा और अनुशासन का भाव भर सकने में सक्षम है।"

पीछे प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का उद्भव, जिसमें सोशलिस्ट पार्टी और कृषक-मज़दूर पार्टी भी मिल गए, इस बात का प्रमाण है कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल ही समाजवादी नीति में भी यथोचित परिवर्तन किए गए।

मुख्यतया नेहरू की ही प्रेरणा से कांग्रेस ने समाजवाद को अपनाया था। सन् १९२८

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ई० के पास इन्होंने जय प्रकाश नारायण तथा नरेन्द्र देव के साथ मिलकर एक अलग गुट बनाया तथा समाजवादी सिद्धान्तों के ग्रहण कर लिए जाने पर विशेष बल दिया। उन्हीं के आग्रह पर सन् १६२६ ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने सिद्धांततः एक समाजवादी कार्य-क्रम को लक्ष्यरूप में स्वीकार करने के प्रस्ताव को मान लिया। फिर भी, इसके गर्भितार्थ को कांग्रेस ने गम्भीरतापूर्वक कभी स्वीकार नहीं किया, और कुछ दिन बाद जब निश्चित समाजवादी कार्यक्रम कांग्रेस सदस्यों के सम्मुख आया तो उन लोगों ने इसका घोर विरोध किया।

इस आधार पर कह सकते हैं कि नेहरू का समाजवादी दृष्टिकोण इधर कुछेक वर्षों की देन नहीं है। मुख्यतया नेहरू के ही विशेष आग्रह एवं प्रेरणा पर संविधान सभा ने भारत को समाजवादी गणतंत्र घोषित किया। परिणामतः इन्हीं के प्रयासों के कारण समाजवादी ढाँचे की समाजव्यवस्था को लाने का प्रण कांग्रेस ने किया।

निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नेहरू का समाजवाद प्रजातंत्रात्मक समाजवाद की ही एक उपजाति है, जिसमें मार्क्स का ऐतिहासिक दृष्टिकोण, उग्र उदारवाद और वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीयता का अपूर्व सम्मिश्रण है।

जहां तक नेहरू के झुकाव का संबंध है, नेहरू को मार्क्सवाद का वैज्ञानिक विवेचन ही आकर्षित कर सका। नेहरू की वैज्ञानिक प्रकृति को मार्क्सवाद का मनुष्य के भौतिक उपकरणों पर विशेष बल देना, ऐतिहासिक विकास की व्याख्या और द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को सार्वलौकिक विधि के रूप में प्रस्तुत करना अत्यन्त रुचिकर लगे। वैज्ञानिकता के प्रति यह झुकाव नेहरू के विचार का आधार है और सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर वैज्ञानिक अध्ययन के फलस्वरूप ही उनके समाजवाद की रूपरेखा बनी। मार्क्सवाद को फ्रांसीसी भौतिकवादी विचारधारा का योगदान मिला था और नेहरू की विचारधारा से यह काफी मिलता-जुलता था। इसकी मानवीय बुद्धि में अटूट आस्था, जैसाकि विश्व कोष रचनाओं ने दिखलाया है, और इसका प्रकृतिवाद नेहरू के विचारों के अनुकूल था। मार्क्स का यह तथाकथित 'वैज्ञानिकवाद' (Scientism) नेहरू और मार्क्स के बीच एक अटूट कड़ी है। परन्तु नेहरू कभी भी 'वर्ग-संघर्ष' और श्रमिकों के एकसत्तावाद के विचारों को स्वीकार नहीं कर सके।

परन्तु नेहरू की प्रजातंत्रात्मक पद्धति में वास्तविक आस्था थी और वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए अद्भुत आग्रह था। प्रजातंत्रात्मक संस्थाओं की गुणकारित में उनका पूर्ण विश्वास उनके विचारों से स्पष्ट प्रकट हो जाता है। इसके साथ ही समाजवाद के लिए विशिष्ट आग्रह उन्हें 'फेवियनिज़्म' के अत्यधिक निकट ला देता है। प्रारम्भ के फेबियन-सदस्यों से उनके समाजवादी दृष्टिकोण में अधिक अन्तर नहीं है। फेबियन-विचारधारा के बहुत निकट पड़ना ही नेहरू के विरुद्ध एक आलोचना का विषय है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह कहा जाता है कि २०वीं शताब्दी में पूँजीवादी व्यवस्था में इतना परिवर्तन हुआ है कि अब इसको १९वीं शताब्दी के फेबियन-दृष्टिकोण से देखना भ्रामक एवं अयथार्थवादी होगा। इसलिए नेहरू के समाजवाद को कई लोग रूढ़ीवादी एवं स्थूल मानते हैं, जिसका समकालीन सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में हुए परिवर्तन से कोई सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता है।

परिवर्त्तन के निमित्त हिंसात्मक उपायों के बहिष्कार की शिक्षा नेहरू को एक दूसरे ही स्रोत से मिली है। यही गाँधीवादी आचारशास्त्र का मूल नियम है। गाँधीवाद को इन्होंने मात्र राजनैतिक चाल के रूप में अंगीकार नहीं किया, वरन् उसे सिद्धान्त के रूप में अपना लिया; यद्यपि उसका पालन करना अत्यन्त ही कठिन था। साधन की समस्या इनके लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसलिए इन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में अहिंसात्मक पद्धति को ही अपनाया और समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विकासात्मक पद्धति को उचित समझा। परन्तु फेबियन अनुक्रमिकता (Gradualism) और गाँधीवादी अहिंसात्मक परिवर्त्तन के बीच एक विशेष अन्तर है। फेबियन अनुक्रमिकता के आधार हैं व्यावहारिक सफलता एवं उपयोगिता के विचार, जबकि गाँधीवादी अहिंसा सर्वप्रथम एक नैतिक निर्देश है। इनमें से कौन नेहरू के विचारों की प्रेरणा है, यह कहना कठिन है।

मनुष्य की दयनीय स्थिति के प्रति वास्तविक चिन्ता पर ही नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय भावना आधारित है। उनकी मानव-भावना उन्हें संकीर्ण दायित्वों से ऊपर उठा देती है और उन्हें एक विस्तृत दृष्टिकोण प्रदान करती है। यह तो भली-भाँति ज्ञात है कि मार्क्सवादी और समाजवादी सिद्धान्त भी अन्तर्राष्ट्रीय भावना से भरे हैं। उनकी वैदेशिक नीति को इस तथ्य से निर्देशन मिलता है। शीत युद्ध के कारण उत्पन्न आज के विश्व की भयावह अवस्था नेहरू में चिन्ता व क्लेश भर देती है। परन्तु समाजवादी दृष्टिकोण एवं उपनिवेशवाद के विरुद्ध मान्यताएँ इन्हें पाश्चात्य ढंग पर स्थिति का अध्ययन नहीं करने देते। वस्तुतः, उपर्युक्त तत्वों के कारण इन्हें रूसी गुट से कभी-कभी लाभ भी मिल जाता है। दूसरी ओर कम्यूनिस्टों द्वारा प्रदर्शित नैतिकता के प्रति अनास्था एवं समाजवादी मूल्यों का तिरस्कार नेहरू को कभी साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) नहीं होने देता।

स्वैच्छिक त्याग की अवधारणा ही गाँधीवाद और समाजवाद में अन्तर ला देती है। निस्सन्देह, कुछेक समाजवादी भी व्यक्ति की परोपकार-भावना में विश्वास करते हैं। परन्तु इनकी समझ से आज की सामाजिक स्थिति उस भावना की क्रियाशीलता में अवरोध उत्पन्न करती है और इसीलिए ये सर्वप्रथम सुधार के लिए आन्दोलन करना चाहते हैं, ताकि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए जहां मनुष्य की परोपकार-भावना के क्रिया-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शील होने में कोई बाह्य वाधा न खड़ी हो। इसलिए विधानों के माध्यम से ये सामाजिक स्थितियों में सुधार लाना चाहते हैं। परन्तु, गाँधी जी और आचार्य भावे किसी भी प्रकार का बाह्य दवाव डालकर व्यक्ति को उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का बोध कराने के विरुद्ध हैं। उनकी दृष्टि में संगठित शक्ति वरदान नहीं अभिशाप ही सिद्ध हुई है। आग्रह की शक्ति सरकार की शक्ति से अधिक प्रभावकारी है, और आजकल राजनीति में किसी भी सामाजिक इच्छा को अभिव्यक्त करने का यही सबसे सुगम एवं स्वाभाविक माध्यम है

संगठित शक्ति के प्रति गाँधीवादी सन्देह का अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि यहाँ सभी प्रकार के सामाजिक नियंत्रण की आलोचना हुई है। गाँधीवाद सरकार और उसके नियमों और अनुशाओं में विश्वास करता है। परन्तु इन पर किसी विशिष्ट संस्था का ही स्वार्थ मूलक नियंत्रण नहीं होना चाहिए, जो सरकार को अपनी वृत्ति वना कर उस पर एकाधिपत्य जमाए रहे। सरकार और उसके नियम जन-साधारण के जीवन के अंश वन जाएं, और यहाँ राष्ट्र का हर व्यक्ति वास्तविक भागीदार होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजनैतिक शक्ति का आधिपत्य, जैसाकि आजकल हो रहा है, अवश्य समाप्त हो जाना चाहिए और इस शक्ति को स्वेच्छा से सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने की ओर लगाना चाहिए।

राजनैतिक सत्ता में ऐसे अविश्वास में कुछ अराजकतावाद (Anarchism) की गंध मिलती है।

जो भी हो, ये गुट-संघर्ष को शुभ और अशुभ के बीच, नैतिकता और अनैतिकता के बीच, या शान्ति-प्रिय और आक्रमणकारी के बीच संघर्ष का प्रतीक नहीं मानते हैं। क्योंकि सर्वप्रथम कोई भी पक्ष इनकी दृष्टि में निर्दोष नहीं हैः दूसरे, राजनीति में नैतिकता की किसी निश्चित परिभाषा को स्वीकार करने में ये शंका करते हैं। ये यह विश्वास नहीं करते कि शीत युद्ध में नैतिकता पर किसी एक ही पक्ष का एकाधिकार है। शक्ति-सम्पन्न गुटों के बीच के संघर्ष (संघर्ष के स्वरूप के वारे में भी) के प्रति उपेक्षा के भाव के कारण ही नेहरू तटस्थता (Nonalignment) की नीति अपनाए हैं। विश्वशान्ति की वांछनीयता में इनका अपूर्व विश्वास ही एक स्वतःसिद्ध नैतिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की परिपूर्णता न तो शीत युद्ध से सम्भव है और न वास्तविक युद्ध की परिणति से, इसलिए नेहरू इस शीत युद्ध की परिणति शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में कर देना चाहते हैं।

(ग) गांधीवाद और सर्वोदय

समकालीन भारतीय राजनैतिक विचारधारा की सबसे मौलिक देन है—गाँधीवादी विचार। जबकि उपर्युक्त राजनैतिक विचार पाश्चात्य सिद्धान्तों के ही परिवर्तित भारतीय रूप हैं, गाँधीजी के सामाजिक और राजनैतिक विचार मौलिक और सशक्त हैं। इसका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह अर्थ नहीं कि गाँधीवादी विचार सब प्रभावों से स्वतंत्र हैं। गाँधीवाद की प्रमुख मान्यताएं—जैसे, सार्वलौकिक उन्नति, सामाजिक सम्बन्धों के सन्तुलन में विश्वास, ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त (जिसमें ग्रामीण हितों के प्रति विशेष आग्रह है), विकेन्द्रीकरण का विशिष्ट आग्रह, मनुष्य की परोपकारिता में दृढ़ विश्वास—निस्संदेह विभिन्न मतों में मिल सकती हैं। गाँधीवाद की मौलिकता इस बात में है कि, उस समय जबकि औद्योगिक प्रगति और संगठित शक्ति का बोलबाला था, गाँधी जी ने इनका स्पष्ट कटु विरोध कर वैयक्तिक महत्ता को पुनर्जीवित किया, आन्तरिक नैतिकता को प्रतिस्थापित किया और मोजेज (Moses) की तरह स्वर्गिक सरलता से पूर्ण स्थान में लौटा ले चलने का आश्वासन दिया। सर्वोदय के विचार का विश्लेषण कर निम्न तत्व पाए जा सकते हैं:

१. मनुष्य की परोपकार-भावना,

२. शक्ति के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण की अस्वीकृति,

३. अपरिमित भौतिक उन्नति के प्रयास का त्याग, और

४. ग्राम और विकेन्द्रीकरण की ओर अधिक झुकाव।

मानव स्वभाव के प्रति आशावादी आस्था पर ही सर्वोदय या विश्वजनीन उत्थान का सिद्धान्त आधारित है। कि मनुष्य मूलतः परोपकारी है और इसलिए हर समाज सुधार का एकनिष्ठ लक्ष्य परोपकार ही होना चाहिए, यही गांधीवादी ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का आधार है। किसी भी व्यक्ति में परिवर्तन लाने का सबसे प्रभावशाली माध्यम है उसके भावनात्मक पक्ष को निवेदन करना; तभी उसे समाज के दुर्भाग्य-ग्रस्त एवं अशक्त व्यक्तियों के प्रति अपने कर्तव्य का बोध हो सकता है। सर्वोदय इस बात में विश्वास करता है कि यदि नैतिक विधि का ही केवल पूर्णतया पालन किया जाए तो स्वेच्छा से व्यक्ति अपनी सम्पत्ति या सुख का त्याग कर सकता है। समाज-सुधार में वैयक्तिक इच्छा और संकल्प के महत्व को जो गाँधीवाद में प्रमुखता मिली है उसे ही आचार्य विनोबा भावे अपने शब्दों में भूदान, श्रमदान और सम्पत्तिदान के नाम से पुकारते हैं।

व्यक्तियों के स्वैच्छिक परिवर्तन के सहारे सामाजिक क्रान्ति लाने के लिए विनोबा का अथक आग्रह, सरकार की संस्थाओं की कार्यक्षमता में अविश्वास तथा मानव स्वभाव में अपूर्व विश्वास अराजकतावादी (Anarchist) की उस मान्यता की याद दिलाते हैं जहाँ माना जाता है कि सरकार की व्यवस्थाओं के कारण ही सामाजिक कुरीतियों और बुराइयों का जन्म होता है।

राजनीति और राजनैतिक सत्ता में ऐसे अविश्वास के साथ ही साथ जय प्रकाश नारायण का निर्दलीय (Party less) प्रजातंत्र का विचार भी देखने को मिलता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सर्वोदय विचारधारा की पृष्ठभूमि में ही यह विचार भी सत्ता और सत्ता–संघर्ष की, जिसे प्रजातंत्रात्मक विधि के नाम से पुकारा जाता है, पूर्णतया निन्दा करता है। इस विचार से यह भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि किस प्रकार आधुनिक प्रजातंत्र समाज में कुछेक स्वार्थी प्रकृतियों को ही उभाड़ने का काम करता है, सब के हित की बात ऐसी व्यवस्था में नहीं सोची जा सकती है।

पर निर्दलीय (Party less) प्रजातंत्र के आग्रह को एकदलीय शासन व्यवस्था का ही परिवर्तित रूप माना जा सकता है, जहाँ कि आधुनिक प्रजातंत्र के सारे उपचार भी स्थान पा जाते हैं। ऐसी अवस्था में सरकार के हाथों में सत्ता का एकाधिपत्य अधिक सम्भव है, और इसकी भी सम्भावना है कि आगे चलकर एकदलीय शासन तानाशाही (Dictatorial) शासन व्यवस्था में परिणत हो जाए।

सर्वोदय विचारधारा के प्रसंग में 'निर्दलीय प्रजातंत्र' पद के दोनों ही शब्द नए अर्थयुक्त हो जाते हैं। 'निर्दलीय' क्योंकि दलीय भावना सर्वोदय के अनुसार मानव–स्वभाव को विकृत कर देती है, और तब 'प्रजातंत्र' का अर्थ भी सर्वथा परिवर्तित हो जाता है, जबकि सत्ता के लिए किसी भी प्रकार के संघर्ष को अत्यन्त ही गौण महत्व दिया जाता है।

ऐसी बौद्धिक निरंकुशता, जिसमें आन्तरिक परिवर्तन को ही सर्वोपरि महत्व दिया जाता है, वस्तुतः आर्थिक और राजनैतिक जीवन के विकेन्द्रीकरण की माँग करती है। यहां सारे अधिकार गाँवों को दे देने की बात कही जाती है, जो अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाएँगे। और ऐसी विकेन्द्रित सामाजिक व्यवस्था ही वस्तुतः प्रजातंत्रात्मक और समतावादी होगी। इस प्रकार, बिना सरकार की सहायता के मात्र विकेन्द्रित ग्रामीण संस्थाओं द्वारा समतावादी समाज का निर्माण हो सकेगा।

गाँधीवाद राजनैतिक क्षेत्र में भी अध्यात्म का आश्रय नहीं छोड़ता है। यह मानव जीवन के उच्चतर आदर्शों में अपनी आस्था को छिपाता नहीं है और न कोलाहल-पूर्ण दैनिक जीवन में ही उसे एक क्षण के लिए भी ओझल होने देता है। गाँधीवादी आचारशास्त्र में अपरिमित भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के पीछे पागल होने को किसी भी प्रकार की स्वीकृति नहीं दी गई है। इसीलिए सर्वोदय औद्योगिक समाज–व्यवस्था की स्थापना के बिलकुल विरुद्ध है। सुखप्रद अस्तित्व, जहां कम–से–कम मांग हो, संतोष हो, आत्मनिर्भर ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था में ही संभव है। गांधी जी और भावे ने अच्छी तरह समझा है कि उनके सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के लक्ष्य के साथ औद्योगिकता का मेल नहीं बैठ सकता।

कुछ लोग ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था और आत्मनिर्भरता के विचारों को 'अयथार्थ' कह आलोचना कर सकते हैं। आज का 'समृद्ध समाज' (Affluent Society)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी जब समस्याओं को सुलझाने की जगह उलझाता ही जा रहा है, कुबेर की पूजा पागल की तरह की जा रही है, तो एक ऐसे ही मत की परम आवश्यकता है जो जीवन के प्रति एक सुलझा दृष्टिकोण दे सके। मानव की सारी इच्छाएँ कभी भी पूरी नहीं हो सकतीं। कहीं-न-कहीं उन्हें अतृप्त छोड़ना ही पड़ेगा। तो इस बात की अभिज्ञा लेकर ही यात्रा प्रारम्भ क्यों नहीं की जाए? एक ऐसे निष्कलुष समाज की व्यवस्था के निर्माण का प्रयास क्यों नहीं किया जाए जहाँ जीवन की आवश्यक सुविधाएं पूरी हो जाएंगी, जहां हमारा जीवन सरल और निष्कपट होगा? इस दृष्टिकोण से कह सकते हैं कि गांधीवाद एक शक्तिशाली सिद्धान्त है जो पाश्चात्य समाज की मान्यताओं के दोष का मौलिक ढंग से विश्लेषण करता है।

(घ) भारत में साम्यवाद

भारत में साम्यवाद के प्रसार पर विस्तारपूर्वक विवेचन करना आवश्यक नहीं है। किसी भी भारतीय द्वारा साम्यवादी विचारधारा को कोई उल्लेखनीय देन नहीं प्राप्त हुई है। जब से भारत में इसे कुछ स्थान प्राप्त हो गया तभी से अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व एवं गठबंधन का नाम लेकर इसने स्वतंत्रता-आन्दोलन से अपने को बिल्कुल तटस्थ रखा। इन दिनों भारतीय साम्यवाद ने भारतीय प्रजातंत्रात्मक विधान के अन्तर्गत सारी अवैधानिक कार्यवाहियों को छोड़ व्यवस्थात्मक रूप में काम करना स्वीकार कर कदाचित् एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है। कहा जा सकता है कि विश्व साम्यवादी दलों में स्तालिन और ख़ुश्चेव के अनुयायिओं के बीच जो मतभेद है उसका असर यहाँ के साम्य-वाद पर भी पड़ा है। एक लम्बे अर्से तक स्तालिनवाद का बोलवाला रहा, पर शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को यहाँ के साम्यवाद ने स्वीकार कर यह दिखलाया है कि उसने स्तालिनवाद की आक्रमणकारिता और असहिष्णु साम्यवादी विचारधारा को त्याग मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों की अधिक व्यावहारिक व्याख्या को अंगीकार कर लिया है। रूस और चीन के मतभेद के कारण भारतीय साम्यवादी बहुत ही चिन्तित हैं, और जहाँ तक सैद्धान्तिक विवाद का प्रश्न है, यहाँ का साम्यवाद भी विवादग्रस्त हो गया है। चूंकि यह विवाद साम्यवादी वैदेशिक नीति से सम्बन्धित है और इसी समय देश की उत्तरी सीमा के कुछ भाग पर चीन ने आक्रमण कर उसे अपने आधीन कर लिया है, इसलिए रूसी विचारधारा को अपनाने के सिवा इनके सामने और कोई मार्ग ही नहीं है। इन छोटे-मोटे परिवर्त्तनों के अतिरिक्त साम्यवाद को भारत की और कुछ देन नहीं है। पर एम० एन० राय, जो एक समय में भारत में साम्यवाद के आधार-स्तम्भ थे, के मत की अलग चर्चा करना आवश्यक है।

(ङ) एम० एन० राय और आमूलत्मक मानवतावाद

महान् साम्यवादी नेताओं ने मार्क्सवाद को कलुषित कर साम्यवाद का नाम दे दिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

था और इसीके प्रतिक्रिया स्वरूप एम० एन० राय ने रैडिकल ह्यूमैनिज़्म के मत का प्रतिपादन किया। ये सामाजिक व्यवस्था को भी वैयक्तिक आधारशिला पर खड़ा करना चाहते थे।

सबसे पहले राय के मानवतावाद को समझ लें तो फिर "आमूलवाद" का विवेचन करना सरल होगा।

सदियों पहले एवडेरा के प्रोटागोरस ने सिद्धान्तरूप में कहा था कि 'व्यक्ति ही सभी वस्तुओं का मानदण्ड है," और राय इस उक्ति से सहमत थे। आधुनिक सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओं में मनुष्य का अपना रूप खो गया है और राय इससे अत्यधिक चिन्तित थे। उनका तर्क था कि 'मानव–समाज' से पहले मानव–व्यक्ति होता है और मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की अवधारणा के आधार पर ही समाज की स्थापना होनी चाहिए, और सामाजिक नैतिकता का आधार भी सारे सदस्यों की वैयक्तिक नैतिकता ही होना चाहिये।

व्यक्ति के हित से इतने अधिक सम्बन्धित होने के कारण राय उन सारे तत्वों की निन्दा करते हैं जो व्यक्ति के हितों की अवहेलना कर अधिनायकवादी (Totalitarian) शक्तियों को समाज में जन्म देते हैं। वे मानते हैं कि इन प्रवृत्तियों को जन्म देने का दायित्व उस राजनैतिक व्यवस्था पर है जो शक्ति पर आधारित है। फलतः वे विकेन्द्रित सामाजिक व्यवस्था की माँग करते हैं, जहां राजनैतिक शक्ति के माध्यम की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

राय का आमूलवाद (Redicalism) वैयक्तिक नैतिकता के आधार की व्याख्या करने में सहायक होता है। उनके अनुसार, सिर्फ 'स्वभाववादी मानवतावाद' (Naturalistic Humanism), जिसे ठीक ही 'नव्य मानवतावाद' (New Humanism) के नाम से भी पुकार जाता है, ही एक ऐसी विचारधारा को प्रेरणा दे सकता है जो मनुष्य को आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता दे सके। यह नव्य है क्योंकि यह वैज्ञानिक तथा समग्रात्मक (Integral) है; क्योंकि यह मनुष्य की श्रेष्ठता को केवल प्रकृति की यांत्रिक प्रक्रियाओं से भिन्न मानकर उनका सर्वोच्च उत्पादन मानता है। परन्तु 'नव्य' पद से अस्थायित्व का बोध होता है, इसलिए उसकी जगह ये 'आमूलवाद' (Radicalism) पद का प्रयोग करते हैं। ये नैतिकता की धार्मिक पृष्ठभूमि की बात स्वीकार नहीं करते; और 'यांत्रिक शारीरिक प्रक्रियाओं को ही, जिनकी अभिव्यक्ति प्रवृत्ति और सहज ज्ञान के रूप में होती है, नैतिक अनुज्ञा का आधार मानते हैं। इस तरह ये नैतिकता का कारण मनुष्य की सहज बुद्धि को मानते हैं, और इसलिए किसी दैवी या रहस्यात्मक तात्विक अनुज्ञा की खोज को आवश्यक नहीं मानते।

इस वैज्ञानिकता पर आधारित नैतिकता के संस्थान के सारे मूल्यों का मूलस्रोत है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वतंत्रता का सर्वोच्च मूल्य और यहां वे उन सारे तत्वों का स्पष्ट विरोध करते हैं जिसकी उपस्थिति किसी भी प्रकार स्वतंत्रता को बाधित करती है। इस तरह, उनका आमूलवाद एक दूसरे रूप में भी प्रगट होता है, अर्थात् राजनैतिक शक्ति-संस्थान के सर्वथा त्याग करने में। वे विकेन्द्रीकरण की बात सिर्फ आधुनिक सभ्यता के खोखलेपन से ऊबकर थोरो, रस्किन, टाल्स्टाय और गाँधी के समान आचारवादी आधार पर मात्र कुबेर की पूजा के विरुद्ध नहीं करते। यह सत्य है कि राय कृषि-विकास को प्रधानता देने के लिए तर्क देते हैं, परन्तु ऐसा वे औद्योगिक समाज व्यवस्था से घृणा के कारण नहीं करते वरन् देश की प्राथमिक कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था के कारण ही ऐसा करते हैं। देश की आर्थिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करने में सक्षम हो।

राय को इस बात के लिए क्षोभ था कि आधुनिक संस्कृति मनुष्य की सहज़ नैतिक प्रवृत्ति को उचित मूल्य नहीं देती, इसके विपरीत यह मनुष्य के नैतिक आचरण को भौतिक या सामाजिक बाध्यता के कारण ही प्रेरित मानती है। इस प्रकार इनका मूल-वादी मानवतावाद नैतिकता की यथार्थ आधारशिला प्रकट करने का अद्भुत कार्य करता है। फिर, चूंकि एक लम्बी अवधि तक राय साम्यवाद की मूल नीति को मानते रहे हैं, इसलिए इनका नया मत क्रान्तिकारी प्रतीत होता है और उसकी रूपरेखा 'अराजकता वाद' के समरूप लगती है। नैतिकता पर अधिक बल, राजनैतिक शक्ति का उन्मूलन, और एक विकेन्द्रित समाज में विश्वास (जहाँ शक्ति की कार्य-सम्पन्नता अत्यधिक सीमित हो जाए) ऐसे तत्व हैं जिनसे अराजकतावाद की रचना की जा सकती है।

कितनी विचित्र बात है कि सर्वथा विपरीत परम्पराओं से निस्सृत सर्वोदय और आमूलवादी मानवतावाद अपनी लक्ष्य योजना में भिन्न नहीं रह जाते।

राय का नया मत उन्हें उनकी पुरानी आस्था से बहुत दूर कर देता है। यद्यपि साम्यवादियों की तरह भौतिकवादी नैतिकता पर इन्होंने भी बल दिया है, पर इनका वैयक्तिक नैतिकता पर आग्रह तथा वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति के विषय में मौन, साथ-ही-साथ कृषि-विकास को योजना में प्रधानता देना, साम्यवादी विचारधारा से इन्हें पृथक् कर देते हैं। परन्तु ऐसी समाज व्यवस्था की परिकल्पना, जहाँ राजनैतिक सत्ता और दल के लिए कोई स्थान नहीं हो, क्या मार्क्स के उस लक्ष्य से सर्वथा भिन्न कही जा सकती है जहां एक वर्गहीन समाज का स्वप्न है, जहाँ मनुष्य की नैतिकता परोपकारिता में परिणत हो जाती है और जहाँ सामाजिक उत्तरदायित्व बिना किसी बाह्य शक्ति या बाध्यता के सम्पन्न होती हैं ?

(च) भारत में धर्म और जाति का राजनीति में स्थान

द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त: मुसलमानों के बीच पार्थक्य का आन्दोलन दो कारणों से था-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(१) राजनीति पर धर्म के प्रभाव के कारण और (२) एक राष्ट्र—एक सरकार की १९वीं शताब्दी की मान्यता के कारण।

अन्य चाहे जो भी कारण हों, जिनसे कि एक अलग मुस्लिम राष्ट्र की माँग को बल मिला हो, यह तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि धर्म को ऐसी मांग का एकमात्र कारण वना दिया गया था। इस तरह यह आन्दोलन आधुनिक राजनैतिक विचार-धारा के सर्वथा प्रतिकूल था, जहाँ वर्ग और राजनीति के गठवन्धन को कतई नहीं स्वीकार किया जाता है। परन्तु, निश्चय ही यह मानना होगा कि मुस्लिम सम्प्रदाय न केवल धर्म में वल्कि संस्कृति में भी सर्वथा भिन्न है। यह याद रखना चाहिए कि लार्ड मिन्टो ने स्वयं संस्कृति की भिन्नता के आधार पर एक पृथक् मुस्लिम राष्ट्र की माँग को रखने का मार्ग दिखलाया था।

राजनीति, संस्कृति और शिक्षा

प्रो० कबीर के विचार:— मुसलमानों का एक बुद्धिजीवी सम्प्रदाय पार्थक्य के दोनों तत्त्वों को स्वीकार नहीं करता। इस प्रसंग में स्वर्गीय 'आजाद' का नाम सबसे पहले रखना होगा। नई पीढ़ी में प्रो० हुमायूं कवीर धर्म पर आधारित केवल राज-नैतिक अधिकारों की बात को ही अस्वीकृत नहीं करते, वरन् भारत में धार्मिक विरोधों के कारण का क्रमिक विश्लेषण कर उसका निदान भी प्रस्तुत करते हैं। उनकी वौद्धिकता संश्लेषण पर एक स्थायी राजनैतिक संस्थान की स्थापना की कल्पना करती है।

मध्ययुगीन हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति की एकता पर दृष्टिपात करते हुए वे कहते हैं कि "जव दो शक्तिशाली धाराएँ मिलती हैं तो एक का दूसरे में खो जाने का प्रश्न नहीं उठता। दो धाराएं एक नए रूप को जन्म देती हैं। उनकी देन का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। जव दो जीवधारी शरीर मिलते हैं तव भी ऐसी ही वात होती है। नए संयोजन में कोई भी तत्त्व अपरिवर्त्तित नहीं रह सकता। इसे ही मिलन की पूर्णावस्था कह सकते हैं।" यूरोपवासियों के साथ-साथ पाश्चात्य सभ्यता के आने को ही ये 'वर्तमान-संक्षोभ' का कारण मानते हैं। यहां हिन्दू, मुस्लिम और पाश्चात्य संस्कृतियों की तीन धाराएं एक दूसरे से अछूती रहती हैं, फिर भी व्यक्तियों को अलग-अलग ढंग से प्रभावित करती रहती हैं। "एक व्यक्ति बोद्धिक रूप से तो पाश्चात्य विज्ञान की महत्ता स्वीकार करता है पर साथ-ही-साथ भावनात्मक स्तर पर पूरी तरह प्राचीन या मध्य-युगीन भारतीय परम्परा से जुड़ा रहता है।" प्रो० कवीर मैकाले की शिक्षापद्धति को ही भारतीय समाज में विभाजन लाने का प्रमुख दायित्व देते हैं। "एक सम्यक् राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के अभाव के ही कारण आज भी भारतीयों में क्षेत्रीय, भाषीय या जातीय संकीर्ण दृष्टिकोण परिलक्षित होता है।" इसका निदान वे एक राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में ही देख पाते हैं, जो एक ऐसे वातावरण की सृष्टि कर सकती है जहां भारतीय संस्कृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण पनप सकता है।

वर्णाधारित राजनीति और प्रतिकार—न्याय का सिद्धान्त

भारत में संवैधानिक सुधारों के कारण आजतक की पिछड़ी जातियों में इस बात की चेतना आ गई है कि राजनैतिक सत्ता को प्राप्त करने के लिए आपस में सम्मिलित प्रयास करना नितान्त आवश्यक है और तभी वे सामाजिक असंतुलन को दूर कर सकते हैं। मद्रास राज्य में 'जस्टिस पार्टी' की स्थापना के पीछे यही विचार था। अ-ब्राह्मण वर्ग युगों से सामाजिक संत्रस्तता की स्थिति में था; साथ ही पाश्चात्य शिक्षा के लाभों पर भी उच्च वर्णों का ही एकाधिकार हो गया था। ऐसी अवस्था में वर्ण-द्वेष और असंतोष की लहर का फैलना स्वाभाविक था।

सन् १६१६ के सुधार के कारण, जहाँ सम्पत्ति के आधार पर मत देने का अधिकार था, अ-ब्राह्मणों के एक बड़े वर्ग को मताधिकार प्राप्त हो गया। सामाजिक परिस्थितियों के कारण सत्ता प्राप्त करने के इस नए विधान से इन पिछड़े वर्णों ने पूरा लाभ उठाने की चेष्टा की; साथ ही राजनैतिक परिस्थितियों के कारण ये वर्ण ब्रिटिश सरकार के पृष्ठपोषक हो गए। इनके माध्यम से ब्रिटिश अधिकारियों ने ब्राह्मण—निर्देशित कांग्रेस को दबाना चाहा।

इन वर्णों के राजनैतिक नेता उदार प्रजातंत्रात्मक विचारों में अपनी आस्था दिखलाते थे, परन्तु कोई भी सामाजिक या राजनैतिक मौलिक विचार इन लोगों ने प्रस्तुत नहीं किया। फिर भी, त्रस्त वर्णों का राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना इनमें एक न्याय के सिद्धान्त को जन्म दे रहा था, और राजनैतिक सत्ता को प्राप्त कर ये पिछली क्षतियों की पूर्त्ति करना चाहते थे। ये उच्च वर्णों को दबाने में भी नहीं झिझकते थे। यही इनकी राजनैतिक आस्था मानी जा सकती है।

ऐसी सामाजिक या वर्णीय प्रतिकार की मान्यता को हम वर्ण-संघर्ष का नाम दे सकते हैं। मजदूर और पूंजीपति में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध यहां अ-ब्राह्मण और ब्राह्मण में है। पर, मजदूर पूंजीपति वर्ग का उन्मूलन करना चाहते हैं। परन्तु अ-ब्राह्मण ब्राह्मणों से सिर्फ प्रतिकार लेना चाहते हैं, अर्थात् आगे से ब्राह्मणों को कोई सामाजिक या आर्थिक उच्चाधिकार या प्रमुखता नहीं देना चाहते, जैसाकि पिछले दिनों में ब्राह्मणों ने इन्हें नहीं दिया था। विधान के द्वारा ये अ-ब्राह्मणों को शिक्षा तथा सरकारी नियोजनों में विशेष सुविधा और प्रमुखता देना चाहते हैं।

क्या ऐसे प्रतिकारात्मक न्याय से समस्या सुलझ जाएगी? गाँधी जी ने राजनैतिक सत्ता की सुरक्षित शक्ति के माध्यम से सामाजिक न्याय की स्थापना के प्रयास को अनैतिक कहा। हरिजनों को एक पृथक् अल्प संख्यक वर्ग स्वीकार कर लेने के आन्दोलन के प्रसंग में गाँधी जी ने सामाजिक अन्याय को व्यक्तियों के स्वैच्छिक प्रयत्न के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सहारे दूर करने पर अत्यधिक बल दिया; इस काम के लिए वे वैधानिक रीति से न्याय की स्थापना के पक्ष में नहीं थे। इनकी युक्तियां स्पष्ट हैं। वैधानिक या नैयायिक अनुज्ञाएं कदाचित् ही व्यक्तियों में नैतिक परिवर्तन ला पाते हैं, किन्तु वर्णीय तत्वों को स्वीकार कर ये वर्ण पक्षपात को बढ़ाते ही रहते हैं।

इन्हीं का परिणाम आज दक्षिण भारत में देखने को मिलता है, जहाँ पृथक्करण का आन्दोलन इन दिनों कुछेक राजनैतिक दलों द्वारा मद्रास में चलाया जा रहा है। आन्दोलन सिर्फ वर्ण–विशेष की प्रमुखता की मांग नहीं करता, वरन् जाति (रेस) के आधार पर दक्षिण भारत को एक पृथक् रूप में स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर देने का नारा लगा रहा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

X

भारतीय मुस्लिम तथा ईसाई दार्शनिक विचार

के. सच्चिदानन्द मूर्ति

भारतीय मुसलमानों के दार्शनिक विचार

जिस किसी भी दृष्टिकोण से देखें, यहां के मुसलमान भारतीय जनसंख्या का प्रधान अङ्ग हैं। १९५६ की जनगणना के अनुसार भारत के मुसलमानों की संख्या लगभग चार करोड़ है। यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि ईजिप्त, टर्की और ईरान् की जन-संख्या अलग-अलग दो करोड़ है,और पाकिस्तान और इन्डोनेशिया की संख्या प्रत्येक सात करोड़ है (१९५६ में), तब यह व्यक्त होगा कि भारतीय मुसलमानों का समसामयिक दुनियां में क्या स्थान है। इसके अलावा, यहाँ के मुसलमानों की एक हजार वर्ष की बहुत बड़ी परम्परा है जिसने अनेक महान् व्यक्तियों, विभिन्न प्रकार के राजतन्त्रों, उत्तम साहित्य और कतिपय जीवन-विधानों को उत्पन्न किया है। आधुनिक जगत् में कहीं भी मुसलमान इतनी अधिक संख्या में, और अपनी संख्या से भी कहीं अधिक संख्या में रहने वाले विभिन्न धर्मावलम्बी लोगों के साथ, धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र राज्य के नागरिक नहीं हैं। इसलिए उनके इतिहास, संख्या और परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन की समकालीन दार्शनिक परिस्थितियों पर विचार करें।

हम संक्षेपतः मुसलमानों की उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के पहले की दो-तीन विचारधाराओं की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे जो उनके आधुनिक कार्यकलापों का आधार है। मध्ययुगीन मुसलमानी भारत को देखें तो हमको कोई दार्शनिक मौलिकता या ईश्वर-मीमाँसा विषयक नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। इब्न सीना, अलगज़ाली या इब्न रोश्द की भव्य कृतियों की तुलना में उस समय का दर्शन कुछ भी नहीं है। फिर भी अकबर और दाराशिकोह ऐसे दो व्यक्ति हैं जिन्होंने कुछ करने का यत्न किया। अकबर एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना करना चाहता था जिसका सार (उसके अनुयायियों के अनुसार) एकेश्वरवाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है, पवित्रता जिसकी सूफियों की है और जिसमें सूर्योपासना से संबद्ध धार्मिक क्रियाकलाप भी निहित हैं (एक दृष्टि से यह "शिरक" को इस्लाम में स्थान देता है।) ऐसे सम्प्रदाय का आधार है तर्क, और उस के फल हैं नैतिक जीवन (मुह सिने फानी, दबिस्ताने मजहिब)। उनके प्रपौत्र दाराशिकोह ने कई ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि जीव सदा ईश्वर (खुदा) के साथ एकता (तौहीद) प्राप्त करने के लिए आकाँक्षा करता है और ईश्वर परात्पर (हक़) है जिसमें संसार की हरेक वस्तु समुद्र में तरङ्गों, जलकणों और बुद्बुदों की भाँति समायी हुई है (रिसलाई हक्नमा)। उसने उपनिषदों का अध्ययन किया और उनको बहुत ही "प्राचीन दैवीय ग्रन्थ" माना था। उसकी दृष्टि में वे "एकेश्वरवाद का खजाना" और "अद्वय-भवसागर के मूल स्रोत हैं, जिनके उद्देश्य पवित्र कुरान से अभिन्न हैं"[1]। लेकिन अकबर के समन्वयात्मक और तार्किक दृष्टिकोण और दाराशिकोह के "सत् की मौलिक एकता" के सिद्धान्त (जो प्रधान सूफी, जैसे इब्न अरबी वगैरह लोगों को भी अभिमत हैं), और उसके उद्देश्य, कि उपनिषद् और कुरान एक ही सत्य को व्यक्त करते हैं,[2] का कट्टर मुसलमानों ने विरोध किया और हिन्दुओं ने उनके प्रति कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। शेख अहमद सरहिन्दी (१५६४-१६२४), जिसका जन्म पंजाब में हुआ, अकबर और जहांगीर का समकालिक था। यह एकता और परात्पर सिद्धान्तों के विरोधियों में प्रमुख था। सरहिन्दी स्वयं रहस्यवादी था, लेकिन ईश्वर का जीव से शाश्वत औत्कृष्ट्य मानता था।

यहां फिरंगी महल और खैराबाद के दार्शनिक संप्रदाय भी उल्लेखनीय हैं। फिरंगी महल सम्प्रदाय के प्रधान चिंतक ये हैं: मुल्ला कुतबुद्दीन शहीद (१६६१ में मरा), मुल्ला निजामुद्दीन (१७४७), और मौलाना अब्दुल अली बाह उल उलून् (१८१०)। खैराबाद संप्रदाय के गणनीय चिंतक ये हैं: फजल् इमाम् खैराबादी (१८२७), फजल् हक़् खैराबादी (१८२७), और अब्दुल् हक़् खैराबादी (१८९८)। इनके अलावा अवध के कई स्वतंत्र चिंतक भी हैं, उदा: क़ाजी मुबारक गफवी (१७४८), मुल्ला महमूद जौनपुरी (१६५१), हमदुल्ला सिंदैलवी (१७४७), मुल्ला मुहीब बेहारी (१७०७), और गुलाम् याहया बेहारी (१७१५)। (विवरण के लिए देखिये, अब्दुस्-सलाम नादवी, हुकमा-ए-इस्लाम।)

मुगल साम्राज्य की अवनति के काल में दिल्ली के शाह वली उल्लाह (१७०३-१७६२) ने निकृष्ट सूफी आचरणों का और धार्मिक उदासीनता का घोर विरोध किया। इस्लाम् को पवित्र बनाना इसका परम ध्येय था। इसने इस्लाम् की व्याख्या इस तरह करनी चाही जो सुन्ना और सूफियों को समानरूपेण मान्य हो। उसकी यह भी इच्छा थी कि मुसलमानी शक्ति और उन्नति का पुनरुद्धरण हो। इसी के कारण मुख्यतः भारतीय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मुसलमानों में धर्म को लेकर कोई मतभेद नहीं हुए, जैसेकि औरङ्गजेब की मृत्यु के बाद राजतंत्र को लेकर हुए थे।

वली उल्लाह का पुत्र अज़ीज़ और पौत्र इस्मायिल (१७८१-१८३१) इन दोनों ने इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर एक सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था का संघटन किया। इसका मुख्य उद्देश्य था मुसलमानों में अविश्वास को, उनके समाज के आन्तरिक दोषों और क्षय को दूर करना और पंजाब में सिक्खों, बंगाल में अंग्रेज़ों और दक्षिण में महाराष्ट्रों द्वारा उत्पन्न किये हुए भय का निवारण करना। सैयद अहमद् बरेलवी ने पंजाब और पश्चिमोत्तर भारत में और फरैजियाह ने बंगाल में इस आन्दोलन को युद्ध का स्वरूप दिया।

ईजिप्त में जलालुद्दीन अफघानी (१८३९–९७) ने तीव्र कार्यशीलता पर आधारित एक सिद्धान्त का प्रचार किया जिसका आधार है कुरान का निम्नलिखित वाक्यः "जब तक आदमी स्वयं अपनी परिस्थितियों को नहीं बदलता तब तक भगवान् उसकी परिस्थितियों को नहीं बदलेगा"[३]। वह चाहता था कि मुसलमान जागृत हों, क्रियाशील बने रहें, भाग्य के ऊपर भरोसा न रखें और ऐहिक समुन्नति के प्रति उदासीन न रहें, ताकि वे अपनी इच्छा के अनुरूप समाज की स्थापना कर सकें।

वली उल्लाह के बाद हरेक मुख्य मुसलमानी आन्दोलन ने तर्क का निराकरण किया, और जमालुद्दीन अफघानी के अनन्तर क्रियाशीलता और आक्रमणात्मक (Aggressive) भावनायें मुसलमानों के सर्वसाधारण आदर्श बन गए। एफ. रहमान् ठीक कहते हैं कि इसीलिए आधुनिक इस्लाम में हम बौद्धिक बलहीनता पाते हैं[४]।

हिन्दुओं ने ही पहले पहल पश्चिम के सम्पर्क को अनुभव किया, अपनी परिस्थितियों को ठीक अवगाहन किया और पुनर्जागृति भी उनमें ही पहले उत्पन्न हुई। इस प्रकार के सम्पर्क की स्थापना में मुसलमानों को ज्यादा समय की जरूरत पड़ी, क्योंकि वे अंग्रेज़ों को अधिक घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनका यह विश्वास था कि अंग्रेजों ने ही भारत में भव्य मुसलमानी शासन का अन्त किया। इस बात को अंग्रेज़ जानते थे। इसीलिए उन्होंने मुसलमानों का हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक कठोरता के साथ दमन किया और बहुत हद तक उनको आवश्यक सुविधाओं से भी वञ्चित रखा।

सर सैय्यद् अहमद् खां (१८१७-९८) प्रथम भारतीय मुसलमान हैं जिन्होंने अपनी जाति को निराशा और उद्विग्नता की निद्रा से जगाया। ये बड़े प्रगतिशील, तार्किक और भेदभावना-रहित व्यक्ति थे। इनका यह विश्वास था कि सब भारतीय—हिन्दू, मुसलमान और ईसाई—एक देश की प्रजा हैं। पाश्चात्य विचारधारा में जो अच्छी चीज़ है उसे ये भारतीय मुसलमानी संस्कृति में संकलित करना चाहते थे। ये मुसलमानों में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे, और उसी दृष्टि से इन्होंने अलीगढ़

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में एक कालेज खोला जो वाद में विश्वविद्यालय बन गया। इस्लाम की ज्यादा उदार दृष्टि से व्याख्या करना इनको अभिमत था और इन्होंने कुरान और हदित् की विज्ञान के दृष्टिकोण से व्याख्या करने का प्रयत्न किया। ये विश्वास करते थे कि ईश्वर का निर्माण (प्रकृति) और उसका शब्द (कुरान) परस्पर विरोधी नहीं हैं। इन्होंने उन सब विश्वासों और आचरणों का विरोध किया जिन का श्रुति (Scripture में कोई आधार नहीं है। अतार्किक और अलौकिक विषयों का भी इन्होंने निराकरण किया। ये कहा करते थे कि सच्चे विश्वास का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। कुरान वैज्ञानिक विषयों पर कुछ नहीं कहता; इसकी परिधि नैतिक विषयों तक ही सीमित है। (आखिरी मदामिन्)। इन विचारों के कारण इनकी कड़ी आलोचना हुई। इस प्रकार श्रुति के ऊपर टीकाटिप्पणी करना उनके मजहब के लोगों को अच्छा नहीं लगा और वे कुरान को पाश्चात्य अध्ययन और आधुनिक वैज्ञानिक भावों से दूर रखने में सफल हुए।[४] अपने मज़हब के लोगों को प्रगतिशीलता सिखाने में और तार्किक भावों को अच्छी तरह समझाने में सर सैय्यद अहमद खाँ अधिक सफल नहीं हो पाये।

इनके तार्किकवाद का सैय्यद चिराग अली और नवाब मोहिसिनुल मुल्क, इन दोनों ने अनुमोदन किया। कवि खाजा आल्तफ हुसेन हाली और ईश्वरमीमांसक शिब्लीनुमानी और नाजीर (जिसने कुरान को सरस उर्दू में अनूदित किया), इन तीनों ने भी उनका समर्थन किया, यद्यपि इन लोगों ने जीवन भर उनके (सैय्यद अहमद खाँ के) उपदेशों को अपने आचरण में नहीं लाया।

इस प्रकार की उदार भावना (liberal Spirit) अमीर अली (१८४९–१९२८), में, जिसने "इस्लाम की आत्मा" (The spirit of Islam) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है, और उव्यूदुल्ला सिन्धी (१८७२–१९४४) और अबुलकलाम् आज़ाद (१८८८–१९५८) में भी पायी जाती है। सर सैय्यद और अमीर अली को प्रेरणा यूरोप से मिली, लेकिन अपने अतीत इस्लामी वैभव से सिन्धी और आजाद को प्रेरणा मिलती आयी।

जिस प्रकार ब्रह्मसमाज ने आर्य समाज आदि आन्दोलनों को अनुप्राणित किया, उसी प्रकार सर सैय्यद के प्रगतिवाद और अलीगढ़ के कालेज ने परम्परावाद की शक्तियों को जगाया। उत्तर प्रदेश के देववन्द में दरूली उलम् (१८७६) की स्थापना और उसके द्वारा परम्परागत धार्मिक उद्बोधन, इसके सूचक हैं।

सर सैय्यद के अनुयायी शिब्लीनुमानी (१८५७-१९१४) ने लखनऊ में दूसरी संस्था की स्थापना की जिसका नाम उसने नदवातुल उलमा रखा। इस संस्था का मुख्य ध्येय है आधुनिक प्रथाओं और शीघ्र न बदलने वाले परम्परावाद में सामंजस्य की स्थापना करना। (देखिये उसका "इल्मुल कलाम")। शिब्ली की ईश्वरमीमांसा कुछ हद तक पुराने विचारों और नवीन भावों को सन्तुलन करने में सफल हुई। सैय्यद सुलेमान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और अब्दुस सलाम ने इस आन्दोलन को बाद में जीवित रखा।

पंजाब के मिर्जा गुलाम अहमद (१८३९-१९०८) ने अपने को महदी घोषित किया और इस्लाम को पवित्र बनाने का कार्य अपना उद्देश्य बताया। जब धर्म आपदवस्था में है उसकी रक्षा के लिए एक न एक महदी उत्पन्न होता है। यह एक प्राचीन यहूदी भावना है जो इस्लाम से सम्बन्धित कई परंपराओं में संक्रान्त हुई। लेकिन मुसलमानों के इतिहास में जिन लोगों ने इस भाव को माना वे कभी राजनैतिक दृष्ट्या शक्तिशाली नहीं थे और इसलिए उन सब को दबा दिया गया। अहमद बहुत सारे मुसलमानों में यह विश्वास उत्पन्न करने में सफल हुआ कि वह उनका महदी है। इसी के कारण अहमदी पंथ का आविर्भाव हुआ, जिसका दूसरा नाम क्वादियानी पंथ पड़ा (क्योंकि पंजाब में क्वादियान् नामक स्थान पर इसका जन्म हुआ)। तब से यह दुनियां के चारों ओर फैला। १९५३ में पाकिस्तान में क्वादियों के विरुद्ध भयंकर दंगे हुए, जिनमें धर्मान्ध मुसलमानों ने अहमदियों को लूटा और मारकाट की।

सर मोहम्मद इकबाल (१८७३-१९३८) का जन्म पंजाब में हुआ। इन्होंने कैम्ब्रिज़ और जर्मनी में दर्शन शास्त्र (और न्याय शास्त्र) का अध्ययन किया और कुछ दिन लाहौर के एक कालेज में अध्यापक रहे। उसके बाद अध्यापन छोड़कर वकालत करने लगे। नीट्शे, बेर्गसन्, जलालुद्दीन रूमी (जो टर्की के बड़े रहस्यवादी चिन्तक थे) और जमालुद्दीन अफघानी के विचारों से ये अत्यन्त प्रभावित हुए। ये निवृत्तिवाद (Quietism) को पसन्द नहीं करते थे। इनका विचार था कि मुसलमानों की अवनति का कारण उनकी अकर्मण्यता है, जिसका सूफियों ने प्रचार किया। इनकी दृष्टि में इश्क अपनेआप में अच्छा है, पर अक्ल मानव की सबसे बड़ी शक्ति नहीं है। क्रियाशीलता ही जीवन है; बुराई के विरुद्ध लड़ना जीवन का आदर्श है। पहले इकबाल राष्ट्रीयतावादी थे, पर बाद में उन्होंने सोचा कि मुसलमानों का अपना कोई राष्ट्र (nation) नहीं होगा। वर्ण (caste) तथा वर्ग विभेदों को चीर कर दुनिया के सभी मुसलमान एक ही समुदाय के अंग हैं। इस्लाम को छोड़कर उनकी अपनी कोई पितृभूमि नहीं है। जो कोई ईश्वर, धर्म, यानी सत्प्रवृत्ति के प्रमाण, में विश्वास करता है वही सच्चा मुसलमान है। मुसलमानों में छोटे–बड़े का निर्णय जन्म, पद या धन से नहीं होना चाहिए; सत्प्रवृत्ति से ही छोटे-बड़े का निर्णय होता है। सब सत्य,कहीं भी वह व्यक्त हुआ हो, उसका स्वरूप इस्लाम है; केवल मोहम्मद ने उसको परिपूर्णरूपेण ग्रहण किया। इकबाल समाजवाद से भी प्रभावित हुए,मुख्यतः अपने जीवन की अन्त्य दशा में।

आत्मा के रहस्य (The Secrets of the Self), निस्वार्थता के रहस्य (The Mysteries of Selflessness) और इस्लाम में धार्मिक विचारों का पुनर्निर्माण (Reconstruction of Religious thought in Islam), ये इकबाल के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मुख्य दार्शनिक ग्रन्थ हैं। पहले के दोनों ग्रन्थ दार्शनिक कविता के हैं। उनके अनुसार अस्तित्व के विभिन्न रूप आत्मा(The Self) के कार्य (effects) हैं; दृश्य सदा आत्मा का ही रहस्य है। आत्मा के निजस्वरूप में सैंकड़ों जगत् छिपे हुए हैं। जब यह चैतन्य अवस्था में आकर स्थिर होता है तो विचार जगत् की सृष्टि होती है और अनात्मा का आविर्भाव होता है। क्रियाशील बनने के लिए यह आत्मा अनेक रूप धारण करता है, जैसे विषयी, विषय और साधन और कारण। काल इसकी रङ्गभूमि है। और क्योंकि काल शाश्वत है,—जिसका कोई आदि-अन्त नहीं है—इसलिए जो कोई काम आत्मा करता है उसका शाश्वत प्रामुख्य होता है। इतिहास वह है जो आत्मा को अपना निजस्वरूप जताता है। जीवन अविच्छिन्नता के चैतन्य(संवेदन)का तरंग है। काल, ऊर्ध्वतल को जानना, उसके अविच्छिन्न शाश्वत तत्व को पहिचानना, शाश्वत जीवन का रहस्य है। इच्छा और संकल्प (या तृष्णा या कामना) जीवन के संरक्षक हैं; इच्छा-रहित व्यक्ति का अपना कोई आदर्श नहीं है; ऐसा व्यक्ति मृत-समान है। मानव के द्वारा सम्पन्न सभी कार्य इच्छा-पूर्ति के द्योतक हैं। सत्प्रवृत्तिमार्ग में अधिष्ठित समाज से अपना अभिन्न संसर्ग स्थापित करके आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करता है। आत्मा का पूर्ण विकास प्रेम के द्वारा साध्य है; यह समग्र ज्ञान और सत्क्रिया का मूलाधार है। प्रेम के द्वारा आत्मा का स्वरूप निखरता है और प्रकाशित होता है। आत्म-सत्ता की प्रथा प्रेम से ही आती है। प्रेम द्वारा आत्मा में निगूढ़ अज्ञात शक्तियों का विकास होता है। 'प्रेम' (इश्क) से इकबाल का अभिमत है, ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति, जो जीवन का स्रोत और सकल आदर्शों और विशिष्ट कार्यों का मूलाधार है। "ईश्वर का भक्त अन्त में पूर्णरूपेण ईश्वर बन जाता है"।

भारत के राष्ट्रीय उद्यम का दृष्टि-कोण हिंदू धर्म व संस्कृति से प्रभावित था, इसलिये भारतीय मुसलमानों में उसके प्रति उतना उत्साह नहीं था। १९३०-४० के समय में अखिल मुसलमानी आंदोलन (Pan-Islamism) और खिलाफत का कोई खास उद्देश्य नहीं रह गया, क्योंकि उस समय में बाकी मुसलमानी देशों में अपने अपने राष्ट्रीय उद्यम खूब जोर से चलने लगे। इससे भारतीय मुसलमानों में आवेश-शून्यता आ गई। फलतः भारतीय मुसलमान राष्ट्रीय उद्यम से दूसरी दिशा में चले। "मुसलमानों की एकता स्वाभाविक (धार्मिक) विश्वास के कारण सम्भव है", "सब मुसलमानों की आत्मा एक है" और मुसलमान किसी एक स्थान में बँधे नहीं हैं", इकबाल ने इन सिद्धान्तों के कारण भारतीय मुसलमानों में बहुत ज्यादा आत्म-चैतन्य उत्पन्न हुआ और वे दूसरे धर्म के लोगों के विचार और व्यवहार से अलग रहने लगे। अन्त में, १९३० में इकबाल ने अलग मुसलमान राज्य की बात कही। इकबाल का यह विचार कई कारणों से दृढ़ होकर बाद में पाकिस्तान के निर्माण में सहकृत हुआ। हिन्दुओं की कुछ गलतियां,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कुछ बड़े हिन्दू नेताओं की धार्मिकता और पुराने रीति-रिवाज, मुसलमानों में मध्यम श्रेणी के लोगों का अभाव और मुस्लिम जनता पर मुसलमान धनी जमींदारों का प्रभाव, ये सब कुछ कारण हैं।

इकबाल बड़े कवि और विचारक थे। ये निस्सन्देह मुसलमानों में आधुनिक युग के सबसे बड़े विचारक थे और इनका प्रभाव आजके पाकिस्तानी दार्शनिकों पर बहुत ज्यादा है।

यदि कोई इनके और वेदान्त के आत्मवाद का तुलनात्मक अध्ययन करे तो बहुत लाभदायक होगा। उनके प्रत्ययवाद का सम्यक् अध्ययन, मूल्यांकन और अभिवृद्धि होनी चाहिये।

जमालुद्दीन अफघानी और इकबाल, दोनों ने इश्क और प्रवृत्ति की प्रशंसा की। उनके उपदेशों के इस विषय का एकपक्षीय परिज्ञान मुसलमानों के प्रचण्ड प्रवृत्ति को अपनाने में, जिस (प्रवृत्ति) में तर्कनिर्दिष्ट कोई ध्येय नहीं है; और धर्म में बौद्धिकता-रहित प्रगाढ़ विश्वास करने में, सहायक हुआ। पंजाब और पश्चिमोत्तर भारत के खाकसारों ने और हैदराबाद (दक्षिण) के रजाकारों ने इन भावनाओं को कार्यरूप में व्यक्त किया। आधुनिक मुसलमानी दुनियां में बहुत सारी घटनायें, जैसे दूसरों के जीवन और सम्पत्ति का विनाश करना, पश्चिम,और उन पड़ोसियों से जो मुसलमान नहीं हैं,और अपने इन सिद्धान्तों को न मानने वाले दूसरे मुसलमानों से विरोध प्रदर्शित करना, इन सब बातों का बीज इनके दर्शन में विद्यमान है। वह दर्शन जो बेर्गसन्, नीट्शे, रूस देश की प्रगति और समाजवाद से प्रभावित हुआ और जो सदा अतीत मुसलमानी उन्नति का ध्यान दिलाता है, वह निश्चय ही लालसी और अधिकार के लिए भूखे लोगों को आकर्षक बनेगा।

अबुल कलाम आजाद् (१८८८—१९५८)एक प्रगतिशील और बड़े ईश्वरमीमाँसक थे। आधुनिक दृष्टिकोण से सम्प्रयुक्त मुसलमानी शास्त्रों में वैदुष्य इनकी विशेषता है। अपनी पत्रिकाओं और पुस्तकों 'तर्जुमामूल कुरान' और 'घुबा खातिर' के द्वारा मुसलमानी विचारधारा को सम्यक् दिग्दर्शन करने की आवश्यकता पर इन्होंने जोर दिया। इन्होंने कुरान के मौलिक सन्देश और उसके अर्थ को आधुनिक जगत् के सामने रखने का प्रयास किया। उसके ऊपर जो गलत् व्याख्यायें हैं उनका खण्डन भी किया। दुर्भाग्यवशात् इनकी विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ संसार में सर्वत्र प्रचलित किसी भाषा में प्राप्य नहीं हैं। केवल कुरान पर व्याख्यान करते हुए इन्होंने जो भूमिका लिखी उसके कुछ भाग का अशफक् हुसेन् ने अंग्रेज़ी में तर्जुमा किया। लेकिन उनके लिखे संस्मरण (memoirs) अंग्रेज़ी में उपलब्ध हैं।

कुछ प्रामाणिक व्यक्तियों के अनुसार, सैय्यद् अबुल अला मौदुडी(१९०३)आधुनिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस्लाम् के सबसे सूव्यवस्थित (systematic) विचारक माने जाते हैं[६]। इन्होंने १६३२ में हैदराबाद से तर्जुमानूल् कुरान नामक पत्रिका चलाई और बाद में उसको पठानकोट से चलाते रहे। (पाकिस्तान आंदोलन का अनुयायी न होते हुये भी इन्हें बाद में उस देश को जाना पड़ा)। ये इस्लाम् को एक निश्चित दार्शनिक स्वरूप देना चाहते हैं, जिसमें मानव की सभी समस्याओं का उत्तर प्रस्तुत हो। बहुत सुयोग्य व्यक्ति यह कहते हैं कि इनकी यह व्यवस्था महान् और बौद्धिक दृष्टिकोण से सुसम्बद्ध है[७]। ये पाश्चात्य भावनाओं को और पश्चिम के प्रति दासता को रोकना चाहते हैं, और एक मुसलमानी समाज की स्थापना करना चाहते हैं। इनके अनुसार, मुसलमानी धर्म यद्यपि १३००वर्ष पहले उत्पन्न हुआ, फिर भी इसकी प्रगति में अन्तराय नहीं आया, क्योंकि यह मुसलमान समाज से घुलमिल गया और इसके आदेशों को मानने वाले अनेक देशों की स्थापना हुई, जो इसके अनुशासन में रहते हैं। अतः यह मानव-जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप बदल रहा है और आगे की ओर बढ़ रहा है। इसमें और भी अनेक अज्ञात शक्तियां हैं; इज़्तिहाद्, व्यावहारिक ज्ञान और उपमानात्मक बहस द्वारा इसकी अभिवृद्धि की जा सकती है। तब सभी आधुनिक समस्याओं का परिष्कार इसके द्वारा किया जा सकता है। मुसलमानी संविधान और कानून के मूलाधार चार हैं; वे हैं कुरान, सुन्ना, प्रथम चारों खलीफों के शासन समय के विधान और बड़े न्यायवदियों के फैसले। मौदुडी चाहते हैं कि मुसलमान देशों में क्रमिक क्रान्ति आवे, जो पाश्चात्य विचारों पर निर्मित ढाँचे को गिराकर उसके स्थान में एक नये ढाँचे का निर्माण करे और जो उपरि कथित चारों मूल सूत्रों से उद्भूत मुसलमानी संविधान और कानून के अनुरूप होव।

अपने इन सिद्धान्तों के प्रचार के लिए मौदुडी ने १६४१ में जमाती इस्लामी नामक एक संस्था की स्थापना की। उसके सिद्धान्तों ने पाकिस्तान के पढ़े लिखे लोगों को बहुत प्रभावित किया और वहाँ कुछ लोग इन सिद्धान्तों के अनुरूप रहने का प्रयत्न कर रहे हैं। रामपुर में भी इसी प्रकार की एक और संस्था है।

वैदिक धर्म में मीमाँसक का जो स्थान है वही इस्लाम में मौदुडी का है। उसके कानून के चार मूलाधारों (तविल, कियास, इज़्तिहाद्, इस्तिहसान्) की श्रुति, स्मृति, सदाचार और विवेकी ब्राह्मणों के आदेशों से तुलना की जा सकती है। मुसलमानी कानून के विकास-क्रम की मीमांसकों के तर्क और श्रुति के व्याख्यानक्रम से तुलना करें तो बहुत अच्छा होगा।

एम्. एम्. शरीफ, जो पाकिस्तान के निर्माण तक अलीगढ़ में प्रोफेसर था, और अब लाहौर में इस्लामिया इंस्टिट्यूट का संचालक है, एक मशहूर दार्शनिक है। अब पाकिस्तानी दार्शनिक जगत् में इसका सबसे उन्नत स्थान है। इसका एक निबध राधाकृष्णन्–म्यूरहेड् के ग्रंथ में है। यह पहले आनुभविक प्रत्ययवाद (empirical

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

idealism) से प्रभावित था, बाद में केंब्रिज में अध्ययन करते समय यह मूर, और रसेल के प्रभाव में आया। उसके बाद अपने विचारों की वृद्धि करके इसने जो सिद्धांत प्रतिपादित किया इसको यह तार्किक शक्ति–केन्द्रवाद (dialectical monadism) कहता है। इसका मत यह है:– दर्शन व्यवस्थीकृत विज्ञान व अनुभव है; सत्ता (Reality) साधारणतः जानी जा सकती है, ज्ञाता भी जाना जा सकता है, औपमानिक ज्ञान से देशकालातीत तत्त्वों को भी जान सकते हैं; हर व्यक्ति एक शक्ति-केन्द्र है, आणविक है। इन सदृश केन्द्रों की प्रवृत्ति संबद्ध है जिससे इसे तार्किक कह सकते हैं; इस प्रवृत्ति से ये सब केन्द्र जिन लक्ष्यों की ओर अग्रसर हो रहे हैं वे ही मूल्य हैं। मूल्यों का मूल–प्रभव ईश्वर है जिससे हम श्रद्धा (faith) द्वारा आबद्ध हो सकते हैं।

आजकल भारत के मुसलमान दार्शनिक दो प्रकार के काम करते हुए दिखाई देते हैं: या तो वे प्रसिद्ध सांप्रदायिक (classical) मुसलमानी दार्शनिकों का परम्परा के अनुकूल व्याख्यान (interpretation) करते हैं, या पाश्चात्य दर्शनों को पढ़कर उनकी व्याख्या और समालोचना करते हैं। मुसलमानी और यूरोप के विचारकों के तुलनात्मक अध्ययन पर कोई कहने योग्य पुस्तक नहीं है। मुसलमानी दर्शन के हिन्दू–बौद्ध दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन पर कुछ भी काम नहीं हुआ। इसी प्रकार उनके अपने इस्लामी सिद्धान्तों, विचारकों पर आलोचनात्मक और निर्माणात्मक कार्य भी नहीं हुआ। मौलिक और स्वतंत्र काम का तो अभाव ही है। ऐसी बात तो सारे मुसलमानी जगत् में ही है। मोहम्मद हसन् एल्ज़य्यत् ने लिखा है कि आधुनिक युग में मुसलमानी मूल सिद्धान्तों में न कुछ परिवर्तन हुआ, न विकास। ईश्वरमीमांसा के क्षेत्र में कुछ भी विकास नहीं हो पाया।[९] सच्ची बात तो यह है कि इस्लाम् के मूल सिद्धान्त और समस्यायें इस सदी के विद्वानों की चर्चा के विषय ही नहीं बने।[१०] उन अल्पसंख्यक लोगों में, जिन्होंने कम से कम इस्लाम के विचारों को वर्तमान युग के लिए उपयुक्त बनाने का प्रयास किया, उनमें हैदराबाद (दक्कन) के डाक्टर सैय्यद् अब्दुल लतीफ का नाम गणनीय है। उनका 'दि माइंड अलकुरान बिल्ड्स' (कुरान से निर्माण होने वाला मन) अच्छी पुस्तक है, जिसमें अनेक सिद्धान्त सुव्यवस्थित रूप से व्यक्त हुए हैं। ये १९५२ से अपनी इस्लामी अध्ययन की अकादमी (Academy of Islamic studies) के द्वारा कुरान और हदिद् पर आधारित एक नयी हेतु सम्मत उदार विचारधारा का विकास करने का यत्न कर रहे हैं। इस दिशा में कुछ अच्छा काम किया गया है।

दिल्ली के "जामिया मिलिया इस्लामिया" ने भी प्रशंसनीय उद्योग किया है। डाक्टर ज़ाकीर हुसेन ने, जिनका इस संस्था से घनिष्ट सम्बन्ध है, गान्धी जी के शिक्षा विषयक विचारों पर आधारित मौलिक शिक्षा के सैद्धान्तिक विकास में बहुत काम किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

(गान्धी जी के) इन भावों को विशद करने और आगे बढ़ाने में प्रोफेसर के. जी. सैयुद्दीन ने भी काम किया। डाक्टर अविद हुसेन की "गान्धी और नेहरू का मार्ग" नामक पुस्तक उन दोनों के दार्शनिक विचारों को अच्छी तरह व्यक्त करती है।

अलीगढ़ और उस्मानिया विश्वविद्यालयों में इस्लाम दर्शन का अध्ययन और अध्यापन होता है और उसमें अनुसन्धान भी किया जाता है। उस्मानिया के प्रोफेसर मीर वलीउद्दीन सूफी दर्शन के बड़े विद्वान् हैं और सूफी पवित्रता के आदर्शों के प्रतीक हैं। उनके असंख्य लेख और उनकी पुस्तक "कुरान का सूफ़ीवाद" (Quoranic Sufism) इस विषय पर बहुत अच्छी रचनाएं हैं। इनके निर्देशन में डाक्टरेट् उपाधि के लिए काम किये हुए लोगों की संख्या बढ़ी है। वे इस वर्ष के दर्शन कांग्रेस के अध्यक्ष हैं, और इस गौरव के पूर्ण अधिकारी हैं। अलीगढ़ के प्रोफेसर उमरुद्दीन समर्थ विद्वान् और अनुसन्धान के कार्य में प्रवीण व्यक्ति हैं। उनका साथी डाक्टर जाफर अहमद सिद्दीकी बहुश्रुत लेखक है।

प्रोफेसर सैय्यद वली उद्दीन्, जिनकी शिक्षा मारवर्ग में हुई, एक उच्चकोटि के विद्वान हैं। भारत में बहुत कम लोगों को पाश्चात्य दर्शन का उतना ज्ञान होगा जितना उन्होंने अंग्रेज़ी और जर्मन के मूलग्रन्थों को पढ़कर प्राप्त किया है। ये बहुत विनम्र, लज्जाशील और सहनशील व्यक्ति हैं, पर इन्होंने अभी बहुत नहीं लिखा इसलिए ये अभी तक बहुत प्रसिद्ध नहीं हो पाये। धर्म सम्बन्धी दर्शन और तत्वशास्त्र इनके दिलचस्पी के विषय हैं।

अब अन्त में प्रोफेसर हुमायून् कबीर के विषय में कुछ कहना है। ये प्रतिभा-शाली विचारक हैं और कई समस्याओं पर इन्होंने अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। उन विचारों का विकास करने के लिए उनको समय नहीं मिला। इन्होंने कान्ट की एक पुस्तक का अनुवाद किया, और अपने 'भारतीय विरासत' (The Indian Heri-tage) ग्रंथ में भारतीय इतिहास और संस्कृति का एक उज्ज्वल व्याख्यान किया। उसके बाद इनकी कई पुस्तकें, जिनमें इनके भाषण और लेख संगृहीत हैं, निकले हैं। "विज्ञान, प्रजातन्त्र और इस्लाम्" (Science, Democracy and Islam) इनकी एक विशिष्ट रचना है। इसमें एक जगह इन्होंने स्पष्ट रूप से यह व्यक्त किया है कि इस्लाम के मौलिक सिद्धान्त विज्ञान और प्रजातन्त्र के अनुरूप हैं।

क्योंकि अब कबीर आधुनिक भारत और दुनियां की समस्याओं में व्यस्त हैं, इसलिये इनके लिये मुख्य दार्शनिक समस्या है कि किस तरह उन संकटों और विषम परिस्थितियों का मुकाबला किया जाय जिनसे यह संसार पीड़ित है। यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम विविध समाजों और उन समाजों के व्यक्तियों के स्वभाव को अच्छी तरह न समझें। क्योंकि आधुनिक क्लिष्ट परिस्थितियों के कारण ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यक्ति और समुदायों में आन्तरिक या परस्पर कलह है।११ स्वातन्त्र्य और अधिकार(authority)में सामंजस्य विफल होने से भी यह कलह उत्पन्न होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, क्योंकि वह विचारशील है; विचारशील होने का अर्थ है व्यक्तिगत दृष्टिकोणों से ऊपर उठना। यह कहना कि आर्थिक और राजनैतिक कारणों द्वारा ही ये क्लिष्ट परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं, ठीक नहीं है। ऐसा कहने में मानव के बौद्धिक पक्ष को अनुचितरूप से अधिक महत्त्व मिलता है। यह बात नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य में अबौद्धिक अंश भी विद्यमान है। पर इस कथन से इस निष्कर्ष पर नहीं आना चाहिए कि मनुष्य का प्रत्येक कार्य सहज–प्रवृत्ति (instinct) जन्य है। वास्तव में, हरएक खास क्रिया की व्याख्या के लिए जब जब दूसरी व्याख्यायें असफल होती हैं।१२ तब एक विशिष्ट सहज-प्रवृत्ति का सहारा लेना पड़ता है।

कबीर के विचार में सामाजिक परिस्थितियां हमेशा अस्थिर ही रहती हैं। इसका कारण है अधिकार और स्वातन्त्र्य में परस्पर विरोध। यह अस्थिरता सामाजिक नियम (order) और सामाजिक परिग्रह (content) में समन्वय न होने से और भी बढ़ती है। सभी सामाजिक परिवर्तन इसी के कारण होते हैं। समाज में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना, जिससे समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन आवें और सामाजिक जीवन व्यवस्था न विगड़े, यह है विवेकपूर्ण राजनीति का स्वरूप।१३

इस बात को मानते हुए भी कि मानव सामाजिक प्राणी है, कबीर कहते हैं कि वे साथ ही साथ "अनन्त काल का एकाकी यात्री है"।१४ व्यक्ति एक अद्वितीय सामान्य (unique universal) है और कल्पना (imagination) का निवेश ही अद्वितीयता है। जब तक हम कल्पना की समालोचना ठीक तरह से न करें, अर्थात् नैतिक अनुभूति और सौन्दर्यानुभूति का विवेचन न करें, तब तक व्यक्ति को नहीं समझ सकेंगे। व्यक्ति को न समझने से समाजों का स्वभाव और आधुनिक समस्यायें अवगत न होंगी। पहले एक परिपूर्ण समाज की कल्पना करनी चाहिए जिसमें समता है और विकास की सम्भवता है, तब विभिन्न प्रकार के वर्तमान समाजों की तुलना उससे करनी चाहिए।१५ और उनकी आलोचना भी होनी चाहिये। ऐसा करने से उनमें अच्छे कार्यक्रमों का सन्निवेश किया जा सकता है। इस प्रकार धीरे धीरे समाजों में परिवर्तन सम्भव है, जिससे उनका पुनर्निर्माण भी हो सकता है। कबीर की दृष्टि में यह है आज के दर्शन का कार्य।१६ अन्य तीन लेखों में कबीर ने कल्याणकारी राज्य (welfare state) मानव अधिकार (rights) और प्रजातन्त्र, इन तीनों के अर्थों को विशद करने का प्रयास किया।

स्पष्ट है कि कबीर एक आकर्षक, सुसम्बद्ध सामाजिक दर्शन के निर्माण में सफल हुए हैं, पर उसको वे और भी विकसित करें तो वह आधुनिक भारत में पहला बड़ा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सामाजिक दर्शन होगा। यदि हम उनके विचारों को ध्यान से देखें तो व्यक्त होगा कि उनके विचारों पर प्लेटो, कान्त और व्हायटहेड का प्रभाव है। उनके शिक्षा सम्बन्धी दर्शन पर व्हायटहेड् का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है।

सामाजिक और राजनैतिक विचारों के क्षेत्र में ए० एस्० अयूव ने वहुत कुछ काम किया है। उसकी मार्क्सिज़्म के ऊपर समालोचना वहुत उत्तेजक है।

हिज़रा के प्रथम शताब्दी में यात्रा और व्यापार के लिए मुसलमानी अरव भारत के मलवार प्रान्त में आये थे। इस देश में उनका व्यापार वाद में इतना वढ़ा कि सातवीं शताब्दी के अन्त में दक्षिण भारत में अरव उपनिवेश स्थापित किये गये। ७१२ ईसवी में अरवों ने सिन्ध को जीता। उस के वाद मुसलमान, अफघानी, तुर्की और मुगल लोग इस देश को जीतने आये और शासकों के रूप में वे यहां उसी तरह रह गए जिस तरह वैदिक आर्य, पार्थियन्, सीथियन और हूणों ने वहुत पहले यहां आकर इस देश को अपना आवास्य वनाया था। तदनन्तर हजारों की संख्या में लोग इनके धर्म में दीक्षित होने लगे। १३०० वर्षों से मुस्लमान भारत में रहते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर मध्ययुग में, और अव भी, मुसलमान इस्लाम् को परिपूर्ण अवस्था ही मानते हैं। ज्यादातर वे यही सोचते हैं कि सभी समस्यायें बहुत पहले हल हो चुकीं और कुरान में उन सवके उत्तर मौजुद हैं। उनमें वहुत लोग अपने व्यक्तित्व और विचारों को पड़ोसियों के विचार और संस्कृति के सम्पर्क में लाने के लिए सहमत नहीं हैं। जिस प्रकार अल्-वेरूनी, अवुल फजल और फैजीयो ने हिन्दू विचारों को खुलेमन अध्ययन किया, अरव दार्शनिकों ने ग्रीक दर्शन को जिस प्रकार ग्रहण किया, उसी प्रकार भारतीय मुसलमानों को भी पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा अपने पड़ोसियों की प्राचीन और समकालीन दार्शनिक विचारधारा को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।[१७] उनको आधुनिक भारत और दुनिया की समस्याओं से अपना सम्पर्क वनाये रखना चाहिये। ऐसा सम्पर्क रखते हुए भी वे अपनी वड़ी परम्परा को अविच्छिन्न रख सकते हैं। अव समय है कि वे नये दृष्टिकोण से विचार करें। भारतीय प्रजातन्त्र और संविधान, रूढ़िवादी शक्तियों का, और उलेमाओं तथा सरकार की देखभाल में रहने वाली मुसलमानी संस्थाओं का, अभाव ये सव भारतीय मुसलमानों के दुनिया के अन्य मुसलमानों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील, किंतु यर्थाथ–धर्म–पूर्ण वनने और आधुनिक जगत् में वहुत सृजनात्मक कार्य करने में सहायक होंगे।[१८] प्रोफेसर स्मित् कहते हैं, "दनिया में कहीं भी, टर्की में भी, मुसलमान अपनी धार्मिक समस्याओं में ईमान और दृढ़ता के साथ मन लगाने में, निर्भयता पूर्वक अपने विचार व्यक्त करने में और अपने लेखों को प्रकाशित करने में, उतने स्वतन्त्र नहीं हैं जितने वे भारत में हैं"।[१९] इस सदवकाश और स्वतन्त्रता के फल देखने के लिए सारा संसार प्रतीक्षा कर रहा हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भारतीय ईसाई और उनका दर्शन

ईसाई धर्म भारत में नवीन नहीं है। कहते हैं कि ईसा के शिष्य थोमस् भारत आये थे। इनके बहुत दिनों के बाद फ्रान्सिस क्ज़ावियर ने कुछ दिन इस देश में प्रचार किया था। बहुत ही प्राचीन काल से नेस्टोरियन् ईसाइयों के समुदाय इस देश में रहते आये हैं और प्राचीन युहूदी उपनिवेश भी यहां थे। सातवीं शती से सीरियन चर्च भी इधर पनप रहा है। लेकिन जब पुर्तगालों ने भारत का मार्ग पाश्चात्य देशों के लिए खोल दिया, तब से यहां के लोग अधिक संख्या में ईसाई धर्म में परिवर्तित होने लगे। अंग्रेजी शासन इस देश पर अधिष्ठित होने के बाद इनकी संख्या और भी बढ़ने लगी। लेकिन आश्चर्य की बात है कि उनमें बहुत ही कम लोग बौद्धिक विकास के मार्ग में विशिष्ट प्रगति कर पाये। और जब दर्शन की बात आती है तो शायद उनमें कोई भी विशिष्ट दार्शनिक नहीं हुआ, यदि दर्शन को हम पठनपाठन के (academic) दृष्टिकोण से देखें। इसका कारण यह हो सकता है कि बहुत से लोग, जो ईसाई धर्म में परिवर्तित हुए हैं, या तो वे दलित वर्ग और परिगणित (scheduled) जातियों के हैं, या अत्यधिक निर्धनता के कारण उनमें बहुत ही कम लोग उन्नत विद्या पा सके और बौद्धिक कार्य में संलग्न हो सके। यह संभव है कि भारत में ईसाई प्रतिभा अंतर्मुख न होकर ज्यादा बहिर्मुख रही है, जिससे वह शायद सुकर्म संलग्न तो रही किन्तु विमर्शनात्मक व सृजनात्मक चिंतन से पराङ्मुख रही। यह भी एक कारण हो सकता है कि यहां के ईसाई भारतीय दर्शन की मुख्य परम्परा के सम्पर्क में नहीं हैं; और जिस धर्म को यह आजकल ग्रहण किये हुए हैं उसका स्वरूप कुछ हद तक वैदेशिक व पाश्चात्य बन गया है, इसलिए इस दर्शन को अपनाना उनके लिए कठिन है। फलतः उनकी अपनी कोई दार्शनिक परम्परा नहीं रही जो उनको प्रोत्साहित करे और उनमें स्वतन्त्र विचार उत्पन्न करे। लेकिन इसके कुछ मुख्य अपवाद हैं। क्योंकि अब ईसाई धर्म पिछले तीन सौ वर्षों से इस देश के वातावरण में घुलमिल गया है इसलिए वह भारतीय ईसाइयों के अस्तित्व में अंतर्भूत हुआ है, ताकि वे भी अपने हिन्दू भाइयों के समान कुछ न कुछ कर सकते हैं। इसके अलावा, देकार्त के बाद, मुख्यतः कान्ट के अनन्तर (कैथोलिक यूरोप को छोड़ कर) यूरोप में दर्शन का स्वरूप धार्मिक नहीं रहा, जैसाकि मध्य युग में वह "ईसाई दर्शन" था। आधुनिक पाश्चात्य देशों में दर्शन और ईश्वरमीमाँसा (theology) में विस्पष्ट विभेद मान लेने से वहाँ के दर्शन के उद्देश्य और पद्धति "धार्मिक" नहीं रह पाये जिस प्रकार भारतीय दर्शन में वे हैं। इसलिए भारत के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रोटेस्टैंट ईसाई यदि दर्शन का विकास करते हैं तो उस का स्वरूप उस ईसाई दर्शन की तरह नहीं रहेगा जो हम सेंट थोमस् और गिल्सन् में पाते हैं। इसका स्वरूप अपने बहुत से हिन्दू साथियों के दर्शन की अपेक्षा अधिक मानवतावादी और ऐहिक होगा। इस बात की सिद्धि में जि. सि. चटर्जी के विचार उदाहरण हैं।

भारत के अधिकतर कैथोलिक कालेजों में दर्शन नहीं पढ़ाया जाता, क्योंकि बहुत से भारतीय विश्वविद्यालयों में यूरोप के मध्ययुगीन दर्शन के बारे में कुछ भी नहीं पढ़ाया जाता, और जो पाठ्यक्रम और पाठ्यग्रन्थ निर्धारित हैं वे अरस्तू के वाद के यूनानी दर्शन से लेकर देकार्त तक के समय को अन्धविश्वासपूर्ण बताते हैं। इनमें कान्ट और हेगल जैसे दार्शनिकों को महत्व दिया गया है। कान्ट ने तर्काश्रित ईश्वरमीमांसा (Rational Theology) की सम्भवता का निराकरण किया और ईश्वर के अस्तित्व को विश्वास का विषय माना; और हेगल ने विचार और तर्क को सत्य से अभिन्न बताया और इस प्रकार श्रुत्याश्रित ईश्वरमीमांसा (Revealed theology) का निराकरण किया। इस भय से कि ऐसे दर्शनों और भारतीय दर्शन के अध्ययन से उनका धर्म कलुषित हो जायगा, कैथोलिक चर्च ने भारतीय कैथोलिक अनुयायियों को दर्शन के अध्ययन से विमुख बनाया। जो कोई दर्शन की बातें कही जाती हैं वे अपने ही शिक्षा-मन्दिरों (seminaries) में कही जाती हैं। यद्यपि कई कैथोलिक पादरी स्पेन, बेल्जियम् और रोम में अध्ययन करके आये, लेकिन उन्होंने कोई महत्वपूर्ण दर्शन का निर्माण नहीं किया।

इसके विपरीत यहां के प्रोटेस्टेंट ईसाई, जिन्होंने दर्शन का अध्ययन करना चाहा उन्होंने वैसा किया; उनमें से कुछ विश्वविद्यालयों में और कालेजों में अध्यापक बन गए। लेकिन संख्या और गुण की दृष्टि से देखा जाय तो दर्शन के क्षेत्र में उनका सहयोग अधिक नहीं रहा।

लेकिन ईश्वरमीमांसा के विषय में कतिपय ईसाई पुरोहित लोगों (clergy) ने कुछ निर्माणात्मक काम किया। प्रोटेस्टैंट ईसाइयों में अप्पसामी और माणिक्यम् इत्यादि के नाम और कैथोलिक ईसाइयों में फादर शोरय्या आरोक्य स्वामि वगैरह के नाम प्रसिद्ध हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के केशव चन्द्र सेन (१८४३-१८८४) ईसाई धर्म में दीक्षित तो नहीं हुए परन्तु वे हृदय के सच्चे ईसाई थे (जैसे मैक्समूलर ने सबूत दिया)। इन्होंने अपने भाषणों और लेखों द्वारा एक विशिष्ट प्रकार की विचारधारा का निर्माण किया। इनका कहना है, चूँकि ईसा मसीह का जन्म एशिया में हुआ और ईसाई धर्म को एशिया वालों ने विस्तृत किया, इसलिए एशिया के लोग ही यूरोप के लोगों की अपेक्षा अच्छी तरह ईसामसीह के उपदेशों का "परिपूर्ण दर्शन" (Fuller perception) और उनमें निहित "शक्ति और सौन्दर्य" का ग्रहण कर सकते हैं। उनकी दृष्टि में ईसा मसीह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"मानवता के परम औन्नत्य" और "ऐशिया के लोगों को ही साध्य वैभव" हैं। भारतीय धार्मिक उद्यम ईसा में परिपूर्ण होता है। अपने को ईसा के एक मानवीय दूत मानते हुए वे एक प्रकार के सिद्धान्त की स्थापना करना चाहते थे जो "ईसाई धर्म-व्यवस्था का निगमन और परम्परा" है और "ईसा के उपदेशों का ही पर्यवसान है"। "ईसा के सत्य से रङ्गे हुए" (Imbued with his Spirit), सेन ने इस नयी व्यवस्था को प्रसूत किया। इसका प्रधान अंश ईसाई धर्म से लिया गया, पर इसमें दूसरे धर्मों से संगृहीत (योग, भक्ति आदि) अनेक सिद्धान्त अनुस्यूत हैं। सेन अपने को भारत का सेंट–पाल कहते थे और यह विश्वास करते थे कि उनको एक ईश्वरीय अभिव्यक्ति प्रसादित हुई है जो न्यू टेस्टमेंट परम्परा ही में है। उनको विश्वास था कि अपनी यह व्यवस्था (dispensation) विविध धर्मों के परस्पर कलहों का अन्त करेगी, उन सब में सामंजस्य की स्थापना करेगी, जाति–कुल विभेदों को मिटायेगी और प्राक्पश्चिमों को एक दूसरे में अन्तर्भूत होने को और समा जाने को प्रोत्साहित करेगी। उनकी यह आशा थी कि भारत में राष्ट्रीय चर्च का उद्भव होगा जिसमें "हिन्दू और मुसलमान धर्मों के दैवीय गुणों की एकता से सम्पन्न भव्य धर्म का विकास होगा" जो ईसाई धर्म के प्रभाव से समन्वित होकर निखरेगा और विकसित होगा। अन्त में, उनके अनुसार "सब जातियों को सम्मत सामान्य धर्म का प्रादुर्भाव होगा" जो हरेक देश में अपनी अपनी रीति से विकसित होगा। सेन का विचार था कि हिन्दू होने के नाते उ .में "आध्यात्मिक एकता और तल्लीनता की शक्ति" विद्यमान है जिसको उन्होंने अपने पूर्वजों से प्राप्त किया और जिसके कारण इस प्रकार की समन्वयात्मक भावना सम्भव हो सकी। "सार्वजनिक सत्यप्रवाह के प्रसरण द्वारा" मानव और देशों के बीच में अड़े हुए मानसिक और सामाजिक बन्धनों का निमूलन करना, और मानव हृदयों में हमेशा के लिए "सत्य, प्रेम और पवित्रता" के भावों का संचलन करना, उनके आदर्श हैं।२१

समग्र सत्य और सम्पूर्ण ज्योति पूर्व से आते हैं (क्योंकि ईसा को मिलाकर, सभी बड़े धार्मिक उपदेशक एशिया में उत्पन्न हुए हैं)। भारत की विशिष्ट प्रतिभा परस्पर विरोधी धर्मों और संस्कृतियों का समन्वय करने की शक्ति में है। कहीं से भी आवे, सत्य को हिन्दू समझ सकता है और अपने में समा सकता है। "जबकि हम आधुनिक विज्ञान को इंग्लैंड से सीखते हैं तो इंग्लैंड भारत से प्राचीन आर्ष ज्ञान को सीखता है" ("जो कि वेदमत और बौद्ध धर्म में स्थापित अमूल्य धननिधि है")। भारत में प्राक्–पश्चिम का एक दैवीय विधान है जो दोनों की भलाई के लिए आवश्यक है। सेन के ये विचार किसी न किसी रूप में बहुत से भारतीय अब भी व्यक्त करते हैं। उनके ये विचार विवेकानन्द, टैगोर, अरविन्द और राधाकृष्णन् जैसे लोगों में हम पाते हैं। उपरिकथित बातों में से केवल पहली बात को ही राम मोहन राय ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर बाकी को नहीं किया। केशव चन्द्र सेन एक विशिष्ट व्यक्ति हैं। उनकी विशाल बुद्धि में महान अन्तर्निरीक्षण की क्षमता देदीप्यमान है और उसकी सार्वजनीन दृष्टिकोण-समन्वित धार्मिक प्रतिभा सचमुच सराहनीय है। चर्च को भारतीय बनाना, अर्थात् उसके व्यक्ति और दृष्टिकोण भारतीय रहें; प्राचीन भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय को ईसाई धर्म की भूमिका के रूप में अपनाना, जैसाकि पश्चिम में इसाई धर्म ने युहूदी धर्म और यूनानी दर्शन को अपनाया था; आवश्यक हिन्दू आश्रमादि संस्थाओं का और योग, भक्ति आदि साधनों का ग्रहण करना—सेन के इन विचारों का बहुत ईसाई आज भी समर्थन करते हैं। उदाहरणार्थ, इस शती में "क्रैष्टी समाज" नामक एक संस्था को पि. चेंचय्या ने स्थापित किया। इसका उद्देश्य यह था कि ईसाई चिंतन का व्याख्यान भारत के वैचारिक, सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल हो। इस समाज से प्रकाशित 'री थिंकिंग क्रिश्चियानिटी इन इंडिया' में ईसाई धर्म के भारतीयकरण के लिये युक्तियाँ साग्रह प्रस्तुत की गयी हैं। येड्डी आशीर्वादम् का 'क्रिश्चियानिटी इन दि इंडियन् क्रूसिबुल' ईसाई धर्म के राष्ट्रीयकरण के लिये किये गये प्रयत्नों की समीक्षा करता है।

अब तक भारत में उत्पन्न हुए एकमात्र अग्रगण्य ईसाई धार्मिक व्यक्ति साधु सुन्दर सिंह (१८८९–१९३०) हैं। बहुत बड़े ईश्वर–मीमाँसक प्रो० हैलर और कैननू-स्ट्रीटर जैसे पण्डित इनको इसाईमत के एक बड़े रहस्यवादी के रूप में मानते हैं और इनके ऊपर पुस्तकें भी लिखी हैं। ये जन्मतः सिक्ख हैं और इन्होंने अपने बाल्य जीवन में योग और सिक्खों में प्रचलित धार्मिक उपासना का अभ्यास किया। ये अकसर समाधिस्थ हो जाते थे। एकबार उनको ईसा के दर्शन हुए और इनको यह निश्चय हो गया कि ईश्वर की कृपा और जीवित ईसा, दोनों यथार्थ हैं। इसके बाद ये ईसाई साधु बन गये और यह घोषणा करने लगे कि ईसामसीह सर्वरक्षक है। इन्होंने ईसाई धर्म में भारतीय आध्यात्मिकता के वैराग्य, आमुष्मिकता और सरलता, और खास कर सिक्खों के भक्तिमार्ग का, समावेश किया। ये हमेशा नानक के नीचे लिखे उपदेशों के सच्चे अनुयायी रहे: धर्म का स्वरूप है ईश्वर से भीति और सत्कार्यों में निष्ठा। इन्होंने इन उपदेशों को ईसाई उपदेशों से मिलाकर और भी समृद्ध किया। इसी तरह, जैसेकि नानक ने और ईसाई धर्म ने बताया, ये सदा यही प्रयास करते रहे कि "मैं इस संसार में रहूँ, नकि इस संसार का"। इन्होंने ध्यान को क्रिया के साथ मिलाने के लिए और सिद्धान्त को अनुभव पर आधारित करने के लिये प्रयत्न किया।

इनका ईश्वर का सिद्धान्त वेदान्तियों के "अवाच्य", "अगोचर" ब्रह्म और भक्तिमार्गानुयायियों के "प्रेम और दया के सागर' सगुण पुरुषोत्तमभाव का समन्वय है। शान्त ब्रह्म की तरह इनका शान्त ईश्वर (God of Peace) भी बुद्धि से परे है। इन्होंने ईश्वर को अपने "प्राण का प्राण, आत्मा का आत्मा" माना है। इन्होंने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ईश्वर को अपनी "आध्यात्मिक माता" और "प्रेम का पारावार" कहने में संकोच नहीं किया। प्रार्थना ईश्वर की उपस्थिति के लिए होनी चाहिए नकि किसी वरदान की आकांक्षा से। अब हम देख सकते हैं कि इनके ये विचार आल्वार, रामानुज और बाद के भक्तों के द्वारा व्यक्त किये विचारों से कितना मिलते जुलते हैं।

साधु सिंह के अनुसार सृष्टि ईश्वर के प्रेम की अभिव्यक्ति है। यह लोक अदृश्य आध्यात्मिक लोक की प्रतिकृतिमात्र है। इन्होंने ईसाइयों के सामान्यतया प्रचलित सिद्धान्त "निर्णय का अन्तिम दिवस" (Final day of Judgement) का निराकरण किया। इन की दृष्टि में, पापी अपने ही कर्मों से दण्डित होकर उनका फल भोगता है। यह एक प्रकार का कर्मसिद्धान्त है।

सिंह को यह विश्वास रहा कि ईसाई धर्म सब धर्मों का "मुकुट" है। सभी धर्मों में कुछ न कुछ सत्य है, इसलिए उन सब को आदर के साथ देखना चाहिए, क्योंकि उनमें पवित्रता विद्यमान है। पर ईसाई धर्म में समग्र सत्य निहित है। आश्चर्य की बात है कि "मुकुट" का यह विचार, अर्थात् एक खास धर्म या सिद्धान्त में अन्य धर्म और सिद्धान्तों का समाविष्ट होकर संपूर्ण होना, बहुत से विचारकों और धर्मों में पाया जाता है। उपनिषदें वेदों के सीमान्त मुक्तामणि हैं, वेदान्त उनका अन्तिम स्वरूप हैं। पूर्वकल्पों में विविध बोधि सत्वों द्वारा उपदिष्ट सत्य को गौतम बुद्ध अपने उपदेशों में पूर्णतया सारे भविष्य के लिये एकत्रित किये हुए हैं। ईसा मसीह ने युहूदी धर्म को परिपूर्ण बनाया। अमीर अली और इकबाल के मत में मोहम्मद ने समग्र सत्य का ग्रहण किया जिसको दूसरों ने अंशतः ही प्राप्त किया था। मधुसूदन सरस्वती, विवेकानन्द और राधाकृष्णन् वेदान्त को सार्वलौकिक धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसमें बाकी के सब धर्म समाविष्ट होकर सार्थक हुए हैं।

धार्मिक अनुभव की गहनता में और सत्य के स्वरूप को यथावत् समझकर उसको हिन्दू और ईसाइयों के लिये समान रूप से आकर्षक रूप में व्यक्त करने की क्षमता में ईसाईयों में सुन्दर सिंह की तुलना में कोई भी व्यक्ति इस देश में उत्पन्न नहीं हुआ। उनके उपदेशों का सैद्धान्तिक भाग भी बहुत मौलिक है।

कैथोलिक मत के अनुयायियां में ब्रह्मबान्धव उपाध्याय एक प्रभावशाली व्यक्ति हैं। इनमें और सुन्दर सिंह में भेद यह है कि ये विद्वान् और बड़े देशभक्त थे। इनका जन्म बंगाल के ब्राह्मण कुल में हुआ। धर्म की खोज में पहले ये ब्रह्मसमाज में जा मिले, वहां से प्रोटेस्टैंट ईसाई बने, फिर अन्त में इन्होंने कैथोलिक ईसाई मत को स्वीकार किया। इसके अनन्तर भी ये आमरण ब्रह्मचारी, शाकाहारी और सन्यासी ही रहे। ये विवेकानन्द के मित्र और रवीन्द्र नाथ टैगोर के साथी थे। इन्होंने आक्सफर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में भाषण दिये और यूरोप का पर्यटन किया। ये उत्तम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

देशभक्त थे और बंगाल के विभाजन के विरोध में जो आन्दोलन चला था उसमें इनका प्रधान योगदान था। उसी आन्दोलन में इनको गिरफतार किया गया और मुकदमा चलाया गया। मुकदमा अभी चल ही रहा था कि इनका देहावसान हो गया।

उपाध्याय हिन्दू दर्शन और ईसाइयों की ईश्वरमीमाँसा का समन्वय करना चाहते थे। (इस बात से चर्च सहमत नहीं था)। इनकी यह इच्छा थी कि हिन्दू दर्शन ईसाई धर्म के लिए इस तरह उपादेय बने जिस प्रकार यूनानी दर्शन को सेंट थोमस् ने ईसाई धर्म के लिए उपादेय बनाया था। इनका यह विचार था कि हिन्दू दर्शन पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा "निस्सन्देह उन्नत है", क्योंकि "भारतीय मन समन्वयात्मक और ऊहा चोदित है"। इनकी दृष्टि में ईसाइयों की ईश्वरमीमाँसा अपनी चरम अवस्था पर नहीं पहुँची है; यह युगान्त तक विकसित होती ही रहेगी। इनका यह विश्वास था कि हिन्दू दर्शन से समन्वित होकर ईसाई श्रुति "नवीन सामञ्जस्य और नये सौन्दर्य" को विकसित करेगी और अपने श्रद्धा (faith) के विषय को और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त करेगी।

उपाध्याय को इस बात का गर्व था कि उनका जन्म हिन्दुओं में हुआ और वे कहा करते थे कि वे आमरण हिन्दू रहेंगे। इस प्रकार के रहने से, उनकी दृष्टि में, "सार्वभौम" और "व्यापक" धर्म (कैथोलिसिज़्म) का विरोध नहीं होगा, क्योंकि ईसामसीह की दिव्यप्रेरणा हिन्दू धर्माचार के सद्गुणों को विकसित ही करेगी। इन्होंने कहा कि हिन्दू होने का मतलब किसी विशेष धार्मिक सिद्धान्त का आलिङ्गन करना नहीं है। (इस भाव को बाद में गोविन्द दास और राधाकृष्णन् जैसे लोगों ने भी व्यक्त किया है)। "एक विशिष्ट भाव या तेज (Spirit) से पूर्णरूपेण अनुप्रेरित होना" ही हिन्दू होना है। १) यह मानना कि प्रत्येक वस्तु एक शाश्वत सत् से निकलती है (वेदान्त), २) अवतार और दिव्य-प्रसाद (Divine grace) की आवश्यकता में विश्वास करना (वैष्णव मत और भक्ति); ३) इस बात से सहमत होना कि संस्कार पवित्रता के लिए अनिवार्य है (स्मृति); और ४) धार्मिक और सामाजिक विषयों में पुरोहितों के (ब्राह्मणों के) परिपूर्ण अधिकार को मान लेना—यह है (उन के अनुसार) हिन्दू भाव या तेज से प्रेरित होने का अर्थ। एक सार्वभौम और व्यापक धर्म के अनुयायी होते हुए भी उपाध्याय हिन्दू रीति-रिवाजों से और सामाजिक व्यवस्थाओं से अलग नहीं होना चाहते थे। वे "हिन्दू कैथोलिसिज़्म" को चाहते थे।

कुछ बड़े जेसूइट धर्मप्रचारकों ने भी भारत और चीन में जातीय-तत्तद्देशीय-कैथोलिक धर्मों को स्थापित करना चाहा और इस दिशा में उनको कुछ सफलता भी मिली। सच्चा ईसाई बनने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि लोग ईसा के समकालिक गेलिली के रहने वालों की भाँति अब भी रहें और सोचें, या यूरोप के उन लोगों की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तरह जियें जो ग्रेगरी महान के समय में थे। ईसाई बनने का मतलब गहरा, आध्यात्मिक और मौलिक होना चाहिये। ये हैं कुछ जेसूइट लोगों की प्रज्ञायुत भावनायें; लेकिन इनका कैथोलिक चर्च से ही सम्बन्धित इतर प्रत्यर्थी संस्थाओं ने घोर विरोध किया। तिब्बत का बौद्ध धर्म, चीन का बौद्ध धर्म और जापान का बौद्ध धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं; और ये तीनों दूसरे देशों में प्रचलित बौद्ध धर्मों से भिन्न हैं; और ये सब प्रकार के बौद्ध धर्म प्राचीन बौद्ध धर्म से, जो बुद्ध के प्रारम्भिक शिष्यों के काल में था, भिन्न हैं। बाली और कम्बोडिया के हिन्दूधर्म में और भारत में प्रचलित हिन्दू धर्म में एकता नहीं है, और भारत में भी दक्षिण के नम्बूदरी ब्राह्मणों का धर्म और पंजाब के जाटों का धर्म आचरण में और बौद्धिक विकास में भिन्न हैं। रीति रिवाजों, मानसिक स्वभाव और जीवन की पद्धतियों के दृष्टिकोण से देखा जाय तो ऐरलैंड, इटली, जर्मनी, स्पेन और युगोस्लाविया देशों में विद्यमान कैथोलिक धर्मों में एकरूपता नहीं है। इसलिये इस का कोई कारण नहीं है कि राष्ट्रीय ईसाई धर्म—कैथोलिक हो या प्रोटेस्टैंट—पूरब के देशों में नहीं पनते। तत्व एक है, पर वह विभिन्न रूपेण व्यक्त किया जा सकता है। जो चाहिये वह है मूलतत्व या सार, नकि उसके बाहरी रूप व आगन्तुक विषय।

उपाध्याय का दूसरा विचार, जो दार्शनिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है, वह है हिन्दू दर्शन और ईसाई सिद्धान्तों और अन्तर्दृष्टियों का सामंजस्य। इस का प्रथम सोपान है भारतीय ईसाई–इतर भारतीयों द्वारा, अर्थात् हिन्दू और मुसलमानों द्वारा, ईसाई सिद्धान्त और धर्म का अध्ययन करना। इसके पहले सब अपने अपने दर्शन और परम्पराओं का अध्ययन तो जारी रखें उसके बाद ही सामंजस्य प्राप्त करने का साधन मिल सकता है। यदि वह नहीं मिला तो यह बात स्पष्ट होगी कि दोनों समानान्तर हैं और केवल जिनका समन्वय असम्भव है। यदि यहाँ के कुछ ईसाई शबर और शंकर को उनके मूलग्रन्थों के अध्ययन द्वारा समझ सकें और कुछ हिन्दु ग्रीक् और लैटिन् पढ़कर क्लीमेंट, ओरिजिन् और आगस्टैन् को समझें तो भारतीय वैदुष्य में एक नया चैतन्य उत्पन्न होगा। यहाँ मैं आनन्द कुमार स्वामी के अभिप्राय को उद्धृत करना चाहता हूँ जिससे मैं सहमत हूँ: "सब से ज्यादा आवश्यक और व्यावहारिक समस्या, जिसे दार्शनिकों को हल करना है, वह तुलनात्मक धर्म के सूत्रों का नियन्त्रण और संस्करण करना है"।२३ परन्तु मैं इस बात का कुछ संशोधन करना चाहता हूँ। मैं कहूँगा कि यह सब से ज्यादा आवश्यक दार्शननिक समस्या नहीं, किन्तु यह सब से ज्यादा आवश्यक दार्शनिक समस्याओं में से एक है।

जिस प्रकार के अध्ययन का मैं समर्थन कर रहा हूँ वह पाश्चात्य विद्वानों ने विस्तृत रूप से किया, परन्तु अब समय है कि भारतीय भी कुछ करें। भगवान् दास और राधाकृष्णन् जैसे कुछ इनेगिने व्यक्तियों को छोड़ कर वर्तमान युग में तुलनात्मक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

धर्म के अध्ययन ने भारतीयों को आकर्षित नहीं किया। दूसरे धर्मों के बारे में, खासकर अन्य प्राच्य और दूर प्राच्य के प्राचीन धर्मों के बारे में, भारतीय विद्वानों का ज्ञान बहुत अपरिपूर्ण है। हमेशा पाश्चात्य विद्वान् ही ईजिप्ट या मैक्सिको, कन्फ्यूसियन् या बालिनीस् धर्मों के अध्ययन करते आये हैं। भारतीय विद्वानों में प्रगतिशील विद्वज्जनोचित प्रयत्नों का अभाव और दूसरे धर्म और संस्कृतियों को अवगाहन करने में औत्सुक्यहीनता, ये ऐसे दोष हैं जो बहुत शोचनीय हैं।

डाक्टर कुमारप्पा और बंगलोर के डाक्टर पि. डि. देवानन्दन् जैसे कुछ प्रोटेस्टैंट ईसाई हैं जिन्होंने हिन्दू सम्प्रदाय और भावों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है। डाक्टर भारतन् कुमारप्पा का रामानुज पर ग्रन्थ और माया के ऊपर डाक्टर देवानन्दन् की पुस्तक निष्पन्न और आलोचनात्मक वैदुष्य के उदाहरण हैं। इसके अलावा, डाक्टर देवानन्दन इस प्रकार के और भी उत्तम कार्य कर रहे हैं और एक संस्था का भी संचालन कर रहे हैं जिसने कुछ अच्छा काम भी किया। वि. चक्कराय चेट्टियार का 'जीसिस दि अवतार' ईसाई चिंतन को हिन्दू भावनाओं द्वारा व्याख्यान करने के प्रथम प्रयत्नों में एक है। भारतीय कैथोलिक पादरियों में भी इस प्रकार के अध्ययन में औत्सुक्य बढ़ रहा है। फादर ज्ञानप्रगाशमु ने राधाकृष्णन् के दर्शन पर निबन्ध (thesis) लिखकर रोम के गेगोरियन् विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधि पायी है।२४ फादर फणिक्कर ने कुछ अच्छे हिन्दू दर्शन सम्बन्धी लेख लिखे हैं। फादर रा. पि. आरोकिया स्वामि ने अपने डाक्ट्रिन आफ ग्रेस में बैबिल के ईश्वरानुह का और शैव सिद्धान्तों का उसी तरह का तुलनात्मक अध्ययन किया। इस क्षेत्र में काम करने वाले कैथोलिक् और प्रोटेस्टैंट धर्म के अनुयायी और भी कई होंगे जिनकी कृतियाँ मेरी दृष्टि में अब तक नहीं आयी हैं। अन्त में जे. सि. कुमारप्पा के विशिष्ट कार्य का ज़िक्र करूँगा। इन्होंने गान्धी जी के कई ग्रन्थों का सम्पादन किया था और गान्धी जी के सिद्धान्तों के एक प्रधान व्याख्याता थे। इस पुस्तक में ही अन्यत्र जि. सि. चटर्जी के दार्शनिक भावों पर विचार मौजूद हैं, इन विचारों पर धर्म या ईश्वरमीमाँसा का प्रभाव नहीं पड़ा। हिन्दू धर्म के अध्ययन के लिये वाराणसी में फादर चक्रवर्ती एक ईसाई संस्था स्थापित कर चला रहे हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस देश में दो (प्रोटेस्टैंट) ईसाई दिखाई देते हैं जो अपने अपने क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। अन्नामलाई विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एस. पि. आदिनारायण ने मनोविज्ञान में "मानव मन" (The Human Mind) नामक प्रचलित पाठ्यग्रन्थ को लिखने से अपना कार्य शुरू किया। इनके सामाजिक मनोविज्ञान पर कई उत्तम लेख प्रधान पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इनकी आगे आनेवाली पुस्तक "जाति चित्तणता" (Colour prejudice) इनको एशिया के सामाजिक मनोवैज्ञानिकों में अग्रगण्य बनायेगी। मद्रास विश्वविद्यालय के डाक्टर जि. डि. बोवाज़ ने साधारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मनोविज्ञान पर बहुत अच्छे प्रामाणिक ग्रन्थ और पत्रिकाओं के लिए महत्वपूर्ण पारि-भाषिक लेख लिखे हैं। ये मनोविश्लेषण के कार्य में अनुभवी व्यक्ति हैं और इस देश के एक प्रधान मनोरोग चिकित्सक हैं। वेदनायगम शास्त्रियर के सुन्दर भक्ति गीत और नारायण वामन तिलक की कविता भी उल्लेखन योग्य हैं। बिहार यूनीवर्सिटी के डाक्टर याकूब मसीह, जो मुस्लिम घराने में उत्पन्न हुए किन्तु पीछे ईसाई हो गये, का नाम भी उल्लेखनीय है। इनके कुछ लेख मैंने हिन्दी में पढ़े हैं। ये भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों में निष्णात विद्वान हैं और आजकल तुलनात्मक दर्शन पर कार्य कर रहे हैं। इनके दर्शन तथा मनोविज्ञान पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं। इनका विभिन्न दर्शन-प्रणालियों, धर्मों, रहस्यवाद तथा ईश्वरमीमांसा का विशिष्ट ज्ञान आश्चर्यजनक है।

उद्धरण निर्देश

१. B. J. Hasrat, Dara Shikoh; Life and Works, Viswabharati, 1953.

२. कुरान यह मानता है कि सब लोगों के अपने अपने धर्म-प्रवक्ता और श्रुतियां हैं। देखिये कुरानः १७.१५; ३५.२४; ५७.२५.

३. वहीं देखिये, १३.११।

४. Journal of World History, Paris.

५. J.M.S. Baljon, The Reforms and Religious Ideas of Sir Sayyad-Ahmad Khan, Leiden, 1949.

६. W.C. Smith, Islam in Modern History, P. 233-6.

७. Loc. Cit.

८. Maududi, Islamic Law and Constitution, Pakistan Herold Press, Karachi, 1955.

९. Islam in the Modern World, edited by D. S, Franck Washington, 1951. Also Fazlur Rehman, OP. Cit.

१०. Kenneth Cragg in 'Islam and the West,' edited by R. N. Frye's Gravenhage, 1957.

११. Contemporary Indian Philosophy, 1952, P-357-8. यह पेपर Science, Democracy and Islam (P. 60-80) में भी है।

१२. वहीं देखिये, पृ. ३६१।

१३. वहीं देखिये, पृ. ३६७।

१४. वहीं देखिये, पृ. ३६३।

१५. वहीं देखिये, पृ. ३७१।

१६. वहीं देखिये, पृ. ३७५।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

१७. इस जगह इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि हिन्दू भी मुसलमान विचारकों द्वारा प्रस्तुत की हुई भाव सामग्री को ग्रहण करने में उदासीन रहने के बहुत दोषी हैं। बहुत ही कम हिन्दू दार्शनिकों ने इस्लामिक दर्शन को, कम से कम सहायक ग्रन्थों से ही, पढ़ा है। हिन्दू और मुसलमानों का एक दूसरे को समझना दर्शन के विकास में बहुत सहायक बनेगा और धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र–राज्यव्यवस्था को सुस्थिर बनाने के लिए आवश्यक होगा। यह तो लज्जा की बात है कि हिन्दुओं में अबतक अल–बेरूनी, अबुल फज़ल और दाराशिकोह के प्रतिरूप नहीं हैं। वह कितना गौरव का दिन होगा जब हिन्दू अरेबिक और पर्शियन् भाषाओं को समझ कर मूल अरुइसेना और अलघजाली पढ़ेंगे।

१८. Smith, वहीं देखिए, P. 258.

१९. Loc. Cit, P. 289.

२०. मैक्समूलर ने लिखा है कि सेन अपने को पहले ही ईसाई घोषित करना नहीं चाहता था कि कहीं भारत में बहुत से लोग उसके विरोधी न हो जांय और उसके उपदेशों को ग्रहण न करें।

२१. K. C. Sen, Lectures in India, London, 1901.

२२. इसके लिए देखिए, W. T, de Bary (Editor), Sources of Indian Tradition, Columbia, 1958, P. 732.

२३. Contemporary Indian Philosophy, (1952) P. 158–9.

२४. मैं ने ही यह विषय उसको १९५४ में रोम में सूचित किया। उसके थीसिस का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित हो चुका है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों, अनुवादकों तथा सम्पादक का परिचय

१. सम्पूर्णानन्दः डी. लिट्., जन्म १-१-१८९०। वैदिक साहित्य, भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के उत्कृष्ट विद्वान। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रमुख योद्धा। अनेक वर्षों तक उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री रहे। अब राजस्थान के राज्यपाल हैं। अनेक ग्रंथों के लेखक हैं।

२. नारायण शास्त्री द्राविड़ः एम. ए., न्यायाचार्य। प्रसिद्ध पंडित ब्राह्मण घराने में उत्पन्न हुए। अपने भाई पद्मभूषण पंडित राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ की देख-रेख में अध्ययन किया। १९४९ से दर्शन के अध्यापक हैं। १९५९ से नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर दर्शन विभाग के अध्यक्ष हैं। हिन्दी, मराठी तथा इंगलिश में अनेक लेखों तथा भारतीय ज्ञानशास्त्र पुस्तक के लेखक हैं।

३. ब्रजगोपाल तिवारीः एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्, एल. एल. बी.। अनेक वर्षों तक आगरा कालेज, आगरा में प्रोफेसर तथा दर्शन विभाग के अध्यक्ष रहे। अब जबलपुर विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर दर्शन विभाग में रीडर हैं। अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् तथा इंडियन फिलासफी कांग्रेस के अधिवेशनों में विभागाध्यक्ष पद को सुशोभित किया। हिन्दी में अनेक लेख तथा छः पुस्तकें लिखीं।

४. संगमलाल पांडेयः एम. ए.। जन्मः १२ जुलाई, १९२९। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग में सहायक प्रोफेसर। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के संस्थापक सहायक मंत्री। इस पद पर वे दिसम्बर १९५८ तक रहे। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के एक अधिवेशन में विभागाध्यक्ष भी हुए। हिन्दी तथा इंगलिश में अनेक दार्शनिक लेखों के लेखक। पुस्तकें—स्पिनोजा का दर्शन, गांधी का दर्शन, नीति शास्त्र का सर्वेक्षण।

५. राजेन्द्र प्रसाद, एम. ए. (पटना), पीएच. डी. (मिचिगन), राकफेलर फैलो। जन्म १९२६। पटना विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के सहायक प्रोफेसर। हिन्दी तथा इंगलिश में अनेक लेख लिखे हैं।

६. रमाकान्त त्रिपाठीः एम. ए., डी. लिट्., जन्म १९१८। इंडियन इंस्टीट्यूट आफ फिलासफी में रिसर्च फैलो तथा बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में गायकवाड फैलो रहे। कुछ वर्ष किशोरीरमण कालेज, मथुरा में अध्यापक रहे। १९४९ में हिन्दू विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग में अध्यापक नियुक्त हुए। अब वहां रीडर हैं। "स्पिनोज़ा इन दि लाइट आफ वेदान्त" पुस्तक लिखी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

७. जे. एस आर. एल. नारायण मूर्तिः वी. ए. (आनर्ज), जन्म ३३-७-१९२६। कुछ वर्ष मद्रास विश्वविद्यालय में रिसर्च स्कालर रहे। तैलगू विश्वकोष के सहायक संकर्ता। १९५९ से आंध्र विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक हैं। अब कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में सहायक अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए हैं। अनेक लेख लिखे हैं।

८ स. स. बार्लिंगेः एम. ए., पीएच. डी.; जन्म १९१९। आक्सफर्ड में राइल के साथ कार्य किया। १९५० से १९५६ तक पीपल्ज़ कालेज, नान्देड़, आर्ट्स एंड साइंस कालेज सिद्दिपेट तथा एस. आर. आर. कालेज, करीम नगर में प्रिंसिपल रहे। १९५६ में वैंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति में दर्शन विभाग में रीडर हुए। अब ज़ाग्राव विश्वविद्यालय (युगोस्लाविया) में इंडोलोजी के प्रोफेसर हैं। स्वतंत्रता संग्राम में भी भाग लिया।

९. आर. वी. आर. चन्द्रशेखर रावः एम. ए. बनारस, पीएच. डी (लंदन)। १९५५ से ५८ तक बनारस विश्वविद्यालय के लन्दन स्कूल आफ इकनोमिक्स में होल्कर फैलो रहे, १९३९ से आन्ध्र विश्वविद्यालय में राजनीति शास्त्र के अध्यापक हैं।

१०. कृष्ण मूर्तिः एम. ए. (बनारस), शास्त्री तथा विशारद। जन्म दिसम्बर १०, १९३३। आन्ध्र विश्वविद्यालय में दर्शन में रिसर्च स्कालर के रूप में आये। अब वहां दर्शन के अध्यापक हैं।

११. अजित सिन्हा, एम. ए. (पटना)। दर्शनाध्यापक, गया कालेज, गया।

१२. के. सच्चिदानन्द मूर्तिः एम.ए., पीएच. डी. २५-९-१९२४। आन्ध्र वि. वि. में दर्शन तथा धर्म के प्रोफेसर तथा दर्शन विभाग के अध्यक्ष। अनेक ग्रंथों के लेखक। कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं– रेवेलेशन एंड रीज़न इन अद्वैत वेदान्त (कोलम्बिया यूनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क तथा आन्ध्र यूनीवर्सिटी), स्टडीज़ इन दि प्राब्लम आफ पीस (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई), मैटाफिज़ीक्स, मैन एंड फ्रीडम (एशिया)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नामानुक्रमणिका

अकबर—xii, १५६, १६० ।
अज़ीज़—१६१ ।
अप्पसामी—१७५ ।
अभिनव गुप्त—xv.
अफघानी, जमालुद्दीन—१६५ ।
अफघानी, जलालुद्दीन—१६१ ।
अमीर अली—१६२, १७५ ।
अयूब, एस.एस.—१६० ।
अरकाट—xxv.
अरविन्द, योगी—xiv, xviii, xix xxxiii, xxxviii, २६, ३३, ६५, ८१-६६, १७३ ।
अरस्तु—xxxviii,११३ ।
अलघज़ाली—१५६ ।
अलेग्ज़ेंडर—xxv,xxxiii.
अशफक हुसैन—१६५ ।
आईंस्टीन—xxxii, ५२ ।
आगस्टिन—xx,xxix.
आज़ाद, मौलाना अबुलकलाम,—१६२, १६५ ।
आत्रेय, बी.एल.—xxviii, २१, २६, ४५ ।
आदिनारायण, एस. पि.—१७८ ।
आरोकिया स्वामी, रा.पि.—१७८ ।
आल्कॉट, कर्नल—६ ।
आल्वार—१७५ ।
आशीर्वादम्, येड्डी—१७४ ।
इकबाल, मुहम्मद—१६५ ।
इंगल्स—xxx.
इंगे, डब्लू. आर.—११६ ।
इन्द्र सेन—xxvi.
इब्नरोश्द—१५० ।
इब्नसीना—१५६ ।
इरासुज—xiv.
ईसा—१७१,१७२-१७८ ।
इस्माइल—१६१ ।
उपाध्याय, ब्रह्मवान्धव—१७५-१७७ ।
उमरुद्दीन—१६८ ।
उलूउलून, मौ. अलीवाह—१६० ।
उल्ला, शाहवली—१६०,१६१ ।
एडवर्ड—४६ ।
एडिंग्टन—xxxii.
एनीबीसेंट—३६ ।
एपीक्यूरस—xx,
एमर्सन—xvi.
एयर, ए.जे.—xxxiii,xxxvii.
एरेजिन—xxix.
एल्ज़य्यत, मुहम्मद हसन—१६७ ।
ऐयर, सर सी. पी. रामास्वामी—१८ ।
ओझा, मधुसूदन—१६ ।
औरंगज़ेब—१६१ ।
कबीर—(द्रष्टव्यः हुमायूं कबीर) ।
कबीर, महात्मा—४,६३.
कविराज, गोपीनाथ—१५ ।
कांट—xiv, xviii,xxiv,xxv,xxxviii, ४६,११७,१६०, १७१ ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कार्लाइल—xxiv.
काश्यप, जगदीश—xxxiv.
किंगहाल—१४३ ।
कियर्केगार्ट—xvi.
कुन्हन राजा xiv,xxiii.
कुवरलांड—xxii.
कुप्पुस्वामी शास्त्री—xxvii.
कुमारप्पा, भारतन्—१७८.
केयर्ड, जान—xxiv, xxxvi, ४६ ।
कैननूस्ट्रीटर—१७४ ।
कोल्रिज—xxiv.
कोंजर, ज्योर्ज पी.—११६ ।
कौसल्यायन, भ. आ.—xxxiv.
कृष्णमूर्ति, जड्डू—३८, ४२ ।
क्रोचे—४६ ।
क्वाज़ियर, फ्रांसिस—१७१ ।
खैरावादी, अब्दुल हक—१६० ।
खैरावादी, फजल हक—१६० ।
खैरावादी, फज़ुल इमाम्—१६० ।
ख्रुश्चेव—१५३ ।
गफवी, काज़ी मुवारक—१६० ।
गान्धी, महात्मा—xvi-xix,
१०१-१४,११७,१४१,१४२,१४३,१४६,
१५०,१५१,१६७ ।
गिल्सन—१७१ ।
गुप्त, नलिनी कान्त—xxxvi.
गुप्त, सु. दा.—xxvi, xxxii, १६, २६,
४३-४५,५२-५५,१६० ।
गुप्त, श्रीमती सु. दा.—xxxiii.
गैरीबाल्डी—१३६ ।
गोखले, गोपाल कृष्ण—xxiv,१४०,१४५ ।
गोविन्द दास—१७६ ।
गोरख नाथ—४ ।
गोलवलकर—१८ ।
गौडपाद—xxv.
ग्रीन— vxv,४६ ।
घजाली—xvii.
चटर्जी, एस. सी.—xxx.
चटर्जी, जी. सी.—xxvi,६६-७१,१७८ ।
चटर्जी, वंकिम चंद्र—xvi.
चावन—xxxvi.
चिराग अली, सैयद—१६१ ।
चेट्टियार, चक्कराय—१७८ ।
चेंचैया, पि.—१७४.
चौधरी, एच.—८१,६३ ।
चौधरी, प्रवास जीवन—७४-७५ ।
छव, जे.एन.—xxxvi, २४ ।
जनक—xxvii.
जयतीर्थ—१५ ।
जयन्त—xv.
जास्पर्स—xvi.
जहांगीर -१६० ।
ज़ाकर हुसैन—१६७ ।
जेफरसन—xxiv.
जेम्ज़, विल्लियम—xxxviii.
जेरेमी, वेंथाम—xxiii.
जेंटली—४६ ।
जोकहिम—४६ ।
जोड, सी. ई. एम.—११६ ।
जौनपुरी, मुल्ला मुहम्मद—१६० ।
ज्ञान प्रगाशम्, फादर—१७८ ।
ज्ञानानन्द—xxxi,xxxii.
ज्ञानेश्वर—११० ।
झा, गंगानाथ—xxviii, १५ ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नामानुक्रमणिका

झा, एच. एम.—xxxiii.
टाटिया, सुखलाल – xxxiii.
टैगोर, रवीन्द्रनाथ—xiv, xviii, xxvi, ३४,३५,६५,६७,११५,११७,१७५।
ड्यूई—xxxviii.
ताताचार्य, डी. टी.—xxxiii.
तिलक, नारायण वामन—१७६।
तिलक, बालगंगाधर—१७, १३६, १४१, १४२, १४३।
तुकाराम—२।
तुलसी दास—२, ४।
थापर, आर.—७६।
थामस रीड—xxii.
थोमस, सेंट—xvii,xxix, १७२।
थोमस—१७१।
दत्त, धी. मो. xxvi,४६, ५७-५६।
दया कृष्ण—७५-७६, ७६।
दयानन्द—xiv, xvii, xxxviii, ३३, १५६-६०.
दाराशिकोह—xii
दास गुप्ता— द्रष्टव्यः गुप्त, सु. दा.।
दास, रासबिहारी—xxvi,xxvii,xxix.
दिवाकर, आर. आर.—८१,८२।
दीदिरो—xvii,xx.
देकार्त—xvii,xxxviii,१७१।
देवराज, नं. कि.—xxxiii.
देवानन्दन, पि. डि.—१७८।
देवेन्द्रनाथ, महर्षि—३२-३४।
देशपांडे, डी. वाई.—७६।
द्राविड़, रा. शा.—१४।
द्राविड़, लक्ष्मणशास्त्री—१४.
नरसीदास—१०३।
नरेन्द्रदेव, आचार्य—१४६, १४८।
नागार्जुन—xxv, xxxviii.
नाज़ीर—१६२।
नादवी, अब्दुस्सलाम—१६०।
नानक—२, १७४.
नारायण, जयप्रकाश—१४६,१४८,१५१।
निकम, एन.ए.—७६।
निजामुद्दीन, मुल्ला—१६०।
नियाज़, शेख—७।
नेहरू, ज. ला.—१४१, १४४, १४६, १४७, १४८।
नौरोजी, दादाभाई—१३६।
पाटर,कार्ल—xxx.
पारीख—xxxvi.
पाल, सेंट—१७३।
पुरुषोत्तम, टी.ए.—xxviii.
पेट्रार्क—xiv.
पेरी—५७।
पेर्स—xxxviii.
प्रसाद, रा.—७६।
प्लांक, माक्स—xxxii,
प्लेटो—xxxviii, ४६,११७,१७०।
प्लोटेनस—xx, xxvi, ११७।
फणिक्कर—१७८।
बटलर—xvi.
बनर्जी, का. कृ.—२४, २६।
बनर्जी, एन. वि.—xxviii,७१–७२।
बनर्जी, सु. ना. १३६।
बर्कले—५५।
बाल्वोत्स्की, मादाम—६।
बेकन—xiv.
बेंथाम—xvii.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वेर्गसोन् (बर्गसन्)—xv,xxx, ८३, ८५, ११७, १६५।
वेहारी, गुलाम याहया—१६०।
वेहारी, मुल्ला मुहीब—१६०।
वोवाज, जि. डि.—१७८।
वोस, सुभाष चन्द्र—१३६।
बोसांके—xxv,xxxvii, ४६।
बुद्ध, महात्मा—xvii,३८,६३,११०,१२० १७५।
ब्राडले—xxv, xxxvii, xxxviii, ४६, ११७।
ब्राल, डी.—xxxii.
भगवानदास—xxviii,२७-३२।
भट्टाचार्य, कालीदास—xxviii,२२, २६, ६१-६४।
भट्टाचार्य, कृ. चं.—xxvii,xxxvi, xxxviii,१६,२६,४३,४७,६०-६५।
भट्टाचार्य, गो. ना.—६१-६३।
भट्टाचार्य, चं.—७६।
भट्टाचार्य, रा. स.—१५।
भट्टाचार्य, वामाचरण—१५।
भट्टाचार्य, हरिदास—xxix.
मधुसूदन सरस्वती—xv,१७५।
मल्लिक,बसन्त कुमार—xxx,xxxi,xxxviii
मसीह, या.—१७६।
महता, अशोक—१४७।
महादेवन्, टी.एम.पी.—xxviii,२३,२६।
माणिक्यम्—१७२।
माध्व—xxx,xxxvi,३३।
मालकानी, जे. आर.—xxviii,२४, २६, ७६।
मालवीय, मदन मोहन—xxviii,१४०।
मिल, जान स्टुअर्ट—xxiii,xxiv.
मिल, जेम्ज़—xxiii.
मिश्र, उमेश—१५।
मिश्र, जी.—xxxiii.
मुकर्जी, अ. चं—xxviii,४६-४७,५५-५६।
मुकर्जी, आशुतोष—xxviii.
मुंशी, क. मा.—१८।
मूर—xxxiii,xxxv,xxxviii,५२,१६७।
मूर्ति, के. सच्चिदानन्द—२५-२६, ७२-७३, ७६, १४२-४३।
मूर्ति, टी.आर.वी.—xxvi, xxviii, २३, २६,४५।
मैकाले—१४६।
मैक्टैगर्ट—xxvi,xxxiii,४६,४६।
मैक्समूलर—१७२।
मैजिनी—१३६।
मैत्र, एस.के.—४८।
मोर्गन, लायड—xxv,xxxiii.
मोजेज़—१५१।
मोती लाल—१६।
मोहन्ती, जे. एन.—xxxxi.
मोहम्मद—१७५।
मोहिसुनुल्मुल्क, सैयद—१६२।
मौदुड़ी, सैयद अबुल अली—१६५-६६।
मौर्ले, जान—१४०।
म्योर्हैड—xxv,xxvii,xxviii, ४७, ७६, १२५, १६६।
रंग रामानुज—xxxiii.
रमण, महर्षि—३८.
रसेल,बर्ट्रांड—xx,xxiv,xxxv,xxxviii, १६७.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नामानुक्रमणिका

रस्किन—१०५ ।
राइल, जी.—xxxvii.
राजराजेश्वर—१४ ।
राजगोपालाचार्य, चक्रवर्ती १८।
राजू, पी.टी.—xxvi, xxviii, २३, २६, ४५,५०,५६,६०,६३ ।
राधाकृष्णन्, सर्वेपल्लि—xxii, xxv, xxviii,xxxiii,xxxviii,१७,१६,२२,२६ ४७, ६६, ७६, ११५–१३५, १६६,१७३, १७५,१७६.
रानडे, रा.द.—xxviii. २६ ।
रानडे—१४५.
रामकृष्ण परमहंस—१०,१३८.
राम मोहन राय—xiii,xiv,xvii,xxii, xxiii.
रामानन्द—२.
रामानुज—xi,xii, xxxiii, xxxvi, ३६, १७५ ।
राय, अनिलवर्ण—xxxiv.
राय, एम.एन.—xviii,xx,xxiii,xxxvi, xxxviii,६७–६६,७६,१५३–५५ ।
रायसे—xvi,
राव, के. रामकृष्ण—xxxvi.
राव, राम चंद्र—१०८।
राहुल सांकृत्यायन—xxxiv,१६,१७,२२।
रूम, मौलाना—८।
लतीफ, सैयद अब्दुल—१६७।
लाक, जान—xxiv.
लाजपत राय—१३६ ।
लांस्डेल, डेम कैथलीन—१४३ ।
लुक्रेपियस—xx.
लेनिन—१५३ ।
लेसिंग—xiv.
वरदाचारी, के.सी.—xxxiii.
वलिउद्दीन, मीर—१६८।
वलिउद्दीन, सैयद—१६८।
वल्लभाचार्य—२ ।
वाडिया,ए.आर.—xxvi, ४१ ।
वार्ड—xxvi,xxxiii.
वाल्तेयर—xvii.
वाशिंगटन—xxiv.
विटगेंस्टाइन—xxxv,xxxvii.
विज़डम—xxxvii.
विनोवा भावे—xxxii, १५१ ।
विवेकानन्द—xiv–xvi, xxiv, xxv, xxxviii,१३८,१७३,१७५ ।
विंची, लियोनार्ड—xviii.
व्यासतीर्थ—१५ ।
ह्वायटहैड—xx,xxv,xxix,xxxv,१७०.
शबर—xvii.
शंकर (शंकराचार्य)—xiv, xvi–xviii, xxi,xxv,xxxiii,xxxvi,xxxviii, ३, १७,३३,४५,४६,८५,८६,६२.
शरीफ, एम. एम.—१६६ ।
शर्मा, डी. एस.—xxvii.
शर्मा, सी. डी.—xxxiii.
शल्य, यशदेव—७६ ।
शहीद, मुल्ला कुतुबुद्दीन—१६० ।
शाफटेस्बरी—xxxiii.
शास्त्रियर,वेदनायगम्—१७६ ।
शास्त्री, अ. कृ.—१४–१५ ।
शास्त्री, चित्रस्वामी—१४ ।
शास्त्री,पट्टाभिराम—१४ ।
शास्त्री,पी. एस.—२३,२६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शास्त्री, एस. एस. सूर्यनारायण—xxvii, xxviii.
शास्त्री, श्रीनिवास—xxiii,१२६ ।
शाह, वलीउल्ला—१६० ।
शिब्लीनुमानी—१६२ ।
शिल्प, पी.एस.—११६ ।
शिवाजी—१३८ ।
शैलेश्वरसेन—xxviii,xxix.
शोरय्या आरोक्य स्वामि—१७२ ।
श्टर्लिंग (ष्टर्लिंग)—xxiv.
श्रीनिवास चारी,पी.एन.—xxvii.
श्रीहर्ष—xxv.
श्लायरमाकर—xxiv.
सक्सेना, श्रीकृष्ण—xxxiii.
सम्पूर्णानन्द—xiv,xxxii,१७,१८.
सातवलेकर—१६ ।
साधुसिंह—द्रष्टव्यः सुन्दर सिंह
सावरकर—१६, १३६ ।
सायन—xiv,xvii.
सांकृत्यायन—द्रष्टव्यः राहुल सांकृत्यायन ।
सिद्दीकी, ज़ाकर अहमद—१६८ ।
सिन्दैलवी, हमदुल्ला—१६० ।
सिन्धी, उब्यूदुल्ला—१६२ ।
सिरहन्दी, शेख अहमद—१६० ।
सील, बृजेन्द्र नाथ—xxvi,xvvii, ४८-४६ ।
सुन्दर सिंह—१७४-१७५ ।
सुलेमान, सैयद—१६३ ।
सूरदास—२ ।
सेन, केशव चन्द्र—१७२-७४ ।
सैयद अहमद खां, सर—१६१-१६२ ।
सैयुद्दीन, के. जी.—१६८ ।
स्ख्वाइट्ज़र—xix,
स्तालिन—१५२ ।
स्पिनोज़ा—xxi,xxxiii,६१ ।
स्पीगल्वर्ग—८१,६८ ।
स्पेंसर, हर्बर्ट—xxiii,
स्वामी, आनन्द कुमार—xiv, xxvi, xxviii,xxix.
हाइड, लारेंस—११७ ।
हाकिंग—xvi.
हामिल्टन, विलियम्—xxii.
हार्टमैन, निकोलाई—xxvi.
हाली, खाजा अल्ताफ हुसैन—१६२ ।
हाल्दार,हीरालाल—xxvii,४६,४८-५० ।
हिरियएणा—१८ ।
हेगल—xiv,xviii,xx,xxi,xxiv, xxv, xxxiii,xxxviii, ४६,४८-५१,६१ ।
हेत्री स्टीफेन—xxii.
हेराक्लीटस—८२ ।
हेष्टी—xxii.
हुमायूं कबीर—xxvi,xxviii, १३३, १५६, १६८, १६६ ।
हैलर—१७४ ।
ह्यूम—xxii,xxxiii.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection